UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186462

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 491.436/054H Accession No. H 2662

Author उमेशपुरी

Title हिंदी अलंकार साहित्य 1956

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी-अलंकार-साहित्य

हिन्दी-अलंकार-साहित्य

लेखक
डाक्टर ओम्प्रकाश
अध्यक्ष, हिंदी-विभाग
हंसराज कालेज, दिल्ली

भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा, दिल्ली

एस. चन्द एंड कम्पनी
फव्वारा — दिल्ली
लाल बाग — लखनऊ
माई हीरा — जालन्धर

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
दिल्ली

प्राक्कथन

प्राक्कथन का मूल उद्देश्य है नव प्रकाशन का अभिनन्दन करना। उसके लिए ग्रंथकार के प्रति सद्भावना की जितनी आवश्यकता है, उतनी ग्रंथ के पर्यालोचन की नहीं। आज के व्यस्त जीवन में ग्रंथ का सम्यक् अध्ययन किए बिना भी प्राक्कथन लिखा जा सकता है, परन्तु विषय मेरा अपना था, अतः इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ने का लोभ मैं संवरण न कर सका, और मुझे निश्चय ही संतोष हुआ।

प्रस्तुत ग्रंथ डाक्टर ओम्प्रकाश का शोध-प्रबन्ध है जिस पर आगरा विश्वविद्यालय ने कुछ वर्ष पूर्व उन्हें पीएच. डी. की उपाधि प्रदान की थी : आज यह परिवर्तन-परिशोधन के पश्चात् आपके समक्ष प्रस्तुत है। ग्रंथ का उद्देश्य केशवदास से लेकर रामदहिनमिश्र तक हिन्दी के समृद्ध अलंकार-साहित्य का 'शृंखलाबद्ध पूर्ण अध्ययन' प्रस्तुत करना है। 'इसका दृष्टि-कोण विवेचनात्मक है, ऐतिहासिक नहीं। इसमें केवल एक अंग को विवेच्य बना कर गहराई तक जाने का प्रयास किया गया है, सर्वांगीण परिचय नहीं दिया गया।' —यह एक अंग है अलंकार और उसके आधार पर लेखक ने यह गवेषणा की है कि 'हिन्दी के माध्यम से आचार्यों ने अलंकार-विषय का जो प्रतिपादन किया है वह कहां तक सफल है उनकी रुचि तथा प्रतिभा का उस विवेचन पर कितना प्रभाव है और आचार्यत्व की दृष्टि से उनकी कृतियों का क्या मूल्य है।' यह विवेचन निश्चय ही संस्कृत अलंकार-शास्त्र से प्रभावित था, अतः आरम्भ में उसके विकास का संक्षिप्त इतिहास पृष्ठभूमि के रूप में दे दिया गया है। अनुसन्धाता ने अन्त में यही निर्णय किया है कि आलंकारिकों का वर्गीकरण न कर काल-क्रमानुसार उनकी धारणाओं का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत कर देना ही संगत है जैसा कि संस्कृत के आचार्यों ने किया है। अतः इस प्रबन्ध में वर्ग-विभाजन पर आश्रित प्रवृत्तिगत विश्लेषण न होकर कालक्रमागत परम्परित विवेचन-विश्लेषण ही प्रस्तुत किया गया है।

जैसा कि स्वयं लेखक का दावा है, हिन्दी अलंकार-साहित्य का यह प्रथम अंतरंग अध्ययन है। इससे पूर्व इस विषय पर केवल एक ग्रंथ था डा. भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास।' परन्तु उसके और इस प्रबन्ध के दृष्टिकोण विषय-क्षेत्र दोनों में भेद है : 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' में ऐतिहासिक शोध का प्राधान्य है जबकि इसमें सैद्धान्तिक विवेचन पर ही मूलतः ध्यान केन्द्रित है, इसके अतिरिक्त 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' में जहां समग्र काव्यशास्त्र का सर्वेक्षण है, वहां इसकी परिधि केवल अलंकारशास्त्र तक ही सीमित रही है। इसके द्वारा एक ओर जहां हिन्दी अलंकारशास्त्र की परम्परा का व्यवस्थित निरूपण होता है, वहां प्रमुख आलंकारिकों की तत्सम्बन्धी धारणाओं का सूक्ष्म तथा प्रामाणिक विश्लेषण भी।

यह आवश्यक नहीं कि लेखक की सभी स्थापनाएं हमें यथावत् मान्य ही हों—साहित्यालोचन में ऐकमत्य सम्भव भी नहीं है और कदाचित् अधिक स्तुत्य भी नहीं क्योंकि इस प्रकार तो मौलिक विकास का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायगा। फिर भी डा. ओम्प्रकाश के

विवेचन में दो गुण सर्वथा स्पष्ट हैं जो अनायास ही अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं : (१) अपने ढंग से सोचने की प्रवृत्ति (२) आत्मविश्वास के साथ उसका प्रकाशन। विचारक के लिए ये गुण अभिनन्दनीय हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने प्रचलित वर्गों को अस्वीकार करते हुए रीतिकाल के आलंकारिकों का केवल परम्परित रूप में ही विवेचन किया है। यद्यपि हम स्वयं वर्गीकरण को असम्भव नहीं मानते, फिर भी वास्तव में उसका आधार अधिक पुष्ट नहीं है और यदि कोई साहसपूर्वक उसका त्याग कर स्वतंत्र विवेचन करता है, तो कम से कम उसके दृष्टिकोण को समझना कठिन नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार उन्होंने पं रामदहिन मिश्र द्वारा प्रस्तुत संस्कृत अलंकारों के अंग्रेजी नामों का अत्यन्त प्रबल शब्दों में तिरस्कार किया है : 'हमारा व्यक्तिगत विचार है कि अंग्रेजी पर्याय भारतीय पाठक के लिए विषय-बोध में सहायक नहीं होते, प्रत्युत उसको भुलावे में डाल सकते हैं–– प्रत्यनीक का राइवलरी, परिसंख्या का स्पेशल मेंशन, एकावली का नैकलेस, व्याघात का फ्रस्ट्रेशन, तथा समासोक्ति का स्पीच आफ ब्रीविटी पर्याय हास्यास्पद ही हैं।' यह ठीक ही है, भला इन सर्वथा निरर्थक पर्यायों की सूची से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है!

प्राक्कथन-लेखक का कार्य आलोचना नहीं है, अभिनन्दन ही है। वैसे भी प्रबंध-लेखक मेरे सहयोगी हैं और आयु में छोटे होने के कारण मेरे स्नेह-भाजन हैं। अतः मुझे आलोचना का नहीं, परामर्श देने का ही अधिकार है––और वह यह है कि यद्यपि मौलिकता चिंतना का सर्वाधिक स्पृहणीय गुण है, फिर भी विद्या के साधक को अन्य लोभों की भांति मौलिकता के लोभ को भी संयत करने का प्रयत्न करना चाहिए : उसे यह कभी न भूलना चाहिए कि मौलिकता की सिद्धि परम्परा की श्रद्धापूर्ण स्वीकृति के द्वारा ही सम्भव है।

अन्त में मैं अपने आरम्भिक कथन को एक बार फिर दुहराता हूं कि इस ग्रंथ को पढ़कर मुझे निश्चय ही संतोष हुआ है। अब तक हमारे यहां जो अलंकार-विवेचन मिलता है वह सर्वथा संस्कृत का ही उपजीवी है। यह स्थिति वास्तव में चिरकाम्य नहीं हो सकती। प्रत्येक समर्थ साहित्य के लिए अपने अलंकारशास्त्र का निर्माण करना अनिवार्य है और हिन्दी को भी इस दिशा में अग्रसर होना है। मुझे आशा है कि हिन्दी अलंकार-साहित्य का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करने वाले इस प्रकार के शोध-प्रबन्ध निश्चय ही अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में साधक होंगे। मैं अपनी शुभाशंसा के साथ इस ग्रन्थ को हिन्दी जगत् के समक्ष प्रस्तुत करता हूं।

शिवरात्रि––
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

नगेन्द्र
हिन्दी विभाग
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष

अपनी ओर से

सन् १९४७ में मैंने 'थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ अलंकारस् इन हिन्दी' विषय पर रिसर्च का कार्य प्रारम्भ किया, जो सन् १९५० में पूरा हुआ। थीसिस के दो भाग थे ; एक में हिन्दी के आचार्यों का अध्ययन था, और दूसरे में हिन्दी-साहित्य की आलंकारिक प्रवृत्तियों का। मेरे कुछ मित्रों ने मुझको सलाह दी कि मैं इसी विषय का अध्ययन आगे बढ़ाकर डी लिट. के लिए प्रबन्ध प्रस्तुत करू ; परन्तु यह बात मुझको पसन्द न आई, क्योंकि मेरा मन अलंकारों के अति निकट आकर उनमें नीरसता का अनुभव करने लगा था। ऐसा भी लगा कि अलंकार अब पुरानी चीज बन गये हैं ; आज का साहित्यिक न कविता-कामिनी को अलंकार पहिना सकता है और न उसके अलंकृत रूप पर रीझ सकता है--जीवन की गुत्थियों में उलझा हुआ बेचारा। अतः कई वर्ष तक अलंकार का पठन-पाठन बन्द रहा, और थीसिस को प्रकाशित कराने की भी आवश्यकता मैंने न समझी। परन्तु इधर कुछ दिनों से संस्कृत-साहित्य के महत्त्व का बड़ा प्रचार हो रहा है, और साहित्यिक लोग भारतीय काव्यशास्त्र को फिर से पढ़ने लगे हैं ; अनेक विद्वानों का मत है कि हमारी भित्ति संस्कृत के दृढ़ आधार के बिना निष्कम्प नहीं रह सकती ; कई पत्रपत्रिकाओं ने भारतीय काव्यशास्त्र का फिर से महत्त्व समझा है और मुझसे भी उक्त विषय पर लेख मांगे हैं। कुछ ऐसा दीखता है कि देश में फिर एक बार उस गम्भीर एवं विशाल ज्ञान का प्रसार होगा जो संस्कृत-भाषा में अद्यावधि सुरक्षित है। अस्तु, उत्साहित होकर मैं अपने थीसिस को अधिकारी विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं।

मूल थीसिस का हिन्दी में नाम था 'हिन्दी साहित्य में अलंकार'; और उसका एक भाग 'अलंकार के हिन्दी-आचार्य' तथा दूसरा भाग 'हिन्दी-साहित्य की आलंकारिक प्रवृत्तियां' कहलाता था। परन्तु प्रकाशित करते हुए मैंने प्रथम भाग का नाम 'हिन्दी-अलंकार-साहित्य' रख दिया है, इस भाग में केवल अलंकार विषय को दृष्टि में रखकर संस्कृत की प्राचीन परम्परा से प्रारम्भ करके हिन्दी की नवीनतम गति-विधि तक प्रमुख आचार्य तथा उनकी कृतियों का अध्ययन है ; दूसरे भाग का नाम 'हिन्दी-काव्य तथा उसका सौन्दर्य' है, और उसमें मुख्य-मुख्य कवियों के अप्रस्तुत व्यक्तित्व का अध्ययन किया गया है।

लगभग ५ वर्ष की इस अवधि में मेरे विचारों में विकास भी हुआ है तथा मेरी लेखन-शैली भी सुधरी है। फलतः प्रस्तुत पुस्तक उसी रूप में पाठकों के सामने नहीं आ रही, जिस रूप में यह डाक्टरेट के लिए स्वीकृत हुई थी; फिर भी मैं इस वर्तमान रूप को ही अधिक उपयुक्त समझता हूं। सामान्यतः मैंने इसको अधिक सम्पन्न, अधिक उपयोगी तथा अधिक व्यावहारिक बनाने की कोशिश की है ; प्रकाशित रूप थीसिस की अपेक्षा पुस्तक के अधिक निकट है। परन्तु मूल थीसिस की कोई भी लाभदायक विशेषता यहां छटने नहीं पाई है।

थीसिसी जगत् में इस विषय पर सदा मतभेद रहेगा कि थीसिस का उद्देश्य अध्ययन है या विवेचन, परन्तु मैं इन दोनों को परस्पर-निश्छिन्न नहीं मानता; यदि लेखक केवल विश्लेषण करता रहा तो पाठक को कहां ले पहुंचेगा; और यदि विवेचन में ही लग गया तो सत्य का अन्वेषण किस प्रकार संभव है। अस्तु, शोधकर्त्ता को उचित है कि वह प्रस्तुत विषय का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके उसके सहज निष्कर्षों तक पाठक को पहुंचा दे। प्रस्तुत पुस्तक में इसीलिए मैंने अपना अध्ययन विश्लेषण से प्रारम्भ किया है और यथास्थान आचार्य या रचना का अभिमत पाठक को सुलभ बना दिया है। कुछ लोगों को थीसिस में पुस्तकों का जितना अधिक हवाला देना पसन्द है उतनी ही कंजूसी वे थीसिस को पुस्तकाकार छपाने में सहायक पुस्तकों के नाम देने की करते हैं; मैंने प्रत्येक पृष्ठ पर आवश्यकतानुसार फुटनोट देने में संकोच नही किया। जिन रचनाओ का इस पुस्तक में अध्ययन है उनमें से अनेक के काल-निर्णय में विद्वान् एकमत नही है; मैंने काल-निर्णय पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। प्रायः संस्कृत में डा. दे तथा हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा. भगीरथ मिश्र के निर्णयों को ही स्वीकार कर लिया है। इस पुस्तक के अलग-अलग खंडों पर 'अध्यायों' की मुहर नहीं लगी, केवल नव-प्रारम्भ से ही उनके संकेत मिल जाते हैं। अन्त में संस्कृत तथा हिन्दी के उन आचार्यों के अलंकार-विषयक विचारों का संग्रह है, जिन आचार्यों का यहां अध्ययन है। मैंने सर्वत्र (अध्ययन, विचार-संग्रह, पुस्तक-सूची) में काल-क्रम को ही मुख्य कसौटी मानकर उसको अपना लिया है। अपनी अन्य पुस्तकों के समान इस में भी मैंने केवल नागरी लिपि का ही प्रयोग किया है और अंग्रेजी आदि भाषाओं के उद्धरण भी नागरी में ही लिखे हैं।

ऋग्वेद से काव्य-दर्पण तक की रचनाओं के सामान्यतः, माध्यम के आधार पर, दो वर्ग हैं--संस्कृत-कृतियां, तथा हिन्दी-पुस्तकें। संस्कृत-कृतियों का अध्ययन मेरा विषय नहीं था, परन्तु हिन्दी की पृष्ठभूमि के लिए वह अनिवार्य है, अतः मैंने आदि में उन्हीं का अध्ययन किया है--इस अध्ययन मे मौलिकता कम है फिर भी आशा है कि भामह, उद्भट, रुय्यक तथा जयदेव आदि के विषय में कुछ बाते संस्कृतज्ञ विद्वानों को पसन्द आवेगी। हिन्दी के प्रवाह से पूर्व कुछ समस्याओं पर पुनर्विचार आवश्यक-सा प्रतीत हुआ, अतः उसका समावेश कर दिया है। हिन्दी-प्रवाह भी, माध्यम के आधार पर, दो वर्गों में रखा जा सकता है--पद्ययुग तथा गद्ययुग; मैंने पद्ययुग को 'मध्ययुग' नाम से पुकारा है। मध्ययुग के 'अलंकृतियों' की कोई इति नहीं; इसलिए उनका सम्पूर्ण अध्ययन संभव नहीं; इस पुस्तक में केवल २४ आचार्यों की २५ रचनाओं का ही अध्ययन है। गद्ययुग तो निर्माण का युग है, इसमे पुस्तक-संख्या में तो अतिवृद्धि हुई ही उनकी सुरक्षा भी तत्परता से हो सकी; परन्तु मैं उस अपार सागर में से केवल ७ मूर्धन्य आचार्यों को ही ग्रहण कर सका हूं। इस प्रकार ३१ अलंकारज्ञों का यह अध्ययन केवल एक प्रारम्भ है, अन्त नहीं। पुस्तक पढ़ने पर ऐसा लगेगा कि कुछ लोगों के साथ पक्षपात हुआ है और कुछ की अवहेलना हो गई है, परन्तु वस्तुस्थिति भिन्न है; अलंकार की दृष्टि से जिस कवि का जितना अध्ययन यहां अपेक्षित है उतना ही उसको रोका गया है--कुछ कवि चलते हुए ही नजर आते हैं तो कुछ जमकर हमको सोचने के लिए बाध्य करते हैं। इतनी बात अवश्य है कि अपेक्षाकृत पीछे

आने वाला कवि उतनी ही देर ठहरेगा जितनी उसमें पूर्ववर्तियों से विशेषता है, अग्रजन्मा को अग्रत्व का महत्त्व तो मिल ही जाता है।

आगरा कालेज, आगरा में हिन्दी-संस्कृत विभाग के अध्यक्ष प्रो. जगन्नाथ तिवारी, एम. ए., शास्त्री के निकट मैंने हिन्दी तथा संस्कृत का अध्ययन किया तथा उन्हीं के निर्देशन में पी. एच. डी. का थीसिस भी लिखा; उनके आशीर्वाद का मैं चिर आभारी हूं। दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डा. नगेन्द्र एम. ए, डी. लिट. ने स्नेहपूर्वक इस पुस्तक की भूमिका लिखना स्वीकार किया, मैं उनको हृदय से धन्यवाद देता हूं। अग्रज डा. जयदेव, एम. ए., पीएच. डी., तथा स्नेही श्री रामदत्त शर्मा, एम. ए. से मुझको थीसिस लिखते समय अनेक प्रकार की सहायता मिली थी, उनका स्नेह मेरी अमूल्य निधि है।

हंसराज कालेज होस्टिल,
दिल्ली–८

ओम्प्रकाश
२९।२।५६

विषय-सूची

संस्कृत-अलंकार-साहित्य १–४६

उपक्रम १; भरत से पूर्व ४; भरत ६; भामह ८; दण्डी १२; उद्भट १५; वामन १८; रुद्रट २१; आनन्दवर्धन २३; अग्निपुराणकार २५; कुन्तक २६; महिमभट्ट २७, भोजराज २८; क्षेमेन्द्र ३०; मम्मट ३१; रुय्यक ३३; वाग्भटद्वय ३५; हेमचन्द्र ३६; जयदेव ३७; विद्याधर ३८; विश्वनाथ ४०; केशवमिश्र ४१; अप्पय्यदीक्षित ४२; जगन्नाथ ४३; पर्यालोचन ४५;

हिन्दी-अलकार-साहित्य ४७–५९

परिचय ४८; वर्गीकरण ५१; अध्ययन ५६; प्रस्तुत प्रयत्न ५८;

मध्ययुगीन अलंकार-साहित्य ६०–२०४

केशवदास ६१; जसवन्तसिंह ७८; मतिराम ९०; भूषण १००; कुलपति मिश्र १०९; देवकवि (भावविलास) १२१; देवकवि (काव्यरसायन) १२८; श्रीधरकवि १३९; रसिक सुमति १४०; रघुनाथ १४२; गोविंदकवि १४४; दूलह १४५; दासकवि १५६; रसरूप १७६; ऋषिनाथ १७८; रामसिंह १७९; सेवादास १८१; पद्माकर १८२; ब्रह्मदत्त १९१; काशिराज १९२; गिरिधरदास १९३; लेखराज १९५; लछिराम १९६; गुलाबसिंह २०१; गंगाधर २०३;

गद्ययुगीन अलकार-साहित्य २०५–२४९

मुरारिदान २०७; भानुकवि २१६; भगवानदीन २२२; अर्जुनदास केडिया २२८; बिहारीलाल भट्ट २३४; कन्हैयालाल पोद्दार २३८; रामदहिन मिश्र २४३;

उपसंहार २५०–२५२

परिशिष्ट २५३–२६३

संस्कृत-आचार्यों के अलंकार-विषयक विचार २५४; हिन्दी-आचार्यों के अलंकार-विषयक विचार २६०;

सहायक ग्रन्थों की सूची २६४–२६७

संस्कृत-ग्रन्थ २६४; हिन्दी-ग्रन्थ २६५; अंग्रेजी-ग्रन्थ २६६; अन्य ग्रन्थ २६७

संस्कृत-अलंकार-साहित्य

उपक्रम

वाङमय के दो अगो, शास्त्र तथा काव्य,[1] मे से काव्यके शास्त्रीय अध्ययन ने 'काव्यशास्त्र' नामक विद्या को जन्म दिया। इस विद्या या शास्त्र का प्राचीनतम अभिधान[2] 'अलकार-शास्त्र' है, 'सौदर्य-शास्त्र', 'साहित्य-शास्त्र', 'काव्य-शास्त्र', 'साहित्य-विद्या'[3], 'क्रियाकल्प' आदि इसी के तुल्यार्थक है। वैज्ञानिक अध्येताओ ने काव्य के प्रथम-लक्षित प्रभावक धर्म को 'अलकार' सज्ञा दी, क्योकि इस धर्म का फल काव्य का अलकरण या सजावट थी। तदनन्तर विकास के फलस्वरूप प्रभावक धर्म के दूसरे रूप भी आचार्यो ने देखे, परन्तु दीर्घकाल-पर्यन्त वे उन सब धर्मो का वर्णन 'अलंकार' नाम से ही करते रहे। परिवर्त्तन आया और 'अलंकार' का क्षेत्र संकीर्ण बन गया। 'अलकार' के क्षेत्र की ये तीन स्थितियाँ ह; आदिम स्थिति मे अध्येताओ को काव्य के प्रभावक धर्म का केवल एक ही रूप ज्ञात था, जिसको वे 'अलकार' कहते थे, विकसित स्थिति मे 'अलंकार' शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ और सौदर्य-मात्र का नाम 'अलकार' पड गया, प्रतिष्ठित स्थिति मे प्रभावक धर्म की दूसरी विधाओ को स्वतत्रता मिली और वे भी अलकार के साथ ही, प्राय अलकार मे कम महत्त्वपूर्ण बन कर नही, शास्त्रीय अध्ययन का प्रमुख विषय बन गई।

अलकार वाणी के विभूषण है; अभिव्यक्ति मे स्पष्टता,[4] भावों में प्रभावोत्पादन की शक्ति, भाषा मे सौदर्य तथा श्रोताओ का मनोविनोद आदि इनके फल है। इनमे से प्रथम दो, स्पष्टता तथा प्रभावोत्पादन, के हेतु वाणी अनायासैव अलकार धारण कर लेती है। फलत अलकार की छटा अविकसित भाषाओ तथा असभ्य या अर्द्धसभ्य[5] जातियो मे भी दृष्टिगोचर होती है। (सभ्य जातियो मे भी) अलकार-शास्त्र की शास्त्र-रूप मे स्वीकृति कालान्तर मे ही हो पाती है। भारतीय वाङमय के अध्ययन से भी हम इन्ही निष्कर्षों पर पहुँचते है। ऋग्वेद मे उपमा, रूपक तथा यमक का अविरल प्रयोग है, जिससे स्पष्टता तथा प्रभावोत्पादन, दोनो गुणो का संपादन होता है :—

(क) अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रव नि रिणीते अप्सः॥

(१, १८, १२४, ७)

---

(१) इह हि वाङमयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। (काव्यमीमांसा)।
(२) भारतीय-साहित्य-शास्त्र, प्रथम खंड, पृष्ठ ५।
(३) 'पंचमी साहित्यविद्या' इति यायावरीयः। (काव्यमीमांसा)।
(४) डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिट्रेचर ; फिगर ऑफ स्पीच।
(५) रिमार्क्स ऑन सिमिलीज इन संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ११।

(ख) संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।
वाचं पर्जन्यजिन्वतां प्र मण्डूका अवादिषुः। (७, ६, १०३, १)

(ग) ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥
(९, ५, ९६, ६)

(घ) सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥
(१०, ९, १०६, ६)

ऋग्वेद मे उपमा आदि अलकारो का प्रचुर प्रयोग तथा 'उपमा'[1] एव 'अरङ्कृताः'[2] (अलकृता) शब्दो के व्यवहार से यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि वैदिक युग में अलकार का प्रकल्प विकसित हो गया था। वेदागो मे भी अलकार का विवेचन तो है, परन्तु अलकार-शास्त्र की स्वतत्र या उपजीवी शास्त्र के रूप मे स्वीकृति नही मिलती, कालान्तर मे राजशेखर ने ही अलकार को वेद का एक अतिरिक्त[3] (सप्तम) अग बतलाया। षड्[4] वेदागो मे से व्याकरण तथा निरुक्त अलकार शास्त्र के सहवर्गी है। व्याकरण और अलकार-शास्त्र का साहचर्य परम्परा[5] से भी विख्यात है,व्याकरण का उद्देश्य शब्दो का शुद्ध प्रयोग है तो अलकार-शास्त्र उचित शब्दो के प्रयोग द्वारा सौदर्य सपादन करता है; अलकार-शास्त्र के अन्तर्गत शब्द-शक्ति एक स्वतत्र तथा महत्त्वपूर्ण विषय है, उपमा आदि के स्वीकृत वर्गीकरण का आधार व्याकरण-शास्त्र ही तो है। विकसित अवस्था मे तो अलकार-शास्त्र अवश्यमेव व्याकरण के साहचर्य से लाभान्वित होता रहा परन्तु प्रारम्भिक अवस्था मे उसके बीज निरुक्त मे ही छिपे थे। निघण्टु मे उपमावाचक १२ शब्दो का उल्लेख है.—

(१) त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिव॥
(१, ७, ३१, १५)
सहस्रसामाग्निवेंश गृणीषे शत्रिमग्न उपमां केतुमर्यः।
तस्म आपः संयतः पीपयन्त तस्मिन् क्षत्रममवत्त्वेषमस्तु॥
(५, ३, ३४, ९)

(२) वायवा याहि दर्शते मे सोमा अरङ्कृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम् (१,१,२,१)
वायवायाहि दर्शनीयेमे सोमा अरङ्कृता (अलंकृताः)....
यास्क निरुक्तम् (डा० लक्ष्मणसरूप), पृ० १७३
अरंकृताः अलंकृताः पर्याप्ताः पातुं संस्कृताः (पं० मुकुन्द झा, पृ० ४३२)
ईळते त्वामवस्यवः करावासो वृक्तबर्हिषः। हविष्मंतो अरङ्कृतः।
(१, ४, १४, ५)

(३) 'उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगम्' इति यायावरीयः। (काव्य मीमांसा)

(४) शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छंदोविचितिः, ज्योतिषं च षडङ्गानि।

(५) ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, क्लासिकल पीरियड, पृष्ठ ५१४।

इदमिव। इदं यथा। अग्निर्न ये। चतुश्चिद् ददमानात्। ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः। जार आ भगम्। मेघो भूतो३भियत्रयः। तद्रूपः। तद्वर्णः। तद्वत्। तथेत्युपमाः।।१३।। (तृतीयोऽध्यायः)।

यास्क ने 'अलकरिष्णुम्'[1] शब्द का प्रयोग लगभग उत्तरकालीन अर्थ मे ही किया है, 'उपमा' शब्द तो निरुक्त मे अनेकश· आया है। यास्क ने उपमा-विषय का विवेचन दो स्थलो पर किया है। निरुक्त के प्रथम अध्याय मे उपमा के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाले ४ निपातो का वर्णन [2] है; ये निपात इव, न, चित् तथा नु है (निघण्टु की सूची मे ये थे ही); 'इव' का प्रयोग 'भाषा' और वेद दोनो मे होता है, 'न' का प्रयोग 'भाषा' मे 'प्रतिषेधार्थीय' है और वेद मे दोनो प्रकार का —'प्रतिषेधार्थीय' 'न' का 'उपचार' (प्रयोग) जिसका प्रतिषेध होता है, उसके 'पुरस्तात्' (पहिले) होता है और 'उपमार्थीय' 'न' का 'उपरिष्टात्' (पीछे); 'चिद्' तथा 'नु' 'अनेककर्मा' है, इनका 'उपमार्थे' प्रयोग भी होता है।

निरुक्त के तृतीय अध्याय मे निघण्टु के १२ उपमावाचक शब्दो मे से १० के (एक प्रथम अध्याय चतुर्थ पाद, तथा अन्य नवम अध्याय षष्ठ पाद से देखा जा सकता है) सोदाहरण प्रयोग दिखलाते हुए 'उपमा' की व्याख्या और उसके भेदो का कथन है। गार्ग्य आचार्य के मत से भिन्न[3] वस्तु का उस (उपमान) से सादृश्य ही उपमा है; उपमा का कर्म है गुणवान् अथवा प्रख्याततम से गुणन्यून अथवा अप्रख्यात की तुलना, कभी-कभी न्यूनगुण से अधिक गुण (परन्तु प्रख्यात) की तुलना भी हो सकती है। उपमावाचक निपातो की रुचि के आधार पर यास्क ने उपमा (शाब्दी या पूर्णा) के ४ भेद किये है :—'कर्मोपमा' ('यथा' के प्रयोग से) 'भूतोपमा' '('भूत' के प्रयोग से), 'रूपोपमा' ('रूप' तथा 'वर्ण' के प्रयोग से) और 'सिद्धोपमा' ('वत्' के प्रयोग से)। जिन उपमाओ मे उपमावाचक निपातो का

(१) **तितनिषुं धर्मसन्तानादपेतमलंकरिष्णुमयज्वानम्। (६, १९)**
'अलंकार' के पर्यायवाची शब्दों का भी प्रयोग है :—
अग्निरिव ये [मरुतो भ्राजमाना रोचिष्णूरस्का] भ्राजस्वन्तो रुक्मवक्षसः (३,१५)
सायणस्तु—ये मरुतोऽग्निरिव भ्राजसा तेजसा युक्ताः किञ्च रुक्मवक्षसो रुक्मालंकृतवक्षस्का वातासो न.... (उपर्युक्त पर पं० मुकुन्द झा का फुटनोट, पृ० १३७)
तनूशुभ्रं तनूशोभयितारम् (६, १९)।

(२) **तेषामेते चत्वार उपमार्थे भवन्ति। इवेति भाषायां च। अन्वध्यायं च।..... नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम्। ....पुरस्ताद् उपचारस्य यत्प्रतिषेधति। उपरिष्टाद् उपचारस्य येनोपमिमीते। चिदित्येषोऽनेककर्मा। नु इत्येषोऽनेककर्मा। (१, ४)।**

(३) **यद् अतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म। ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमिमीते। अथापि कनीयसा ज्यायांसम्। (३, १४)**

प्रयोग[१] नही होता, उनको 'लुप्तोपमा' या 'अर्थोपमा' कहते है; इसके उदाहरण 'पुरुषसिंह', 'श्वाऽयम्' आदि है।

निरुक्त के प्रमाण से यह स्पष्ट है कि यास्क से पूर्व उपमा का विवेचन गार्ग्य आदि आचार्यो द्वारा हो चुका था, ओर वेद-मन्त्रो के अर्थ मे उपमा की व्याख्या की जाती थी। यास्क के उपमाभेद काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तो पर आश्रित न हो कर प्रयुक्त शब्दो का अनुगमन करते है, जैसा कि निरुक्तकार के विवेचन मे स्वाभाविक है, परन्तु गार्ग्य आचार्य का उपमा का लक्षण प्राचीन आचार्यो के लक्षणो से अधिक भिन्न नही है। निरुक्त मे 'उपमान',[२] 'निदर्शन'[३], 'आशी.'[४] आदि शब्दो का भी प्रयोग है।

भरत से पूर्व

यास्क और भरत के बीच मे 'अलकार' के कुछ शास्त्रीय शब्द वैयाकरणो द्वारा प्रयुक्त मिलते है, पाणिनि के सूत्रो[५], कात्यायन के वार्त्तिक, तथा पतंजलि[६] के भाष्य मे तुलना सूचक शब्दो पर विशेष ध्यान जाता है। पाणिनि के समय तक उपमा के चारो अग निर्दिष्ट हो चुके थे, कृत, तद्धित, समास आदि पर भी सादृश्य का प्रभाव पाणिनि की दृष्टि मे था। 'उपमान' की व्याख्या मे 'गौरिव गवय' का जो अनलकृत[७] उदाहरण पतजलि ने दिया उसी का खण्डन[८] आगे चलकर अलकार के आचार्यो ने किया। साराश यह कि अलकार का शास्त्रीय अध्ययन प्रारम्भ होने से पूर्व ही सादृश्य की भावना वेद तथा लोक दोनो मे प्रतिष्ठित थी, और आचार्य तत्सम्बन्धी शब्दो के व्यवहार मे भी एक मत थे। आलकारिको ने वैयाकरणो के प्रकल्प मे अत्याधान किया; सादृश्य के साथ सौन्दर्य की अयुतसिद्ध भावना का प्राप्तकाल अवतरण हो गया; आगे चलकर सौन्दर्य प्रमुख बन गया और सादृश्य उसका साधन-मात्र।

वैयाकरणो से सर्वाशत सहमत न होते हुए भी अलकार के आचार्य उनकी विद्वत्ता से प्रभावित थे, अलकारो की शास्त्रीय विवेचना करते समय आलकारिको की सादर

---

(१) **अथेदानीं येषु लुप्यंते उपमाशब्दा इवादयस्तान्यवसरप्राप्तानि लुप्तोपमानि व्याख्यास्यामः। तानि पुनरिमानि अर्थोपमानि इत्येवमाचक्षते.....। (दुर्गाचार्यः)। (पं० मुकुन्द झा, पृ० १४२)।**

(२) **अस्त्युपमानस्य संप्रत्यर्थे प्रयोगः। (७, ३१)।**

(३) **निदर्शनायोदाहरिष्यामः। (११, २)।**

(४) **इत्याशीः (१०, ४३)।**

(५) **दे० संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ६।**

(६) **दे० भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० १७।**

(७) **मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थम् उपादीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यत् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानं गौरिव गवय इति॥**

(८) **चमत्काराजनकं सादृश्यं नोपमालंकारः। यथा गौरिव गवयः। ('काव्यादर्श' की प्रभाख्या व्याख्या)।**

दृष्टि वैयाकरणो पर ही जमी (दे० सस्कृत पोइटिक्स, पृ० ८, तथा भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृ० १८); पुराने सभी सिद्धान्तो को ललकारने वाले आनन्दवर्धन ने व्याकरण को सब विद्याओ का मूल[1] माना और वैयाकरणो को सर्वश्रेष्ठ विद्वान् कहा। संस्कृत के प्राच्य विद्वानो मे आज भी व्याकरण का तथैव आदर है।

अस्तु 'अलकार-शास्त्र' से पूर्व 'अलकार' और 'अलकार' से पूर्वतर 'उपमा' (सादृश्य) का प्रकल्प वेद तथा भाषा दोनो मे प्रतिष्ठित हुआ था। किस अलकार का जन्म (आदि प्रयोग) तथा विवेचन किसके द्वारा हुआ—यह भी रोचक अध्ययन का विषय है। 'अलकार' का शास्त्रीय रूप मे प्रथम दर्शन भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' मे प्राप्य है, फिर भी भरत रस तथा नाट्य के समान अलकार के भी आदि आचार्य नही है; और भरत के युग मे 'अलकार' का शास्त्रीय अर्थ स्थापित हो चुका था या नही—यह विचारास्पद है।

'अलंकार' की दृष्टि से 'अलकार-शास्त्र' का, उपलब्ध सामग्री की छाया मे, विधिवत् प्रारम्भ भामह के 'काव्यालकार' से आरम्भ होता है। भामह से आनन्दवर्धन तक के काल मे 'अलकार' के अतिरिक्त 'गुण' तथा 'रीति' भी काव्य-सौदर्य के मुख्य रूप स्वीकार[2] किये गये; भामह, दण्डी तथा वामन के नाम क्रमश. 'अलकार', 'गुण', तथा 'रीति' के आदि आचार्यो के रूप मे स्वीकृत किये जाते है। फिर आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया, फलतः उपर्युक्त तीनो प्रकल्पो की गति स्तब्ध हो गई और इतर आचार्य ध्वनि के निरसन मे या उसके प्रख्यान मे लग गये; आनन्दवर्धन और मम्मट के बीच का युग एतादृश ही है, ध्वनि के निरसन मे वक्रोक्ति के प्रख्यात आचार्य कुन्तक का नाम स्मरणीय है। मम्मट से पण्डितराज जगन्नाथ तक 'रस' तथा 'अलकार' दोनो का ही पारस्परिक विरोधपूर्वक शासन चलता रहा।

'अलकार' की दृष्टि से 'अलकार-शास्त्र' के सस्कृत आचार्यों का अध्ययन निम्नलिखित तालिका द्वारा सकेतित किया जा सकता है—

१. उपक्रम—अलंकार; ऋग्वेद में; निरुक्त में,

२. भरत से पूर्व—वैयाकरणों में

३. भरत—

४. भामह से आनन्दवर्धन तक—भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, अग्नि-पुराणकार।

५. आनन्दवर्धन से मम्मट तक—आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनवगप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोज।

६. मम्मट से जगन्नाथ तक—मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र, वाग्भट्ट द्वय, जयदेव, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, केशवमिश्र, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ।

---

(१) प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।
(ध्वन्यालोक, १, १३)।

(२) सम एसपेक्ट्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत; पृ० १८।

भरत : नाट्यशास्त्र

'नाट्यशास्त्र' से काव्य-शास्त्र का निश्चिछन्न अध्ययन प्रारम्भ होता है, परन्तु उसके रचयिता भरत का काल अद्यावधि निर्विवाद रूप से निश्चित नही है। 'महामुनि' तथा 'ऋषि' विशेषणो के द्वारा कुछ विद्वान् भरत को पुरातनता के गर्भ मे छिपा देना चाहते है, दूसरी ओर ऐसे भी शोध-कर्त्ता है जो भरत नाम के व्यक्ति का अस्तित्व भी स्वीकार नही करते—'भरत' शब्द उनके मन मे जातिवाचक है व्यक्तिवाचक[1] नही। भवतु, हमारी काव्य-शास्त्रीय परम्परा मे भरत की प्रतिष्ठा सर्वमान्य है, उनका जन्म ईसा के आसपास[2] ही हुआ होगा और उनकी मान्य कृति अपने वर्तमान रूप मे अष्टम शती[3] से उत्तरकालीन नही सिद्ध की जा सकती।

नाट्यशास्त्र पर कम से कम ९ प्रख्यात आचार्यो ने टीका लिखी है, इन मे से उद्भट, लोल्लट, शकुक, भट्टनायक, तथा अभिनव गुप्त के नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। वर्तमान रूप मे नाट्यशास्त्र तीन शैलियो मे निबद्ध मिलता है जो इस रचना की विभिन्न विकास-मान अवस्थाओ की सूचक है, ये शैलिया है—(१) आर्या तथा अनुष्टुप छदो मे अनुबद्ध पद्य, (२) सूत्र-भाष्य, तथा (३) कारिका।

नाट्यशास्त्र मे ३७ अध्याय है, जिन मे 'नाट्य' की उत्पत्ति से लेकर प्रतिष्ठा तक का समस्त इतिहास भी है और तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण विधान भी सविस्तर समझाये गए है। फलत रगमच, अभिनय, वेष-भूषा के साथ-साथ रस-भाव, छदोविधान, अलंकार, ताल-वाद्य आदि की चर्चा भी प्रसगत. इस कृति मे सन्निविष्ट हो गई है।

नाट्यशास्त्र का षोडश अध्याय 'अलकार-लक्षण' है; यहा अलंकार शब्द सामान्य अर्थ मे प्रयुक्त है, शास्त्रीय मे नही, अत इस अध्याय मे सर्वप्रथम ३६ 'काव्य-विभूषण' है; फिर ४ अलकार, १० काव्य-दोष और १० काव्यार्थ गुणो के अनन्तर इनका प्रयोग समझाया गया है (पृ० २५४ से २६९ तक)। वस्तुत. इस अध्याय मे उन विशेषताओ की चर्चा है जिन से विभूषित काव्यबन्ध[4] विशेष आकर्षक बन सकते है। दोष के विपर्यय[5] को गुण कहते है, गुण और अलकार प्राचीन आचार्यो ने साथ-साथ रखे है, अत. अलंकार, दोष और गुण की सहचर्चा युग का प्रतिफलन मात्र है। परन्तु काव्य-विभूषण की इस अध्याय मे विवेचना अवश्य ही पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है। यदि काव्य-विभूषण भाग (प्रारम्भ के ४२ छद) प्रक्षिप्त नही है तो इससे अनुसूच्य दृष्टिकोण की अवहेलना उचित नही। यूनानी काव्यशास्त्र[6] के अनुसार अलकार उन विधाओ का नाम है जिन

---

(१) ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर पृ० २७-२८।
(२) सम एस्पैक्टस आफ लिटरेरी क्रिटीसिजम इन संस्कृत पृ० १४।
(३) हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स पृ० २७।
(४) तैर्भूषिता बहु विभान्ति हि काव्यबन्धाः ॥११२॥
(५) गुणा विपर्ययादेषाम्। ९६।
(६) रिटोरिक इज़ दैट फैकल्टी बाइ व्हिच वी अंडरस्टैंड व्हाट विल सर्व अवर टर्म, कनसर्निंग एनी सब्जेक्ट टु विन बिलीफ इन दि हिअरर। (पृ० ८०)
(अरिस्टोटलः पोइटिक्स)

के प्रयोग द्वारा श्रोताओ के मन मे वक्ता अपनी इच्छा के अनुकूल भावना जगा कर उनको अपना समर्थक बना सकता है। भरत के 'काव्य-विभूषण' भी वे युक्तिया है जिनका प्रयोग वक्ता को दूसरे के समक्ष अधिक सफल सिद्ध कर सकेगा। इन युक्तियो मे से अनेक के नाम हमारे अलकारो के नामो के समान ही है, यह तथ्य अलकारो के जन्म पर कुछ अधिक प्रकाश डाल सकता है, परन्तु अन्य नामो मे से कुछ के लक्षण (काव्य विभूषणो के उदाहरण नाट्यशास्त्र मे नही है) हमारे यूनानी काव्य-शास्त्र से तुलना के इस अनुमान की पुष्टि करेगे।

उदाहरण के लिए 'दाक्षिण्य', 'गर्हण', 'मनोरथ' तथा 'प्रियोक्ति' के लक्षण देखिये। हृष्टवदन, या अन्य समान चेष्टाओ द्वारा दूसरे का अनुवर्तन[1] 'दाक्षिण्य' है, दोष का सकीर्तन करते हुए गुण का अथवा गुण के सकीर्तन मे दोष का चतुर सकेत 'गर्हण'[2] है; हृदय मे छिपे हुए अर्थ को अन्य प्रकार से प्रकट करना मनोरथ[3] कहलाता है, प्रियोक्ति[4] उन हर्ष-प्रकाशक वचनो को कहते है जो पूज्य व्यक्ति के आदर हेतु प्रसन्न मन से कहे जायं।

षोडश अध्याय के ४५ श्लोको (४३ से ८७ तक) मे अलकार-विवेचन है; लक्षण भी है तथा उदाहरण भी। काव्य के ४ अलकार माने जाते है—उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक[5]। काव्यबन्धो मे सादृश्य द्वारा तुलना उपमा कहलाती है, इसका आधार है गुण या आकृति मे समानता[6]। उपमा ४ प्रकार से संभव है—एक की एक के साथ, एक की अनेक के साथ, अनेक की एक के साथ, अनेक की अनेक के साथ (४५ से ४९ तक)। पुनः उपमा के ५ प्रकार है—प्रशसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किंचित् सदृशी (५० से ५५ तक)। विद्वानो को उपमा के इतने भेद ही सक्षेप मे जानने चाहिए; जो शेष भेद हैं वे लक्षण-उदाहरण-पुरस्सर यहा नही बतलाये जा रहे, उनको काव्य तथा लोक से स्वयं

---

(१) हृष्टैः प्रसन्नवदनैर्यत् परस्यानुवर्तनम्।
क्रियते वान्यचेष्टाभि स्तद्दाक्षिण्यमिति स्मृतम् ।३०।

(२) यत्र संकीर्तयन् दोषं गुणमर्थेन दर्शयेत्।
गुणातिपाताद् दोषाद्वा गर्हणं नाम तद्भवेत् ॥३१॥

(३) हृदयार्थस्य वाक्यस्य गूढार्थस्य विभावकम्
अन्यापदेशैः कथनं मनोरथ इति स्मृतः ॥३६॥

(४) यत्प्रसन्नेन मनसा पूज्यं पूजयितुं वचः।
हर्षप्रकाशनार्थं तु सा प्रियोक्तिरुदाहृता ॥४१॥

(५) उपमा, दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।४३।

(६) यत् किंचित् काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥४४॥

ग्रहण करना चाहिए[1]। इस कथन से स्पष्ट है कि भरत को उपमा के और भी भेद ज्ञात थे, जिनको सामान्य समझकर उन्होंने शिष्यो के ऊपर ही छोड दिया, उनके लक्षण-उदाहरण की आवश्यकता न समझी।

रूपक के औपम्य का आधार रूप-निर्वर्णनायुक्त गुणाश्रय[2] है; इसमे किंचित् सादृश्य ही होता है अत: कल्पना से तुल्यता सम्पादित करनी पडती है[3]—रूपक मे आकृतिसाम्य नही होता, केवल गुणसाम्य होता है, फिर भी वर्णन ऐसा किया जाता है मानो विषय और विषयी एकरूप ही हो। 'नाटचशास्त्र' मे रूपक के भेद नही है।

विभिन्न अधिकरणो वाले अर्थ के द्योतक शब्दो का एक वाक्य के संयोग से कथन दीपक कहलाता है। इसके भेद नही दिये गये। उदाहरण से ज्ञात होता है कि भरत ने अप्रस्तुत-प्रस्तुत भाव स्वीकार नही किया, उनका दीपक एक क्रिया द्वारा भिन्नाधिकरण शब्दो का चमत्कारी सयोग मात्र ही है।

नाटचशास्त्र मे यमक का विस्तार है (६२ से ८७ तक); क्योकि आचार्य भरत शब्दाभ्यास[4] मात्र को यमक कहते थे। कसा हुआ लक्षण न देकर आचार्य ने लिखा है कि इसका विशेष दर्शन[5] जो मै लिख रहा हू उससे ग्रहण कीजिए। यमक के १० भेद है। यमक के वेष मे अनुप्रास (विशेषत: लाटानुप्रास) भी आ गया है (८३)।

भामह : काव्यालंकार (सन् ५००-६०० के बीच)

भरत और भामह के बीच मे काव्य-शास्त्र के अन्य आचार्य भी हुए होगे, जिनका संकेत 'काव्यालकार' मे पुन: पुन: प्रयुक्त 'अन्यै', 'कैश्चिद्', 'अपरे', 'केचित्' आदि पदो तथा 'रामशर्माच्युत', 'मेधाविन्', 'राजमित्र' आदि नामो से प्राप्त होता है—'मेधाविन्' की सूचना तो अन्य[6] साधनो से भी मिलती है। परन्तु 'काव्यालकार' से पूर्व इस विषय का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही होता; इससे उत्तर आचार्यो ने 'काव्यालंकार' या उसके पर्यायवाची[7] शब्दो से अपनी रचनाओ का नामकरण किया, और भामह-स्वीकृत अलकारो की

---

(१) उपमाया बुधैरेते भेदा ज्ञेया समासतः।
ये शेषा लक्षणेनोक्तास्ते ग्राह्याः काव्यलोकतः ॥५६॥

(२) नानाद्रव्यानुषङ्गाद् यै र्यद् औपम्यं गुणाश्रयम्।
रूपनिवर्णनायुक्तं तद् रूपकमिति स्मृतम् ॥५७॥

(३) स्वविकल्पैर्विरचिते तुल्यावयवलक्षणम्।
किंचित् सादृश्यसम्पन्नं यद् रूपं रूपकं तु तत् ॥५८॥

(४) शब्दाभ्यासस्तु यमकं पादादिषु विकल्पितम्।

(५) विशेषदर्शनं चास्य गदतो मे निबोधत ॥६२॥

(६) श्री काणे, पृ० xiii

(७) 'काव्यादर्श' (दण्डी), 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' (उद्भट), 'काव्यालंकार-सूत्र' (वामन), 'काव्यालंकार' (रुद्रट), 'काव्यप्रकाश' (मम्मट), 'वाग्भटालंकार' (वाग्भट) आदि।

संख्या, क्रम तथा नामावली को ही अपनाकर प्रसगत तथा मत-उद्धरण के द्वारा प्रत्यक्ष-भाव से आचार्य भामह के प्रति आदर दिखाया है। अस्तु, भामह अलकार-शास्त्र के आदि आचार्य है, इनका समय दण्डी से कुछ पूर्व ही है, अलकार-सम्प्रदाय का इन्ही से प्रवर्तन समझना चाहिए।

'काव्यालकार' में ६ परिच्छेद है, परन्तु विवेचन ५ विषयो का ही है; 'अलंकृति-निर्णय' का विस्तार २ परिच्छेदो मे है। प्रथम परिच्छेद मे 'काव्य-शरीर-निर्णय', द्वितीय तथा तृतीय मे 'अलकृतिनिर्णय', चतुर्थ मे 'दोष-निर्णय', पचम मे 'न्याय-निर्णय', तथा षष्ठ परिच्छेद मे 'शब्द शुद्धि' है। भामह का काव्य-लक्षण[1] 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' आज भी मान्य है; महाकाव्य[2] का लक्षण भी उत्तरकालीन आचार्यों ने उनसे ही लिया है; आख्यायिका तथा कथा के अन्तर पर (२५ से २९ तक) सर्वप्रथम भामह ने विचार किया था; काव्य के उपयोग[3] तथा काव्य से दोष-त्याग[4] पर आपके स्वतन्त्र विचार है। भरत-स्वीकृत १० गुणो के स्थान पर भामह ने गुणत्रय का ही विवेचन किया है, तथा दोषो की सख्या अधिक मानी है।

भामह समस्त अलकारो को वक्रोक्तिमूलक मानते है। अलकार-प्रसंग मे उनके निम्नलिखित विचार स्मरणीय है :—

(क) प्रकृत कांत होने पर भी वनिता के मुख पर भूषण के बिना आभा नहीं आती[5]

(ख) नितान्त प्रकृत रूप से वाणी में चारुता नहीं आती; वाणी की अलंकृति के लिए वक्राभिधेय शब्दोक्ति इष्ट है[6]।

(ग) मनोहर वेश मे दुरुक्त भी रमणीय लग जाता है[7]।

(घ) यह चन्द्रमुखी कन्या स्वभाव से ही मनोहर है; इसके शरीर पर कनक-भूषण शोभा की अतिशय[8] वृद्धि करेगा।

इस विचार-राशि का साराश है कि अलकार सौन्दर्य के विधायक है, जो उक्ति अन्यथा सुन्दर नही है उसको रमणीय बनाते है और जो प्रकृत सुन्दर है उसके सौन्दर्य में

---

(१) शब्दार्थौ सहितौ काव्यं, गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।१।१६।

(२) सर्गबन्धो महाकाव्यम् . . . . ।१।१९।

(३) धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्त्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।१।१२।

(४) सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते ।१।११।

(५) न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ।१।१३।

(६) न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ।१।३६।

(७) सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।१।५४।

(८) इयं चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा।
अस्यां सुवर्णालंकारः पुष्णाति नितरां श्रियम् ।६।३०।

वृद्धि करते है; कान्ति प्राकृतिक गुण है, आभा आलंकारिक ।

'अलकार' मे भामह का अभिप्राय ऐसी शब्दोक्ति से है जो वक्रार्थ की विधायक हो। वक्रोक्ति के बिना कोई अलकार नही है, क्योकि अर्थ को विभामय करने वाली समस्त विधा वक्रोक्ति ही है[1] । 'काव्यालकार' मे समस्त वाङ्मय के दो भेद है—शास्त्र तथा काव्य[2], काव्य शब्दार्थ उक्ति का नाम है, यह प्रकृत होगी अथवा वक्र (सालकार); वक्र शब्दार्थोक्ति[3] (=सालकार काव्य) आभामय है, प्रकृत शब्दार्थोक्ति (=निर्भूषं काव्यम्) कान्त हो सकती है विभापूर्ण नही । इसलिए भामह स्वभावोक्ति को अलकार नही मानते, उनमे शब्दालकारो का भी महत्व कम है[4]; रस भी अलकार के अधीन बन गया है ।

जो वक्रोक्ति अलकार का प्राण है उसके बिना वस्तुत काव्य भी नही होता; क्योकि जो प्रकृत शब्दार्थोक्ति है उसमे आभा कहा रही, 'सूर्य छिप गया', 'पक्षी अपने नीडो को जा रहे है' इत्यादि शब्दार्थ उक्तिया वक्रोक्तिहीन होने के कारण काव्य की कोटि मे भी नही आती, वे तो 'वार्त्ता'[5] मात्र ही है । इस प्रकार एक ओर 'अलकार' तथा 'काव्य' शब्द तुल्यार्थक बन गये, दूसरी ओर 'वक्रोक्ति· काव्यजीवितम्' का बीज जम गया ।

'काव्यालकार' के द्वितीय परिच्छेद मे गुणो की अतिसक्षिप्त (१ से ३ श्लोक तक) चर्चा करके भामह अलंकार विषय पर आ गये है । इस परिच्छेद के चार भाग है । प्रथम भाग (५ से ३८ श्लोक तक) मे वे ५ अलकार है जिनको सभी आचार्य (सख्या कम करने के पक्षपाती भी) स्वीकार करते है, **'पंचैव'** मे 'एव' शब्द पर ध्यान देना पडेगा—**पंचैवान्यैरुदाहृताः** । ये अलकार है—अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक, तथा उपमा[6] । भरत और भामह के बीच मे अनुप्रास का जन्म हो गया था, शब्दालकार का महत्व (प्रथम गणना करके) स्वीकार होने लगा था, तथा भरत के क्रम को ही आचार्य स्वीकार न करते थे—भरत ने पहिले अर्थालकार रखे है, भामह ने प्रथम शब्दालकार फिर अर्थालकार; भरत का क्रम है उपमा, दीपक रूपक; भामह का सर्वस्वीकृत क्रम है ठीक विपरीत रूपक, दीपक, उपमा। यमक के अन्तर्गत (रामशर्माच्युत के मत से) प्रहेलिका भी आ गई है, परन्तु

---

(१) **सैषा सर्वैव वक्रोक्ति रनयार्थो विभाव्यते ।**
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।२।८५।

(२) **संकेत देखिए :—**
गुरूपदेशाद् अध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् ।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ।१।५।

(३) **वाचां वक्रार्थ शब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते ।५।६६।**

(४) **डा० शंकरन । पृष्ठ २२ ।**

(५) **गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।**
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ।२।८७।

(६) **अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे ।**
इति वाचामलंकारा पञ्चैवान्यैरुदाहृताः ।२।४।

भामह काव्य की इस **व्याख्यापेक्षणीयता** [1] से सतुष्ट नही ।

इस परिच्छेद के द्वितीय भाग (६७ से ८५ तक) मे आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति तथा अतिशयोक्ति ये अपर ६ अलकार है, इनको भामह ने स्वीकार किया है, ये भामह द्वारा आविष्कृत नही है स्वीकृत मात्र है—**'षडलङ्कृतयोऽपराः'**; अनुमान से स्पष्ट है कि 'पचैव' स्वीकार करने वाले इन ६ को मान्य नही समझते थे ।

तृतीय भाग (८५ से ८७ तक) मे हेतु, सूक्ष्म, तथा लेश अलकारो का निरसन है । इस खण्डन का एक मात्र कारण यही है कि इन तथाकथित अलकारो मे **समुदायाभिधान** [2] है वक्रोक्ति नही, और भामह वक्रोक्ति को ही अलंकार का मूल मानते है ।

चतुर्थ भाग (८८ से ९२) मे यथासख्य तथा उत्प्रेक्षा अलकारो को दूसरो के मत मे भामह ने लिख दिया है । अन्त मे स्वभावोक्ति अलकार (९३) की अवहेलनापूर्वक (**'इति केचित् प्रचक्षते'**) चर्चा है ।

इस प्रकार 'काव्यालकार' के द्वितीय परिच्छेद मे स्वयकृत [3] निदर्शनो द्वारा भामह ने प्रचलित अलकारो की सक्षिप्त चर्चा कर दी है क्योकि इनके विस्तार की आवश्यकता न थी— विस्तार तो बुद्धि को खिन्न ही बनाता [4] । इन अलकारो के प्रति उस युग का दृष्टिकोण इस प्रकार दिखाया जा सकता है —

सर्वस्वीकृत—	**अनुप्रास, यमक, रूपक दीपक, उपमा—५**
सर्वप्रचलित भामह स्वीकृत—	**आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना समासोक्ति, अतिशयोक्ति —६**
कैश्चित्स्वीकृत भामह-निरस्त—	**हेतु, सूक्ष्म, लेश —३**
अन्य-स्वीकृत भामह-वर्णित—	**यथासंख्य, उत्प्रेक्षा —२**
अन्य-स्वीकृत भामह-सतिरस्कार वर्णित—	**स्वभावोक्ति —१**

आचार्य भामह ने 'काव्यालकार' के तृतीय परिच्छेद मे वाणी की चारु अलकार-विधि का अनेकधा [5] विधान किया है । द्वितीय परिच्छेद के समान यह परिच्छेद सक्षिप्त नही है, प्रत्युत सविस्तर [6] है, और न इसमे अन्य कथित अलकारो की चर्चा-मात्र ही

---

(१) **काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत् ।**
उत्सवः सुधियामेव हन्त ! दुर्मेधसो हताः । २।२०।

(२) **हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।**
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ।२।८६।

(३) **स्वयंकृतैरेव निदर्शनैरियं,**
मया प्रक्लृप्ता खलु वागलंकृतिः ।२।९६।

(४) **समासेनोदितमिदं धीखेदायैव विस्तरः ।२।९५।**

(५) **अतः परं चारुरनेकधापरो**
गिरामलङ्कारविधिर्विधास्यते ।२।९६।

(६) **गिरामलंकारविधिः सविस्तरः ।३।५८।**

है, प्रत्युत आचार्य ने इस अलकार विधि का उदय[1] अपनी मति मे स्वयं सोच-सोचकर किया है। शका हो सकती है कि इस परिच्छेद मे भी 'अन्ये', 'अपरे', तथा 'निजगु' 'विदु' आदि प्रयोग आये है, क्या वे इस बात के द्योतक नही कि भामह ने दूसरो के मत से ही यह परिच्छेद भी लिखा है ? उत्तर मे तीन बाते कही जा सकती है--(क) 'विदुर्बुधा.' (३, २५), 'इति आहु' (३, ५३) आदि कथन वाक्यालकार मे भी प्रयुक्त होते है, इनमे सर्वत्र परिकीय मत का सकेत नही मिलता; (ख) इस परिच्छेद मे आशी अलकार आचार्य ने दूसरो के मत से लिखा है, जिसका प्रमाण है **'केषाचिद् अलंकारतया मता'** (३, ५५), यदि अन्य कोई अलकार दूसरो के मत से लिखा जाता तो उसके साथ ही कुछ सकेत देना चाहिये था; (ग) जिन अलकारो के विषय मे शका हो सकती है, उनमे से एक स-सृष्टि भी है; भामह ने इसको **'वराविभूषा'** (३,४९) कहा है और इसके प्रयोग की प्रचारात्मक[2] सिफारिश की है। अन्त मे लेखक के कथन पर विश्वास करते हुए यह मानना उचित है कि यह सविस्तर अलकार विधि उसने **'स्वयं विनिश्चित्य'** स्वकीय धी से उदित की थी।

तृतीय परिच्छेद के ये अलकार २३ है--प्रेयस्, रसवत्, ओजस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपन्हुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमारूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव, ससृष्टि, भाविकत्व। अन्त मे आशी अलकार है।

दण्डी : काव्यादर्श (सन् ६०० से पूर्व)

दण्डी गुण सप्रदाय के आचार्य है, दाक्षिणात्य साहित्य मे इनकी स्पष्ट छाप स्वीकार की जाती है। भामह और दडी मे से कौन पूर्व था और कौन उत्तर, इसकी अद्यावधि निश्शक स्थापना नही हुई, फिर भी भामह को पूर्ववर्त्ती ही माना जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह तथा दडी अपनी रचना मे एक दूसरे की आलोचना कर रहे है; वस्तुत भामह और दडी दो संप्रदायो के प्रतिनिधि है, उनमे व्यक्तियो की (अत रचनाओ की) आलोचना नही है, सप्रदायो मे प्रचलित मतो की आलोचना की गई है।[3] अत यह सभव है कि दण्डी का समय भामह के अनन्तर हो, फिर भी भामह उन विचारो की आलोचना कर सके जिनका सग्रह आगे चल कर 'काव्यादर्श' मे हुआ।

दण्डी की तीन रचनाये प्रसिद्ध है--काव्यादर्श, दशकुमार चरित तथा अवन्तिसुन्दरी कथा। 'काव्यादर्श' काव्यशास्त्र का ग्रथ है। इसमे ३ परिच्छेद[4] तथा ६६० छद है। प्रथम

---

(१) **स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः।३।५८।**

(२) **अन्येषामपि कर्त्तव्या संसृष्टिरनया दिशा।**
कियद् उद्घट्टितज्ञेभ्यः शक्यं कथयितुं मया।३।५२।

(३) **श्री बनहट्टी, इंट्रोडक्शन, पृष्ठ XXI फुटनोट १।**

(४) **'नाट्यशास्त्र' में 'अध्याय', 'काव्यालंकार' में 'परिच्छेद', 'काव्यादर्श' मे 'परिच्छेद', 'काव्यालंकार-सूत्र' में 'अधिकरण', 'काव्यालंकार-सार-संग्रह' में 'वर्ग' तथा 'काव्यालंकार' (रुद्रट) में 'अध्याय' है।**

परिच्छेद का नाम 'मार्ग-विभाग' है, इसमे काव्य-माहात्म्य, दोषनिन्दा, काव्य, सर्ग-बन्धलक्षण, गद्य-प्रभेद, मार्गनिरूपण आदि विषय है। दण्डी ने पूर्व शास्त्रो की सहायता से तथा प्रयोग को देखकर[1] काव्य-लक्षण लिखा है। भामह के समान यह आचार्य भी काव्य मे दोष को सहन नही कर सकता (१,७)। दण्डी कृत महाकाव्य लक्षण (१४ से १९ तक) सभी उत्तर आचार्यो को मान्य रहा है। आख्यायिका और कथा के भेद मे भामह से दण्डी का मतभेद है, वे मानो भामह को उत्तर देने के लिए ही कह रहे है कि 'अन्य वक्ता है या स्वय ही, इससे क्या अन्तर आता है' (२३ से २८ तक), कथा और आख्यायिका एक ही वस्तु के दो नाम है[2]। वाणी का मार्ग, रचनाप्रकार या रीति इसी परिच्छेद मे है और प्रसगवश शब्दालकार अनुप्रास तथा यमक भी आ गये है। अनुप्रास गौडप्रिय है, परन्तु दाक्षिणात्य (१, ६०) इसका प्रयोग नही करते, वर्णावृत्ति को अनुप्रास कहते है (१, ५५); और वर्णसघात की आवृत्ति को यमक (१, ६१)।

दण्डी के अलकार-विषयक निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है :—

(क) सदलंकृत काव्य कल्पान्तर स्थायी बन जाता है[3]।

(ख) यद्यपि शब्दगत तथा अर्थगत अलंकार अर्थ में रस का सिंचन करते है, तथापि रस का भूयिष्ठ भार अग्राम्यता[4] ही वहन करती है[5]।

(ग) अलंकार वे धर्म है, जिनसे काव्य की शोभा होती है[6]।

इन सकेतो से यह स्पष्ट है कि दडी काव्य मे अलंकार को उतना महत्त्व नही देते, जितना कि भामह; परन्तु इनमे भी अलकार का आग्रह है। काव्य का मुख्य गुण तो रचना-शैली है, जो विदग्ध जन पर निर्भर है, काव्य का प्रधान आकर्षण यही मनोहर रीति है[7]।

'काव्यादर्श' के द्वितीय परिच्छेद मे अलकार (अर्थालकार) है, ये काव्य के शोभाजनक धर्म है। इन अलंकारो का पूर्णता से कोई विवेचन नही कर सकता क्योकि आज भी इनकी उद्भावना[8] हो रही है। फिर भी पूर्वाचार्यो ने जिन अलकारो की प्रकल्पना की है, उन्ही के बीज[9] का यहा विशदीकरण है। कुछ अलकार (अनुप्रास तथा यमक) प्रथम परिच्छेद

---

(१) **पूर्वशास्त्राणि संहृत्य, प्रयोगानुपलक्ष्य च ।१।२।**

(२) **तत कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ।१।२८।**

(३) **काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति ।१।१९।**

(४) **अग्राम्यता ग्राम्यः हालिकादिप्राकृतजनव्यवहृतः तद्भिन्नः अग्राम्यः तस्य भावस्तत्ता। विदग्धजनव्यवहारः इति भावः (प्रभाख्या व्याख्या)।**

(५) **कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति ।**
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ।१।६२।

(६) **काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।२।१।**

(७) **वाचां विचित्रमार्गाणाम्..... ।१।९।**

(८) **ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्र्येन वक्ष्यते ।२।१।**

(९) **किंतु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।**
तदेव परिसंस्कर्तुम् अयमस्मत् परिश्रमः ।२।२।

म मार्गविभागार्थ (२, ३) दिखाये जा चुके है, अब अन्य गौड-वैदर्भ-अनुमत (प्रभा टीका) अलकारो का निरूपण है (२, ३)। इन अर्थालकारो का वर्णन सविस्तर है, लक्षण-उदाहरण के अतिरिक्त भेद-प्रभेद भी है और अधिकतर का 'चक्र' वर्णित है। प्रारम्भ मे ही अलकार नामावली दी गई है।

भामह ने स्वभावोक्ति की अवहेलना की थी, परन्तु दंडी 'स्वभावाख्यान', 'स्वभावोक्ति' या 'जाति' को 'आद्या अलकृति'[1] मानते है और इसीलिए इसका सर्वप्रथम विवेचन है, लोकयात्रानुवर्त्तन[2] को अन्यत्र सौदर्य का मूल माना है; वे मानो भामह का खंडन करते हुए कहते है कि जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य के स्वभावाख्यान का शास्त्रो मे साम्राज्य है[3] और काव्य मे भी यही अभीप्ट है—इसकी उपेक्षा नही की जा सकती। तदनन्तर दण्डी ने भरत के क्रम को अपनाया है (भामह के क्रम को नही) अर्थात् (यमक तो प्रथम परिच्छेद मे आ चुका था) उपमा, रूपक तथा दीपक अलकार है। दीपक के अनन्तर 'आवृत्ति' नामक अलकार है, जो 'आवृत्ति दीपक' होने के कारण 'दीपक' का ही एक भेद[4] स्वीकृत होना चाहिए।

शेष ३० अलकारो को क्रम की दृष्टि से दो वर्गों मे रखा जा सकता है—पूर्व वर्ग के ११ अलकार तथा उत्तर वर्ग के १९ अलकार। पूर्व वर्ग मे ६ 'सर्व प्रचलित, भामह-स्वीकृत' अर्थालकार उसी क्रम से है; तदनन्तर ५ (३ कैश्चित्स्वीकृत भामह-निरस्त, तथा दो अन्य-स्वीकृत भामह-वर्णित) अलकार आये है—क्रम भिन्न है, 'भामह-वर्णित' मे उत्प्रेक्षा सर्वप्रथम तथा क्रम (यथासख्य) सबसे अन्त मे है, 'भामह-निरस्त' का क्रम काव्यालकारवत् ही है। 'काव्यालकार' के 'लेश' और 'यथासख्य' 'काव्यादर्श' मे 'लव' तथा 'क्रम' है।

उत्तर वर्ग के १९ अलकार 'काव्यालंकार' के तृतीय परिच्छेद के २३ अलंकारो के समान है। उपमारूपक, उपमेयोपमा, ससन्देह, अनन्वय तथा उत्प्रेक्षावयव यहा स्वतंत्र अलकार[5] नही माने गये; उपमारूपक रूपक का ही एक भेद है (२, ८८), उपमेयोपमा यहा अनन्योपमा (२, १८) (उपमा का भेद) है, ससदेह का नाम सशयोपमा (२, २६) अनन्वय का नियमोपमा (२, १९) है, तथा उत्प्रेक्षावयव को काव्यादर्श मे अचेतनोत्प्रेक्षा (२, २२४) कहा जा सकता है। दण्डी ने आशी को स्वीकार किया है (२, ३५७)। इन १९ अलकारो मे प्रथम ६ का क्रम भामह के अनुसार है; शेष मे किचित् स्थान-विपर्यय है।

(१) **स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ।२।२८।**
(२) **कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः ।१।८८।**
(३) **जाति-क्रिया-गुण-द्रव्य-स्वभावाख्यानमीदृशम् ।**
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।२।१३।
(४) **दीपकस्थान एवेष्टम्..... ।२।११६।**
(५) **अनन्वय-ससन्देहावुपमास्वेव दर्शितौ ।**
उपमारूपकं चापि रूपकेष्वेव दर्शितम् ।२।३५८।
उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोपि च ।२।३५९।

द्वितीय परिच्छेद दंडी ने पूर्वाचार्यो के अनुसार लिखा था, इसकी स्वीकृति[1] एक से अधिक स्थानो पर है। भामह को दृष्टि मे रख कर ही मानो दण्डी ने लिखा है, स्थान-स्थान पर प्रतिद्वंद्विता से खडन करते हुए। भामह अलकार तथा काव्य का प्राण वक्रोक्ति को मानते थे, इसलिए हेतु आदि मे उन्होने अलंकारता न स्वीकार की (काव्यालकार, २, ८६) दण्डी ने विरोध करते हुए इनको उत्तम भूषण[2] माना; भामह का विरोध करते हुए दण्डी ने वाङमय के दो प्रकार[3] बतलाये है—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति, और स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति से भी उच्च[4] स्थान दिया है।

द्वितीय परिच्छेद मे ३४ अर्थालकारो[5] का वर्णन करके दण्डी ने तृतीय परिच्छेद मे 'शब्दालकार-दोषविभाग' का विवेचन किया है। प्रथम परिच्छेद मे अनुप्रास तथा यमक का प्रसगवश लक्षण दिया था, और यमक के विस्तार की प्रतिज्ञा[6] की थी, अत तृतीय परिच्छेद '**वर्णसंहति की आवृत्ति**' (=यमक) से प्रारम्भ होता है। यमक (१ से ७७ तक) के अनन्तर (चित्र ७८ से ९५) प्रहेलिका (९६ से १२४ तक) लिख कर १० दोषो का विवेचन किया गया है।

उद्भट : काव्यालकार-सार-सग्रह (सन् ८०० के लगभग)

उद्भट की तीन रचनाएँ मानी जाती है—कुमारसभव काव्य, भामह-विवरण, तथा अलकार-सार-सग्रह[7]। अपने 'कुमार-सभव' से लेखक ने अलकारो के उदाहरण लिये है, जिससे यह सत्य मानना पड़ता है कि उद्भट ने इस नाम का एक सुन्दर काव्य लिखा था। भामह-विवरण का निर्देश उत्तर आचार्यों ने किया है, परन्तु यह कृति भी उपलब्ध नही। 'काव्यालकार-सार-सग्रह' ही प्राप्य है जिस पर प्रतीहारेन्दुराज की प्रसिद्ध लघुवृत्ति नामक टीका भी है। अब तक के आचार्यो मे उद्भट ही ऐसे है, जिन्होने केवल अलकार-विषय पर लिखा है। आचार्यो मे उद्भट की प्रतिष्ठा है, परन्तु बूल्हर[8] ने लिखा है कि महाराज जयापीड

---

(१) **किंतु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्। २।२।**
इति वाचामलंकारा दर्शिताः पूर्वसूरिभिः। २।७।

(२) **हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्। २।२३५।**
अलंकारतयोद्दिष्टम्..... । २।२३६।
देखिये काव्यालंकार (२, ८७) का उत्तर काव्यादर्श (२, २४४) मे।

(३) **भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङमयम्** (२, ३६३).

(४) **शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्। २।१३।**

(५) **कुछ आचार्यों ने दंडी के अर्थालंकारों की संख्या ३५ मानी है (काणे XXI, पोद्दार १३०, उपाध्याय ४९ पृष्ठ); परन्तु हम निवेदन कर चुके है कि 'काव्यादर्श' में 'आवृत्ति' स्वतंत्र अलंकार नहीं है, इसलिए संख्या ३४ ही माननी चाहिए।**

(६) **.....अतः पश्चाद् विधास्यते। १।६१।**

(७) **इस कृति के कम से कम ४ नाम है—काव्यालंकार-सार-संग्रह (पोद्दार तथा बनहट्टी), अलंकार-सार-संग्रह (काणे तथा उपाध्याय), काव्यालंकार-संग्रह (दे), काव्यालंकार-सार (शंकरन)।**

(८) **श्री बनहट्टी द्वारा भूमिका, पृ० १२ पर उद्धृत।**

से एक लाख दीनार दैनिक वेतन लेकर केवल अलकार-विषय पर उद्‌भट ने एक छोटी सी पुस्तक लिखी है और वह बडे अहकार के साथ अपनी कृति (कुमारसंभव) से उनके उदाहरण देता चलता है।

उपलब्ध सामग्री के आधार पर उद्‌भट को भामह का अनुयायी कहना उचित है, यदि नाट्यशास्त्र पर भी उनकी टीका मिल जाय, (जैसा कि डा० शकरन का अनुमान है[1]) तो उद्‌भट को काव्य-शास्त्र मात्र का आचार्य कहा जा सकेगा।

'काव्यालकार-सार-सग्रह' १०० से कम पद्यो की एक छोटी सी कृति है, जो ६ वर्गों मे विभक्त है—ये वर्ग रचना के न होकर वास्तव मे विवेच्य विषय अर्थात् अलकारो के है। कृति के आदि मे कोई भी मुख-पद्य (आमुख) नही है, और न अत मे उपसहार-रूप कुछ कहा गया है, लेखक ने न कही अपना नाम लिखा है, न रचना का उद्देश्य, और न प्रतिपाद्य विषय का सकेत ही किया है। यदि इस कृति को पूर्ण माना जाय तो यह अपने वर्तमान रूप मे विचित्र है। हमारा अनुमान है कि उद्‌भट ने इसको पुस्तक रूप मे नही लिखा, सभव है, यह कृति अनुपलब्ध 'भामह-विवरण' का ही एक अश[2] हो, पुराने आचार्यों ने उद्‌भट को उद्धृत किया है उनकी कृति को नही और आधुनिक आचार्य उनकी रचना के नाम पृथक्-पृथक् लिखते है—दोनो ही वर्ग हमारे अनुमान के पोषक है।

अलकार-वर्गो के बीज भामह मे थे। यह उपरिलिखित भामह-प्रसंग मे सकेतित है; परन्तु वर्गों का प्रत्यक्ष निर्देश सर्वप्रथम उद्‌भट मे ही प्राप्त होता है। यह अनुमान निर्भ्रान्त नही कि ये वर्ग अलकार-विकास की विभिन्न अवस्थाओ के द्योतक है, प्रत्युत अधिक उचित यह है कि ये वर्ग भिन्न-भिन्न स्कूलो (सम्प्रदायो, वर्गो) के मत[3] का प्रतिनिधित्व करते है। भामह के समय मे अलकार-विषय पर कम-से-कम ४ विभिन्न प्रकार की विचार धाराएं पाई जाती थी, भामह तथा उद्‌भट के बीच दो वर्ग-मान्यताएँ और पनप गई। इस प्रकार उद्‌भट का वर्गीकरण वैज्ञानिक भले ही न हो इसको तत्कालीन अलकार-सप्रदायो का भौगोलिक चित्र अवश्य मानना पडेगा।

---

(१) सम एस्पेक्टस ऑफ लिटरेरी क्रिटीसिज्म०, पृ० ३०।

(२) श्री काणे के अनुमान से यह कृति 'भामह-विवरण' का 'सार' है, यह अनुमान उचित नहीं; क्योंकि इस कृति में भामह की रचना का सार (समस्त विषय का सार) नहीं है, केवल एक विषय (अलंकार) का प्रसार है; यह वर्तमान रचना पुस्तक रूप में लिखी हुई नहीं मानी जा सकती।

(३) प्रत्येक वर्ग के साथ इस समकालीन मतभेद का संकेत है :—
इत्येत एवालंकारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः।१।२।
.....अलंकारान् परे विदुः।२।१।
अपरे त्रीन् अलंकारान् गिराम् आहुः अलंकृतौ।३।१।
.....अलंकारान् परे विदुः।४।१।
.....जगदु रलंकारान् परे गिराम्।५।२।
.....अलंकारान् परे विदुः।६।१।

उद्भट के अलंकारों का वर्गानुसार विवरण इस प्रकार है :—

प्रथम वर्ग	८ अलंकार	पुनरुक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, लाट अनुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा। (४ शब्द के, फिर ४ अर्थ के)
द्वितीय वर्ग	६ अलंकार	आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति।
तृतीय वर्ग	३ अलंकार	यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति।
चतुर्थ वर्ग	७ अलंकार	प्रेयस्वत्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट।
पंचम वर्ग	११ अलंकार	अपन्हुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, विदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति।
षष्ठ वर्ग	६ अलंकार	ससन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्टांत।

यदि प्रथम वर्ग के शब्दालकारो को अलग कर ले तो ३ सनातन अर्थालकारो का क्रम भामह तथा उद्भट में समान है; इस वर्ग मे प्रतिवस्तूपमा नया आ गया है, परन्तु यह दण्डी में भेद रूप में था. फिर भी इसकी स्वतत्र स्वीकृति प्रथम बार यही दिखाई पडती है। द्वितीय वर्ग में **'सर्वप्रचलित भामह-स्वीकृत'** अलकार है। 'काव्यालकार' के द्वितीय परिच्छेद के शेष तीन अलंकार उद्भट ने तृतीय वर्ग मे रखे है—हेतु, सूक्ष्म तथा लेश मे अलकारता न भामह ने मानी है, न उद्भट ने। चतुर्थ वर्ग मे 'काव्यालकार' तृतीय परिच्छेद के प्रथम ७ अलंकार है; पंचम वर्ग में उक्त स्थल के दूसरे ११ अलकारो मे से उसी क्रम से १० ले लिये—उपमारूपक दण्डी के समान उद्भट ने भी स्वीकार नही किया; उद्भट ने 'सकर' नाम का नया अलंकार बना डाला है। षष्ठ वर्ग मे 'काव्यालकार' (तृतीय परिच्छेद) के अन्तिम पाच अलंकारो में से चार उसी क्रम से ले लिये गए है—दण्डी के समान उत्प्रेक्षावयव को स्वतंत्र नही माना गया; काव्यलिग और दृष्टात नये अलकार है।

इस आचार्य के विषय मे ध्यान देने के कुछ दूसरे तथ्य भी है। इस आचार्य ने भामह का अनुकरण करते[1] हुए और 'काव्यालकार' को मूलाधार मानते हुए भी दण्डी की छाया में कुछ परिवर्त्तन किये हैं—उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव को स्वतंत्र अलकार नही माना। जहां उद्भट के विचार भामह के विचारो से मिलते है, वहा उन्होने नवीनता की आवश्यकता नही समझी, जो उचित ही है[2]; परन्तु जहा मत-भेद है, वहा साहसपूर्वक स्व-मत का प्रतिपादन किया है। पुनरुक्तवदाभास, सकर, काव्यहेतु, (काव्यलिग) और काव्य-दृष्टांत

---

(१) विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, सहोक्ति, ससन्देह, अनन्वय आदि के लक्षण देखिए।

(२) श्री बनहट्टी, भूमिका पृ० XVI।

(दृष्टान्त) तो नितान्त नवीन अलकार है, उपमा का नवीन वैज्ञानिक विवेचन है; जिसको आगे चल कर मम्मट ने ज्यो का त्यो अपना लिया।

उद्भट ने 'निदर्शना' को 'विदर्शना' लिखा है, जो लिपिकार[1] की भूल नही है, क्योंकि प्रतीहारेन्दुराज ने 'विदर्शना' शब्द की ही व्याख्या की है (५, १० पर वृत्ति)। नाम-परिवर्त्तन उद्भट मे मिलता है, सूची मे पुनरुक्तवदाभास, काव्यहेतु और काव्यदृष्टांत नाम है, परन्तु लक्षणो मे इनके नाम क्रमश पुनरुक्ताभास, काव्यलिग तथा दृष्टात है। प्रत्येक वर्ग के आदि मे अलकारो की जो सूची है, उसके क्रम को विवेचन में ज्यो का त्यो नही अपनाया (प्रथम वर्ग, पचम वर्ग) गया। लाटानुप्रास की स्वीकृति भामह के समय मे ही होने लगी थी, उद्भट ने केवल लाटानुप्रास को ही नही, छेकानुप्रास तथा वृत्यनुप्रास को भी स्वतत्र अलकारत्व प्रदान कर दिया, शब्दालकार का इतना महत्त्व उद्भट का विशेष दृष्टिकोण ही दिखलाता है। पुनरुक्तवदाभास, सकर, काव्यलिग ओर दृष्टात के कारण उद्भट अलकार-शास्त्र मे सदा स्मरण किये जायेगे।

उद्भट ने यमक का वर्णन नही किया। उस यमक का जो भरत से लेकर आज तक के आचार्यो मे मान्य रहा है, और यमक का अन्य अलकार मे अन्तर्भाव भी नही किया। प्रमादवश,या सैद्धातिक रूप से? ऐसे आचार्यों के विषय मे प्रमाद की शरण नही ली जा सकती। तब जानबूझ कर उद्भट ने यमक का बहिष्कार किया है। सभव है, दण्डी के अनुकरण पर उद्भट ने यमक को अलकारो के साथ रखना उचित न समझा हो, क्योंकि वे उसको चित्र-काव्य का सजातीय मानते हो, और या तो अलकारेतर वस्तु का विवेचन अभीष्ट न मानकर यमक को भी छोड दिया हो, या अलकारेतर वस्तु का विवरण 'भामह-विवरण' के अनुपलब्ध अश मे हो, अत उपलब्ध अश (अलकार-सार) यमक-वचित रह गया हो। दण्डी ने यमक मे एकान्तमाधुर्य[2] का निषेध करते हुए प्रथम परिच्छेद मे यह कहा था कि इसका वर्णन फिर करेंगे, क्या उद्भट को यह उक्ति इतनी पसद आई कि अपनी कलम से वे यमक को 'पश्चात्' का भी सौभाग्य प्रदान न कर सके?

वामन काव्यालकार-सूत्र (सन् ८५० से पूर्व)

आचार्य वामन ने अलकार, गुण तथा रीति का काव्य मे सापेक्षिक महत्त्व स्पष्ट करते हुए लिखा है कि गुण के कारण[3] पद रचना मे जो एक विशेषता[4] आ जाती है, उसे रीति कहते है, यह (वैदर्भी, गाडी तथा पाचाली) रीति ही काव्य की आत्मा[5] है; दोष-त्याग तथा गुण-अलकार-आदान[6] से काव्य मे सौदर्य उत्पन्न होता है, जिसको अलकार[7] कहते

(१) श्री काणे, पृ० XLII
(२) तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद् विधास्यते।१।६१।
(३) विशेषो गुणात्मा।१।२।८।
(४) विशिष्टपदरचना रीतिः।१।२।७।
(५) रीतिरात्मा काव्यस्य।१।२।६।
(६) स दोष-गुणालंकार-हानादानाभ्याम्।१।१।३।
(७) सौंदर्यमलङ्कारः।१।१।२।

है, अलकार के ही कारण काव्य तद्वेताओ को ग्राह्य[1] बनता है। इस प्रसग मे 'अलंकार' शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे हुआ है—सकीर्ण अर्थ मे 'अलकार' काव्य के वे धर्म है, जिनको दण्डी ने 'शोभाकर' कहा था, व्यापक अर्थ मे सौदर्य-मात्र को अलकार कहते है, इसके अन्तर्गत वे सभी विधाये आ जाती है, जिनके कारण काव्य हमारे मन को आकृष्ट करता है।

आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' मे काव्य-पद्धति या रचना-शैली की मुख्यता स्वीकार करते हुए प्रथम परिच्छेद मे ही रीति की विवेचना की थी, वामन ने उसी सत्य का आग्रह करते हुए रीति को काव्य की आत्मा घोषित कर दिया। परन्तु दण्डी और वामन का अलकार विषय मे कट्टर मतभेद है, दण्डी ने अलकार को 'शोभाकर'[2] धर्म माना था, वामन उनका विरोध करते है—शोभाकर धर्म तो गुण ह,[3] अलकार शोभा के कर्त्ता नही, अतिशयिता है[4]। यदि प्रश्न किया जाय कि दोनो का अन्तर क्या है, तो यह कहा जायगा कि गुण रीति रूप मे व्यक्त होता हुआ काव्य का नित्य[5] धर्म (अथवा आत्मा) बनता है (उपर्युक्त विवेचन देखिये), और अलकार का सौदर्य स्वत सभव न होने के कारण अनित्य या बाह्य है। प्रसगत, हमारा ध्यान 'काव्यादर्श' (प्रथम परिच्छेद) के उस स्थल पर जाता है जहा यमक मे एकान्त माधुर्य का निषेध करते हुए उसके पश्चाद्विधान का कथन है, टीकाकार लिखते है कि वर्णावृत्ति के कारण जैसी चारुता अनुप्रास मे सभव है, वैसी वर्णसघात की आवृत्ति करने वाले यमक मे नही और यमक के अर्थावबोध मे क्लेश होता है, अत यमक रसोपकारक[6] नही है। वामन का गुण को महत्त्व-प्रदान दण्डी के इसी बीज से प्रभावित जान पडता है। गुण रीति रूप मे व्यक्त होता है, रसोपकारक है, नित्य है, अलकार अर्थनिरपेक्ष नही, स्वतोमधुर नही, बाह्य है।

वामन की कृति 'काव्यालकार-सूत्र' ही अद्यावधि प्राप्त काव्यशास्त्रीय रचनाओ मे एकमात्र ऐसी रचना है, जो सूत्र-शैली मे लिखी गई है, परन्तु इनकी सूत्र-शैली की एक विचित्रता भी है—सूत्रो का विभाजन अध्यायो मे होता है और प्रत्येक अध्याय मे कतिपय अधिकरण हुआ करते है, वामन ने अधिकरण को अध्यायो मे विभक्त किया है, न कि अध्याय को अधिकरणो मे। 'काव्यालकार-सूत्र' का भामह के 'काव्यालकार' से कोई निकट सबध नही जान पडता, काव्य-सौदर्य के विवेचक सूत्र 'काव्यालकार-सूत्र' कहे गये है। वामन

(१) काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।१।१।१।
(२) काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते (काव्यादर्श, २, १)।
(३) काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।३।१।१।
(४) तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।३।१।२।
(५) पूर्वे नित्याः।३।१।३।
(६) .....वृत्त्यनुप्रासोदाहरणेषु अन्तरान्तरा एकवर्णावृत्त्या यादृशी चारुता न तादृशी... स्वरव्यंजनसंघातावृत्तिरूपे यमके। अपरं च वर्णसंघातावृत्तौ अर्थावबोधः क्लेशेन भवति .....। तथा च यमके अर्थानुसंधानव्यग्रतया रसप्रतीते र्विलम्बेनोद्भवाश्रेयं रचना रसोपकारिका। (प्रभाख्या व्याख्या)।

ने इन सूत्रो की वृत्ति भी स्वय लिखी[1] है, जिसका नाम 'कविप्रिया' है, इस प्रकार इस रचना के तीन अग है—सूत्र, वृत्ति तथा उदाहरण। इस पुस्तक मे पाच अधिकरण है और प्रत्येक अधिकरण मे २ या ३ अध्याय (पूर्ण योग १२) है। चतुर्थ अधिकरण का नाम 'आलकारिक' अधिकरण है, इसमे अलकार विषय का विवेचन है।

आलकारिक अधिकरण का प्रथम अध्याय 'शब्दालकार-विचार' है। शब्दालंकार के दो भेद है—यमक तथा अनुप्रास। स्थान के नियम से अनेक पद अथवा अक्षर[2] की आवृत्ति यमक है, शेष सरूपता[3] को अनुप्रास कहते है। वामन ने शब्दालंकार को अर्थालंकार से अलग तो कर दिया, परन्तु शब्दालकार को सक्षिप्त बना दिया, यदि पूर्व-स्वीकृत पुनरुक्तवदाभास को नही लिखना था, तो यमक तथा अनुप्रास के सर्वमान्य भेदो को तो दे देते।

द्वितीय अध्याय मे 'उपमा-विचार' है; इसके भेद और दोष भी दे दिये गए है; स्तुति, निन्दा और तत्त्वाख्यान को उपमा के 'प्रयोजन' (प्रयोजन) माना गया है, भेद नही (४, २, ७)। उपमा अर्थालकारो की मूल[4] है, शेष अर्थालकार उसी के प्रपच है, इसलिए तृतीय अध्याय का नाम 'उपमा-प्रपच-विचार' रखा गया है।

उपमा-प्रपच के २८ अलकार[5] है। प्रतिवस्तूपमा सर्वप्रथम है, कारण यह कि पिछले अध्याय मे कथित उपमा-भेद वाक्यार्थोपमा से प्रतिवस्तूपमा का सादृश्य अधिक है, इसलिए इसी का भेद[6] दिखलाया गया है। अलकारो के क्रम मे कोई वर्ग-सिद्धात या अनुकरण नही ज्ञात होता, सूत्रशैली की सुविधा को ही ध्यान मे रखा गया है। उपमेय की उक्ति मे (समान वस्तु का न्यास) प्रतिवस्तु (४, ३, २) है, अनुक्ति मे समासोक्ति (४, ३, ३), किचिदुक्ति मे अप्रस्तुतप्रशसा (४, ३, ४) आदि-आदि। सूत्रशैली से उपमा-प्रपंच के लक्षण आचार्य के मनोयोग के द्योतक है, उसने मथन और मनन के उपरान्त ही लिखा है।

इन २८ अलकारो मे वक्रोक्ति और व्याजोक्ति नवीन है। भामह तथा दण्डी के ८ अलकार—स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, उदात्त, भाविक, तथा आशी—

---

(१) प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेशां वृत्तिर्विधीयते।

(२) पदम् अनेकार्थम् अक्षरं वा ऽऽवृत्तं स्थाननियमे यमकम् ।४।१।१।

(३) शेषः सरूपोऽनुप्रासः ।४।१।८।

(४) तन्मूलं चोपमेति..... । (४, २ मुखवृत्ति)।

(५) श्री पोद्दार तथा श्री काणे ने अलंकारों की संख्या ३३ (२ शब्दालंकार + उपमा + ३० उपमाप्रपंच के अलंकार) मानी है, परन्तु उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव यहां संसृष्टि के भेद-मात्र है, स्वतंत्र अलंकार नहीं, वामन ने संसृष्टि का उदाहरण नहीं दिया और उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव को स्पष्टतः उसके भेद बतलाया है। (तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ। ४, ३, ३१); अतः अलंकार-संख्या ३१ मानना ही उचित है, (२ शब्दालंकार + १ उपमा + २८ उपमाप्रपंच)।

(६) वाक्यार्थोपमायाः प्रतिवस्तुनो भेदं दर्शयितुम्.....। (४, ३, १ वृत्ति)।

वामन ने नही लिखे। हेतु, सूक्ष्म और लेश भी छोड दिये है। उद्भट के काव्यलिंग और दृष्टांत भी यहा नही है। विशषोक्ति का लक्षण [१] विलक्षण है, और वृत्ति में **'रूपकं चेदं प्रायेण'** लिखकर यह सकेत भी दे दिया है कि आचार्य जानता था कि इसमे अलकार रूपक ही हुआ—पडितराज जगन्नाथ के अनुसार यहा रूपक ही माना जायगा, वामन के उदाहरण[२] भी इसी मत के समर्थक है। वामन के आक्षेप का एक रूप **'तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षा'** उत्तर आचार्यो का प्रतीप है, और दूसरा रूप **'उपमानस्य आक्षेपतः प्रतिपत्तिः'** उत्तर आचार्यो का समासोक्ति है।

रुद्रट : काव्यालकार (सन् ८००—८५० के बीच)

रुद्रट सक्राति-युग के आचार्य है, इसलिए इनका प्रयत्न समन्वय का है; उन्होने १६ अध्यायो के अपने 'काव्यालकार' मे काव्यशास्त्र के समस्त अगो की समीक्षा[३] की है; उनके समय मे अलकार, गुण और रीति के सप्रदाय पूर्ण विकसित हो चुके थे और ध्वनि-सम्प्रदाय का उद्भव हो रहा था[४]। रचना के प्रारम्भ मे उन्होने बतलाया है कि इस कृति के द्वारा कविजनो की मति उदार होगी और वे अपनी रचना को सर्वाग-विभूषित कर सकेगे (१, ३), लगभग प्रत्येक अध्याय के अन्त मे इस प्रकार के सकेत है।

श्री. काणे ने रुद्रट को अलकार-सप्रदाय का आचार्य माना है (इंट्रोडक्शन पृष्ठ LIV), परन्तु डा० शकरन उनको समन्वयवादी मानते है (पृ० ३४)। इसमे सदेह नही कि अपनी पुस्तक का नाम 'काव्यालकार' लिख कर ही रुद्रट अलकारवादी नही हो सकते; १६ मे से अन्तिम ५ अध्याय तो उन्होने केवल रस-विषय मे लगाये है। परन्तु उनको अलंकारवादी कहने की कुछ बलीयसी तर्के भी है। रुद्रट ही अलकारो का वैज्ञानिक वर्गीकरण करने वाले प्रथम आचार्य है, उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय अलकार ही है; और उनकी अलकार-संख्या उस समय तक के सब आचार्यों से अधिक है। अत रसयुक्त[५] काव्य का उपदेश देने पर और प्रेयस[६] नामक रस की स्वतत्र विवेचना करने पर भी उनको समन्वयवादी[७] आचार्य नही कहा जा सकता। यद्यपि उन्होने नायक-नायिका भेद भी लिखा है, परन्तु समस्त रस-

(१) एक गुणहानिकल्पनायां साम्य-दार्ढ्यं विशेषोक्तिः। ४, ३, २३।
(२) 'व्यसनं हि नाम सोच्छ्वासं मरणम्'। 'द्विजो भूमिबृहस्पतिः'।
(३) श्री काणे, LII
(४) डा० शंकरन, ३४।
(५) तस्मात् तत् कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।१२।२।
(६) स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्..... ।१५।१७।
अन्योन्यं प्रति सुहृदो व्यवहारोऽयं मतस्तत्र।१५।१८।
(७) दण्डी के विपरीत उद्भट ने काव्य के आकल्प स्थायित्व का कारण रस को माना है, अलंकार को नहीं :—
ज्वलद् उज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन् महाकविः काव्यम्।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि।१।४।
इससे पूर्व अलंकार का महत्त्व भी वे स्वीकार करते है :—

विषय को उतना भी विस्तार नही मिला, जितना कि यमक और श्लेष को। अस्तु, रुद्रट का विशेष आग्रह अलकार की ओर ही प्रतीत होता है।

इस 'काव्यालकार' मे १६ अध्याय है। प्रथम मे ग्रथ-प्रयोजन, काव्य-प्रयोजन आदि है। द्वितीय से पचम तक ५ शब्दालकार, तथा सप्तम से दशम तक अर्थालकार है। सप्तम मे शब्द-दोष, एकादश मे अर्थ-दोष, एवम् उपमा-दोष है। द्वादश से पचदश तक रसविषय तथा षोडश अध्याय मे महाकाव्यादिलक्षण है।

शब्दालकार ५ है--वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास (वृत्यनुप्रास), यमक (अनेक[1] भेद), श्लेष (८ भेद), तथा चित्र (अनन्त[2] भेद)। शब्दालकार का यह पूर्ण वर्णन है परन्तु न जाने क्यो अनुप्रास के अन्य भेद छोड दिये गए है। वक्रोक्ति के ये भेद सभी उत्तर आचार्यो ने स्वीकार किये है। यमक के विषय मे रुद्रट ने लिखा है कि यह प्राय छन्द[3] मे पाया जाता है, और श्लेष को वे निपुण महाकवि[4] द्वारा साध्य बताते है, क्योकि इसके लिए व्याकरण, देश-भाषाएँ, अभिधानकोष आदि का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है; इसी प्रकार चित्र के विषय मे भी[5] लिखा है। चित्र के अन्तर्गत प्रहेलिका, कारक-गूढ, प्रश्नोत्तर आदि भी है।

भामह तथा उद्भट का अलकार-वर्गीकरण तो तत्कालीन स्कूलो पर आश्रित था, परन्तु वामन ने समस्त अर्थालकारो को उपमा का प्रपच माना, जिस मान्यता के सकेत दण्डी मे खोजे जा सकते है, रुद्रट का वर्गीकरण वामन-शैली का है। इन्होने ४ मूल अर्थालकार माने है--वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष तथा नि शेष अलकारो को इन्ही ४ का विशेष[6] (रूपान्तर) स्वीकार किया है। इस दृष्टि से यह वर्गीकरण विश्लेषणात्मक है, भौगोलिक नही। इसलिए यह अधिक वैज्ञानिक है। फिर भी एक से अधिक वर्ग मे एक ही नाम के अलकार आ गये है, क्योकि अलकारो का जन्म सिद्धातो को दृष्टि मे रख कर तो होता नही। फलत. ऐसा भी प्रतीत होता है कि एकही अलकार एक से अधिक वर्गोमे है (श्री काणे, Liii), सहोक्ति, समुच्चय और उत्तर वास्तव वर्ग मे भी है और औपम्य-वर्ग मे भी, उत्प्रेक्षा और पूर्व औपम्य-वर्ग मे भी है तथा अतिशय-वर्ग मे भी, हेतु वास्तव तथा अतिशय दोनो

काव्यमलंकर्तुमलं कतरुदारा मतिर्भवति ।१।३।
और आगे चारुत्व को रचना के लिए आवश्यक माना है --
रचयेत् तमेव शब्दं रचनाया यः करोति चारुत्वम् ।२।९।
इस प्रकार अलंकार, रस और चारुत्व तीनों ही काव्य के मुख्य अंग बन गये।

(१) अपरम् असंख्यं सदेवास्ति ।३।५६।
(२) भेदैर्विभिद्यमानं संख्यातुमनन्तमस्मि नैतदलम् ।५।४।
(३) प्रायश्छंदांसि विषयोऽस्य ।३।१।
(४) श्लेषं महाकविरिमं निपुणो विदध्यात् ।४।३५।
(५) चित्रं विचित्रं सुकवि विदध्यात् ।५।३३।
(६) अर्थैरयालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ।७।९।

वर्गों मे आ गया है। यदि लक्षणो पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो सकेगा कि एक ही अलंकार दो वर्गों में नही है, प्रत्युत एक ही नाम के दो अलकार दो भिन्न वर्गो मे रखे हुए हैं। वास्तव-वर्ग में सहोक्ति तीन प्रकार की है—कर्तृभूतार्थ (७, १३), कर्मभूतार्थ (७, १५) तथा तुल्यार्थ (७, १७) और सर्वत्र ही कार्यकारणभाव विद्यमान है, इसके विपरीत औपम्य-वर्ग की सहोक्ति में कार्यकारण का अभाव तथा औपम्य का भाव होता है, इसके दोनो भेदो मे चमत्कार[1] अधिक है। यदि इन अलकारो के नाम भी अलग होते तो पाठक भ्रम में न पडता। रुद्रट ने इस वर्गीकरण मे, उद्भट के समान, 'वर्ग' शब्द का प्रयोग कही नही किया; वे तो ४ ही अर्थालंकार मानते है और शेष को इन्ही के 'विशेष' या 'भेद'।

'वास्तव' अर्थालंकार-मूल मे सर्वप्रथम वर्णित है, कारण सपष्ट मे नही आता, यदि इसका स्वरूप अधिक निश्चित होता तब भी यह प्रथमता का अधिकारी बन जाता, परन्तु इसका लक्षण[2] तो **'वस्तुस्वरूपकथनम्'** के साथ-साथ यह भी कहता है कि न औपम्य हो, न अतिशय, न श्लेष, वही वास्तव है। वास्तव के २३ 'विशेष' (= भेद) है, जिनमे से १४ नाम नये है—समुच्चय, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर, मीलित तथा एकावली। इस वर्ग को प्रथम स्थान देने का एक ही कारण हो सकता है कि इसके 'विशेषो' की सख्या सर्वाधिक है। 'भाव' के अतिरिक्त इस वर्ग के सभी नवीन अलकार आचार्यो ने अपना लिये है।

औपम्य मे स्वरूप-साम्य होता है। इसके २१ विशेष है, जिनमे ८ नवीन है—मत, प्रतीप, उभयन्यास, भ्रान्तिमत्, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य तथा स्मरण। प्रतीप, भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीक तथा स्मरण आगे चल कर प्रतिष्ठित हो गये। अतिशय के १२ विशेष है, ६ पूर्व-स्वीकृत तथा ६ नवीन—विशेष, तद्गुण, अधिक, असगति, पिहित, व्याघात। श्लेष (अर्थ-श्लेष) के १० भेद है—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असभव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास। व्याजश्लेष तो व्याजस्तुति ही है, विरोधाभास स्वतत्र अलकार बन गया था।

इस प्रकार रुद्रट ने कई नवीन अलकारो का आविष्कार किया या कम से कम अन्य आचार्यो से ग्रहण कर इनका सपादन किया, उनका वर्गीकरण भी अधिक वैज्ञानिक माना जाता है। वे भामह, दण्डी और वामन की कोटि के न हो, फिर भी उद्भट की श्रेणी के आचार्य थे।

आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक (सन् ८४०—८७० के बीच)

'ध्वन्यालोक' के साथ काव्यशास्त्र का नवीन अध्याय प्रारम्भ हो गया और ध्वनि

(१) सपदि मधौ निजसदनं मनसा सह यान्त्यमी पथिकाः।८।१००।
स त्वां बिभर्ति हृदये गुरु भिरसख्यै मनोरथैः सार्धम्।८।१०२।
तुलना कीजिये :—
मादकता-से आये तुम, सज्ञा-से चले गये थे।
हम व्याकुल पड़े बिलखते, थे उतरे हुए नशे-से॥ (प्रसाद : आंसू)।

(२) पुष्टार्थम् अविपरीतं निरुपमम् अनतिशयम् अश्लेषम्।७।१०।

की प्रतिष्ठा सदा के लिए हो गई। अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल से ध्वनिकार ने अलंकार, गुण, रीति तथा रस तक को ध्वनि मे अन्तर्भूत कर दिया। स्वभावतः ध्वनि का विरोध भी हुआ और वक्रोक्ति तथा अनुमान के नवीन सम्प्रदाय चालू हुए। परन्तु कालान्तर मे आचार्यों को अलकार, गुण तथा रीति का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी ध्वनि तथा रस का शासन स्वीकार करना पड़ा।

'ध्वन्यालोक' ४ उद्योतो का ग्रथ है। इसके ३ अंग है—कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। उदाहरण तो अन्यरचित है, परन्तु कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचना है या नही—इस विषय मे विद्वान् एकमत नही। 'ध्वन्यालोक' के प्रथम ३ उद्योतों पर अभिनव गुप्त की 'लोचन' नामक टीका बडी प्रामाणिक है। ध्वनिकार की यही विशेषता है कि उनकी प्रतिभा से सभी आचार्य प्रभावित हुए है और उनकी रचना को युगान्तरकारिणी सभी ने माना है।

'काव्यस्यात्मा ध्वनि.' (१, १) इस सिद्धात को जानते हुए भी कुछ लोग ध्वनि का अभाव मानते है या उसको अवाग्गोचर कहते है, ध्वनिकार ने उसी की स्थापना इस पुस्तक मे की है। सहृदयश्लाघ्य काव्यार्थ दो प्रकार का होता है—वाच्य तथा प्रतीयमान; वाच्यार्थ उपमादि के द्वारा प्रसिद्ध है, उसका दूसरे[1] आचार्य प्रतिपादन कर चुके है; प्रतीयमान कुछ और ही है, वह महाकवि की वाणी मे उसी प्रकार झलकता है, जिस प्रकार रमणी के अगो मे लावण्य[2]—कविता-रमणी के अग, आभूषण, वस्त्र आदि से भिन्न एक नैसर्गिक सवेद्य आभा का नाम ही ध्वनि है। अलकार[3], गुण, वृत्ति आदि अंगीभूत ध्वनि के अंगमात्र है, जो मिलकर ही अगी के कारणभूत होते है। शब्द और अर्थ काव्य के अंग है,[4] अलंकार आभूषण है, और ध्वन्यमान रस आत्मा है।

ध्वनिकार ने अलकार का विरोध तो नही किया परन्तु वे उसको उपकारकमात्र मानते है—वह स्वाभाविक हो, रसाक्षिप्त[5] हो। महाकवि के प्रयत्न विना ही कुछ सरस[6]

---

(१) तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः, ततो नेह प्रतन्यते।१।३।

(२) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाऽगनासु।१।४।

(३) तस्य पुनरऽगानि, अलऽकारा गुणा वृत्तयश्चेति.....। (१, कारिका ११ पर वृत्ति)

(४) तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अऽगाश्रितास्त्व लऽकारा मन्तव्याः कटकादिवत्।२।६।

(५) रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग् यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।२।१६।

(६) रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकाराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग् यत्नोऽस्य जायते।
शक्तस्यापि रसेऽऽगत्वं तस्मादेषां न विद्यते॥ (२, कारिका १६ पर वृत्ति)।

वस्तुएँ सालकार बन जाती है, परन्तु यमकादि के लिए शक्त कवि को भी पृथक् प्रयत्न करना पडता है, क्योकि अलकार चारुत्व का हेतु होने पर भी बाह्य[1] है। बाह्य अलकारो को आनन्द-वर्द्धन ने वाणी की अनन्त शैलिया[2] माना है, अतः प्रत्येक अलकार का स्वरूप कथन करने पर भी समस्त अलकार-विधि का विवेचन नही हो सकता।

आनन्दवर्धन रस-भाव-विवक्षा के अभाव मे सालकार रचना को चित्र[3] मानते है, जहा रस-भाव-विवक्षा होगी, वहा ध्वनि[4] अवश्य होगी। समासतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अलकार-विभूषित होने पर भी कुलागनाओ की मुख्य भूषा[5] लज्जा ही है, उसी प्रकार सालकृत सरस्वती भी प्रतीयमानार्थ की छाया से ही रमणीय लगती है।

ध्वनि की प्रतिष्ठा से अलकार को दो प्रकार से हानि पहुँची। प्रथम तो अलंकार के निरसन से उदीयमान आचार्य उस ओर जाने मे सकोच करने लगे। द्वितीय, जो ध्वनि को स्वीकार न करते थे, उनकी शक्ति अलकारादि के विवेचन मे न लग कर ध्वनि के खडन मे लग गई।

आनन्दवर्धन और कुन्तक के मध्य मे राजशेखर (१०वी शती का प्रारम्भ) तथा अभिनवगुप्त के नाम अवश्य स्मरणीय है। यायावरीय राजशेखर की 'काव्य-मीमासा' में १८ अधिकरण माने जाते है, परन्तु अद्यावधि उसका केवल एक अधिकरण 'कविरहस्य' ही उपलब्ध है, जिसमे १८ अध्याय है। जिस रचना का एक अधिकरण ही काव्य-शास्त्र के इतिहास मे एक प्रमुख स्थान प्राप्त कर सका, उसके अप्राप्त शेष १७ अधिकरणो मे अलंकार-विषय का विवेचन न हो—यह सभव नही लगता। फिर भी सामग्री की अनुपलब्धि मे कोई भी अनुमान सार्थक नही। अभिनवगुप्त पादाचार्य (११वी शती का प्रारम्भ) बहुमुखी प्रतिभा के आचार्य थे, काव्यशास्त्र के इतिहास मे वे 'अभिनवभारती' ('नाट्यशास्त्र' पर व्याख्या) तथा 'ध्वन्यालोक-लोचन' ('ध्वन्यालोक' की टीका) के कारण सदा अमर रहेगे। सिद्धान्त की दृष्टि से वे रस-सम्प्रदाय के अनुयायी ठहरते है।

अग्निपुराण (सन् ९०० के लगभग)

यद्यपि महेश्वर ने अपने 'काव्यप्रकाशादर्श' मे यह लिखा है कि भरतमुनि ने अग्नि-पुराण से अलकार-शास्त्र लेकर उसको सक्षिप्त किया और कारिकाओ मे 'नाट्यशास्त्र'

---

(१) **अलंकारो हि बाह्यालंकारसाम्याद् अंगिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते। (द्वितीय उद्योत, कारिका १७)।**

(२) **अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्कारा:। (३, ३७ पर वृत्ति)।**

(३) **रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।**
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः। (३, ४३, वृत्ति)।

(४) **रसादिष् विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।**
तदा नास्त्येव तत् काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः। (वही)।

(५) **मुख्या महाकविगिराम् अलंकृतिभृतामपि।**
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्।३।३८।

मे अलकारशास्त्रीय विषय लिखा, फिर भी आधुनिक विद्वान् अग्निपुराण के साहित्य-शास्त्रीय अश को भरत, भामह तथा दण्डी से निश्चय ही उत्तर रचना मानते है, अग्निपुराण के इस अश का काल ९०० ई० के आसपास है। इस ग्रथ की शैली भी इसी तथ्य की समर्थक है, जिस विकसित रीति पर इसमे विवेचन किया गया है, वह प्राच्य आचार्यो के स्थान पर नव्य आचार्यो का ही स्मरण कराती है। और यह पुराण एक सग्रह ग्रथ है, इसमे अनेक विषय है प्राय दूसरो के ही मतानुसार लिखे हुए, मौलिक उद्भावना का यहा प्रश्न ही नही आता।

अग्निपुराण के दस अध्यायो (३३६ से ३४६) मे काव्यशास्त्र का विषय है। ३४२ से ३४४ अध्याय तक अलकार है—३४२ अध्याय मे शब्दालकार, ३४३ मे अर्थालकार तथा ३४४ मे शब्दार्थालकार, इस पिछले अध्याय मे न जाने क्यो आक्षेप, समासोक्ति आदि अलकार भी रख दिये है।

अग्निपुराण सग्रह-ग्रथ है। अत इसमे दूसरो की छाया तो है ही, दूसरो को अक्षरश भी ग्रहण कर लिया है। भरत की कारिकाएँ अनेक स्थलो पर है, भामह से रूपक, आक्षेप, अप्रस्तुतप्रशसा, पर्यायोक्ति, तथा समासोक्ति के लक्षण लिये है, तथा दण्डी से रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपन्हुति एव समाधि के। ऐसे ग्रथ मे मौलिकता की खोज व्यर्थ है, लेखक के अपने कोई विशेष सिद्धान्त नही, उसने पूर्व आचार्यो के समन्वय का निष्कर्ष अपनी रचना मे सजा दिया है।

कुन्तक वक्रोक्तिजीवित (सन् ९२५-१०२५ के बीच)

राजानक कुन्तक (या कुन्तल) 'वक्रोक्तिकार' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इनका सम्प्रदाय ध्वनि के विरोध मे वक्रोक्ति को काव्य का प्राण मानता है। 'वक्रोक्ति-जीवित' मे ४ उन्मेष है। इस ग्रथ के ३ अग है—कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण, उदाहरण तो दूसरे पूर्व साहित्यिको से लिये गये है[1] परन्तु वृत्ति इस कृति का एक अपृथक् अग[2] है। कुन्तक ने अपनी रचना को 'काव्यालकार' कहा है और उसका उद्देश्य लोकोत्तर चमत्कारकारी वैचित्र्य की सिद्धि माना है।[3]

'वक्रोक्ति' शब्द हमारे लिये नया नही है। भामह ने वक्रोक्ति को अलकार का प्राण[4] माना, इसके अभाव मे कुछ अलकारो से अलकारत्व छीन लिया और आनुषगिक रूप से इसको काव्य के लिए भी आवश्यक बतलाया। दण्डी ने वाङ्मय के दो भेद किये—स्वभावोक्ति[5] तथा वक्रोक्ति। कुन्तक ने भामह से ऐकमत्य-सा प्रकट करते हुए वक्रोक्ति को ही

---

(१) श्री काणे, LXXIX

(२) संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १३७।

(३) लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।१।२।

(४) कोऽलंकारोऽनया विना।२।८५॥

(५) भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्॥२।३६२॥

काव्य का प्राण माना है, अलकार भी इसी के अन्तर्गत आ जाते है। वक्रोक्ति अलकार नही, और न अलकार-मात्र का ही प्राण है, यह तो काव्य की आत्मा है, कविकर्म मे कुशल[1] सौंदर्य का नाम वक्रोक्ति है।

अलकार के प्रति कुन्तक की दृष्टि समन्वित है। अखिल अलकार-वर्ग का उन्होने 'वाक्य-वक्रता' मे अन्तर्भाव[2] किया है। वे **'सालंकार की काव्यता'** (१, ६) मे विश्वास रख कर भी, अधिक अलकारो के पक्ष मे नही है (१, ३५)। अत तृतीय उन्मेष मे रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्विन्, उदात्त, समाहित के साथ-साथ यथासख्य, आशी, विशेषोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, तथा उपमारूपक को अलकार नही माना गया, तुल्ययोगिता, निदर्शना, परिवृत्ति आदि का उपमा मे अन्तर्भाव कर लिया है, और विभावना, ससन्देह, अपन्हुति, ससृष्टि तथा सकर को अधिक महत्त्व नही दिया। कुन्तक के मान्य अलकार दीपक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशसा, पर्यायोक्त, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, श्लेष, व्यतिरेक, सहोक्ति, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास तथा आक्षेप है।

रसवत्, रूपक तथा उत्प्रेक्षा के प्रति 'वक्रोक्ति-जीवित' का व्यवहार विशिष्ट है। पुराने रसवत् का खडन करके कुन्तक नवीन रसवत् को **सर्वालंकार-जीवित**[3] कहते है, भामह की वक्रोक्ति के समान कुन्तक का रसवत् अलकार-मात्र के अन्त स्थ सौंदर्य का नाम है।[4] रूपक को उपचार-वक्रता का आधार माना है—**उपचारैकसर्वस्वम्**, उत्प्रेक्षा अन्य अलकारो के सौंदर्य का अपहरण करके अति लावण्यमयी[5] बन जाती है। उल्लिखित अलंकारो के अतिरिक्त अन्य मे कुन्तक ने अलकारत्व नही माना[6]।

महिमभट्ट व्यक्तिविवेक (सन् ११५० के आसपास)

राजानक महिमभट्ट ने व्यक्ति (व्यजना) के विवेक (आलोचना) के लिए अपनी एकमात्र कृति 'व्यक्तिविवेक' लिखी, जिसमे ध्वनि-सिद्धान्त का खडन करके उसके समस्त सौंदर्य को अनुमान का विषय सिद्ध किया है।[7] 'व्यक्तिविवेक' नामक 'काव्यालकार'[8]

(१) वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥१।१०॥

(२) यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोऽप्यन्तर्भविष्यति ॥१।२०॥

(३) यथा स रसवन्नाम सर्वालंकार-जीवितम्।
काव्यैकरसतां याति, तथेदानी विवेच्यते ॥

(४) रसोऽस्यास्तीति रसवत् काव्यम्, तस्य भावः, तत्त्वम् ततः सरसत्वसम्पादनात् ॥

(५) अपहृत्यान्यालंकारलावण्यातिशयश्रियः।
उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते ॥

(६) भूषणान्तरभावेन शोभाशून्यतया तथा।
अलंकारास्तु ये केचिन्नालङ्कारतया मनाक् ॥

(७) अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥१।१॥

(८) प्रत्येक विमर्श के अन्त मे "इति श्री राजानकमहिमभट्टविरचिते व्यक्तिविवेकाख्ये काव्याऽलंकारे....." आदि लिखा हुआ है।

मे ३ विमर्श है। प्रथम विमर्श मे 'ध्वनिलक्षणाक्षेप' है; द्वितीय मे 'शब्दानौचित्यविचार' है; और तृतीय मे 'ध्वनि का अनुमान मे अन्तर्भाव'। इस ग्रथ पर राजानक रुय्यक की ही एकमात्र टीका है। आचार्यों ने महिम के सिद्धात को स्वीकार न किया, यहा तक कि 'व्यक्ति-विवेक' के टीकाकार ने भी उसका उपहास-सा किया है।

महिमभट्ट ने ध्वनि के सौदर्य का खडन नही किया, परन्तु ध्वनि का आधार वे अनुमान को मानते है, व्यंजना को नही। शब्दो की एक ही वृत्ति है अभिधा, उसी से दो प्रकार के अर्थ की उपलब्धि होती है—अभिधेयार्थ तथा अनुमेयार्थ[१]। इस प्रकार लक्षणा और व्यंजना दोनो का अनुमान मे अन्तर्भाव हो गया। द्वितीय विमर्श मे द्विविध (अर्थविषयक तथा शब्द-विषयक) अनौचित्य का वर्णन है। ततीय विमर्श मे 'ध्वन्यालोक' के लगभग ४० उदाहरणो को कस कर यह स्थापना की गई है कि वे सब अनुमान के ही विषय है।

'व्यक्तिविवेक' मे अलकार का विवेचन नही है। अनुमेय अर्थ के अन्तर्गत ही अलंकार का सौदय रखा जा सकता है।

भोजराज . सरस्वतीकण्ठाभरण (सन् १०३०-१०५० के बीच)

धारानरेश भोजदेव के दो ग्रथ प्रसिद्ध है—सरस्वतीकण्ठाभरण तथा शृंगार-प्रकाश। 'शृगार-प्रकाश' ३६ प्रकाशो की रचना है और काव्यशास्त्र की सबसे विशालकाय कृति है;[२] इस ग्रथ के अन्तिम २४ प्रकाशो मे रस-विवेचन है, लेखक ने शृगार को ही एकमात्र रस मान कर अन्य रसो का उसी के भीतर अन्तर्भाव कर दिया है।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे ५ परिच्छेद है—'दोषगुण विवेचन', 'शब्दालंकार निर्णय', 'अर्थालकार निर्णय', 'उभयालकार विवेचन', तथा 'रसविवेचन'। इस कृति को अलंकार-ग्रथो मे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है, परन्तु इसमे मौलिकता[३] की अपेक्षा सग्रह[४] अधिक है, दण्डी[५] का काव्यादर्श इसका मूलाधार है। नाट्यशास्त्र, भट्टि, भामह, वामन, राजशेखर आदि के भी लगभग[६] १५०० उद्धरण दूसरो से यहा दिये गए है। इस ग्रथ की सबसे बड़ी

(१) अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः। स एव मुख्य उच्यते। ..... तत एव तदनुमिताद्वा लिंगभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोऽनुमेयः। स च त्रिविधः वस्तुमात्रमलङ्कारा रसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवतः। अन्यस्त्वनुमेय एवेति। तत्र पदस्यार्थो वाच्य एव नानुमेयः, तस्य निरंशत्वात् साध्य-साधनभावाभावतः। (पृ० ३९–४०)।

(२) संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १४७।

(३) 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' (पृ० २११) ने इस पुस्तक में 'विषय-विवेचन की मौलिकता' को सिद्ध किया है।

(४) संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १४८।

(५) सोऽयं ग्रंथः काव्यादर्शस्य दण्डिविरचितस्य विशेषा संस्कृतिर्नाम। अत्र बहवः श्लोकाः काव्यादर्शस्थाः कारिकारूपेणोदाहरणरूपेण च संकलिताः।
('सरस्वतीकण्ठाभरण' की भूमिका, पृ० १८)।

(६) संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १४९।

विशेषता तो यही है कि प्रतिपाद्य विषय के अधिक से अधिक उदाहरण दिये गए है, प्रचलित अनेक विचारधाराओ का समन्वय भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है।

भोजदेव का अलंकार के प्रति दृष्टिकोण प्रथम परिच्छेद मे भी कई स्थलो से स्पष्ट हो जाता है। दोषो की गिनती करते हुए **निरलंकार** को ये काव्य का दोष बतलाते है (१, ५३), और ऐसा इन्होने एक से अधिक स्थलो पर किया है (१, १३४, १, १५१ आदि)। काव्य मे अलकार की अपेक्षा गुण का महत्त्व अधिक है, काव्य अलकृत होने पर भी गुणरहित[1] न हो क्योकि गुण का आकर्षण स्वाभाविक है। अलकार का भी अपना महत्त्व है, रूपवती यदि आभूषणो से युक्त हो तो अधिक रमणीय लगती है, और यदि उसका यौवन बीत चुका है, तो अलकार भी शोभाकारक नही हो सकते (१, १५८–१५९)।

सरस्वतीकण्ठाभरण मे द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ परिच्छेद अलकारो के है। द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ मे अलकार के तीन वर्ग बताये है—बाह्य, आभ्यतर तथा उभय। बाह्य शब्दालकार है, इनकी सख्या २४ है, जाति, गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य तथा अभिनीति। इस परिच्छेद मे औचित्य को अलकार का मूल आधार अनेक बार कहा है (२, ६, २, १८)। काव्य के जितने शब्द सबधी गुण है, वे शब्दालकार के नाम से सन्निविष्ट हो गए है। यमक और चित्र का तो प्रचुर विस्तार है ही, अनुप्रास को भी एक विशेष महत्त्व मिल गया है—जिस प्रकार ज्योत्स्ना चद्र को या लावण्य अंगना को विभूषित करता है, उसी प्रकार अनुप्रास काव्य की शोभा मे सक्षम[2] है; यदि उपमा आदि न हो, तब भी अनुप्रास से काव्य की शोभा हो जाती है।[3]

तृतीय परिच्छेद मे भी २४ अलकार है, ये सब आभ्यतर है क्योकि ये अर्थ के अलंकरण मे समर्थ (अलमर्थमलकर्तुम्) है। जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, संभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद, समाहित, भ्राति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति तथा अभाव। जैमिनी के ६ प्रमाणो को भी अर्थालकार मान लिया; जाति शब्दालंकार मे भी आ चुका है, यद्यपि उसका रूप भिन्न है, अहेतु भी नया लगता है। इन अलकारो के भेद-प्रभेद भी दिये है, परन्तु प्रत्येक भेद मे चमत्कार नही है।

शब्दार्थ दोनो के अलंकार उभयालंकार कहलाते है क्योकि इनकी प्रतीति शब्द से

---

(१) **अलंकृतिमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्।**
गुणयोगस्तयोर्मुख्यो गुणालंकारयोगयो ॥ ॥१।५९॥

(२) **यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं यथा लावण्यमङ्गनाम्।**
अनुप्रासस्तथा काव्यमलंकर्तुमयं क्षमः ॥२।७६॥

(३) **उपमादिवियुक्तापि राजते काव्यपद्धतिः।**
यद्यनुप्रासलेशोऽपि हन्त तत्र निवेश्यते ॥२।१०६॥

भी होती है और अर्थ से भी,[1] इनके नाम है उपमा, रूपक, साम्य, सशय, अपन्हुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक तथा समृष्टि। भोजदेव को २४ की सख्या से कुछ ऐसा प्रेम है कि उपमा और रूपक के भी २४ भेद किये है। लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि जहा पर शब्द और अर्थ दोनो होगे, वही उभयालकार होगा, परन्तु लुप्तोपमा का भी यहा वर्णन है। साम्य का लक्षण है चातुर्य से औपम्यार्थ का अवगमन, इसके भेद अनन्त है, दृष्टात आदि इसी के अन्तर्गत आ गये है। इस परिच्छेद मे अतिशयोक्ति अलकार की प्रशसा की गई है, कदाचित् प्राचीन आचार्यो से प्रभावित होकर और इसको अनेक अलकारो का आश्रय बताया गया है। (४, ८४)।

सरस्वतीकण्ठाभरण के विषय मे श्री कन्हैयालाल पोद्दार का मौलिकता विषयक मत स्वीकार्य नही। इसमे सदेह नही कि लेखक का अध्ययन विशाल है, फलतः उदाहरण-योजना द्वारा यह ग्रथ भी 'अध्ययन सदृशाकार' बन गया है। यदि सरस्वतीकण्ठाभरण की विचित्रताओ को मौलिकता माना जाय तो आद्योपान्त एक रूपरेखा इस कृति मे दृष्टिगोचर नही होती। क्रीडापरक २४ की सख्या, तीन वर्ग और प्रत्येक वर्ग मे पकड-पकड कर अलकारो की स्थापना इस ग्रथ को ग्रथिमय बनाकर पाठक को ज्ञानाज्ञान-विमूढ ही बना सकती है।

क्षेमेन्द्र　औचित्य-विचार चर्चा　(सन् १०६३ से पूर्व)

प्रसिद्ध काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने काव्यशास्त्र की दो पुस्तके 'औचित्यविचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' लिखी है, 'कविकण्ठाभरण' कवि-शिक्षा की पुस्तक है, जिसकी ५ सधियो मे **'लक्ष्यलक्षण'** देकर कवियश प्रार्थियो के हितार्थ लाभदायक बातो का वर्णन है। 'औचित्यविचार-चर्चा' मे आचार्य का प्रतिपादन यह है कि काव्य का प्राण औचित्य है, अलंकार तथा गुण उचित मात्रा तथा उचित स्थान के कारण ही अपने कर्तव्य मे कृतकार्य हो सकते है —

(क) अलंकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ॥५॥

(ख) उचितस्थान-विन्यासाद् अलंकृतिरलङ्कृतिः ॥६॥

(ग) अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥१५॥

क्षेमेन्द्र ने जीवन से उदाहरण लेकर यह बतलाया है कि उचित देश-काल के बिना अलकार हास्यास्पद बन जाता है, वस्तुत देश-काल-पात्र की अनुकूलता के अभाव मे अलकार भी भार बन जाते है, क्योकि ये अन्त करण के प्रतिविम्ब है, बाह्य-शोभाकारक मात्र नही।

---

(१) **शब्देभ्यो यः पदार्थेभ्य उपमादिः प्रतीयते।**
विशिष्टोऽर्थः कवीनां ता उभयालंक्रियाः प्रियाः ॥३।१॥

मम्मट : काव्यप्रकाश (सन् ११०० के आसपास)

'काव्यप्रकाश' अलकार शास्त्र के इतिहास मे एक विशेष महत्त्व का ग्रंथ है, इसके जन्म से इस शास्त्र की एक स्थिर धारा प्रवाहित होने लगती है और सामान्य पाठक पूर्वाचार्यों को भूल-सा जाता है, हिन्दी के आचार्य तो मम्मट से पूर्व कम ही गए है। इस ग्रंथ की प्रसिद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि विभिन्न प्रदेशो के भिन्न-भिन्न प्रकार के आचार्यों ने काव्यप्रकाश पर टीका लिखने मे अपना गौरव समझा है। 'काव्यप्रकाश' की एतादृशी सफलता का रहस्य है पूर्व शास्त्र के मन्थन से उत्तर अध्येताओ के हेतु एक अपूर्व पदार्थ तैयार कर देना। 'काव्यप्रकाश' के मनन से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्वचित् नामपूर्वक परन्तु प्रायः नामोल्लेख बिना ही मम्मट ने पूर्ववर्ती आचार्यों को स्थिर चित्त से तोला है, और उनमें से सार को ग्रहण कर अनुपयोगी का उदासीनतापूर्वक निरसन किया है। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन आदि सभी आचार्यो की काव्य-प्रकाश मे ऐसी ही मान्यता है। 'काव्यप्रकाश' सर्वांगीण पुस्तक है, और सभी सिद्धातो का इसमें सतुलित समावेश है।

इस पुस्तक के भी तीन अग है—कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। उदाहरणो के विषय मे कोई मतभेद नही, परन्तु कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्तिकी रचनाएँ है या नही—इस विषय पर विद्वानो मे मतभेद चल चुका है। 'काव्यप्रकाश' के १० उल्लासो मं १४२ कारिकाएँ हैं।

'काव्यप्रकाश' के प्रथम उल्लास मे मम्मट ने **'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'** लिख कर भामह के **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** तथा **'विलक्षमणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते'** मे जो अत्याधान किया वह गुण की नित्य तथा अलंकार की अनित्य सत्ता मानने से है—जो वामन का ही प्रभाव है। परन्तु उत्तर आचार्यों ने अलंकार की अनित्य सत्ता निर्विरोध स्वीकार न की, अत मम्मट का मुख्य विरोध इसी तथ्य को लेकर रहा, इस विरोध के नेता जयदेव थे, जिन्होने व्यङ्ग्यपूर्वक इस मत को फटकारा। हिन्दी के आचार्यों मे से अधिकतर तो जयदेव के मार्गानुलम्बी थे, और कतिपय-मात्र ही मम्मट के, फिर भी कोई मम्मट का खण्डन न कर सका—स्वमत का समर्थन अवश्य है।

अष्टम उल्लास मे मम्मट गुण और अलकार का अन्तर इन शब्दो मे स्पष्ट करते है—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्तु स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥६६॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥६७॥[1]

इन कथनो का साराश यह है कि गुण और अलकार का भेद रस पर आश्रित है, गुण

(१) **(छाया) काव्य में रस अंगी है, उसके उत्कर्षक नित्य धर्म 'गुण' है; ये उसी प्रकार है जैसे व्यक्ति में शूरता आदि। 'अलंकार' हार आदि आभूषणों के समान है, ये कदाचित् रस का उपकार करते है, सर्वदा नहीं; जहां रस नहीं है, वहां भी अलंकार रह सकता है।**

रस से नित्य सम्बद्ध है, अलंकार नही—गुण रस के बिना रही रहते, अलंकार की सम्भावना है; गुण उत्कर्षक धर्म है, अलकार केवल उपकारक, अलकार का कर्म अगवत् है, अगी से संश्लिष्ट नही। यह मत वामन का ही अनुकरण नही; वामन मे रस का आधार नही है; वामन ने गुण को शोभा का 'कर्त्ता' और अलकार को 'अतिशयता' माना था—मम्मट के 'उत्कर्षक' तथा 'उपकारक' इन शब्दो के तुल्यार्थक है, वस्तुत 'गुण' शोभा के 'कर्त्ता' नही प्रत्युत 'प्रतिविम्बक' है।

'काव्य प्रकाश' के नवम उल्लास मे वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास शब्दालकार है। ये सभी पुराने है, क्रम मे भी कोई नवीनता नही है।

दशम उल्लास मे ६१ अर्थालकार है, प्राय पुराने ही, अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम सम्भवत [1] मम्मट द्वारा नवाविष्कृत है। मम्मट मे मौलिकता अधिक नही, परन्तु उनकी प्रौढता अतुलनीय है, प्रौढता के ही कारण महेश्वर भट्टाचार्य [2] ने कहा था कि काव्य-प्रकाश की घर-घर मे टीकाए है तथापि यह दुर्गम है।

नवम (शब्दालकार विषय) तथा दशम (अर्थालकार विषय) उल्लासो मे आचार्य मम्मट के अलकार के सम्बन्ध मे निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है—

(क) जो शब्द या अर्थ कविप्रतिभा के बल से ग्राह्य बनता है, उसी मे विचित्रता है, वही अलंकार-भूमि है, क्योंकि वैचित्र्य ही अलंकार है [3]।

(ख) यह (चित्र) कष्ट काव्य है, इसलिए इसको दिङ्मात्र ही दिखाते है। ... इसके अन्य भी अनेक प्रभेद हो सकते है, जो शक्तिमात्र के प्रकाशक है, उनमें काव्यत्व नहीं होता, इसलिए उनको नहीं दिया जा रहा। [4]

(ग) 'आयुर्घृतं' इत्यादि रूपवाला हेतु अलंकारत्व के योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें वैचित्र्य का अभाव है। [5]

(घ) इस प्रकार के विषय में सर्वत्र अतिशयोक्ति ही प्राण बनकर रहती है, उसके बिना प्रायः अलंकार नहीं होता। [6]

---

(१) संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २२१।

(२) काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गम इति।

(३) किं च वैचित्र्यमलङ्कार इति य एव कविप्रतिभासंरम्भगोचरस्तत्रैव विचित्रता इति सैवाऽलङ्कारभूमिः। (शब्दश्लेष पर वृत्ति, पृ० २१५)

(४) कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते।
सम्भविनोऽप्यन्ये प्रभेदाः शक्तिमात्रप्रकाशका न तु काव्यरूपतां दधतीति न प्रदर्श्यन्ते। (चित्र पर वृत्ति, पृ० २१७)।

(५) 'आयुर्घृतम्' इत्यादिरूपो ह्येष (हेतुः) न भूषणतां कदाचिदर्हति वैचित्र्याभावात्। (कारणमाला पर वृत्ति, पृ० २७९)।

(६) सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्.....। (विशेष पर वृत्ति, पृ० २९५)

मम्मट के विषय मे ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये भामह मे विश्वास रखते होगे; भामह के **'कोऽलङ्कारोऽनया विना'** को उद्धृत (पृ० २९६) करके समस्त अलंकारो को इन्होने वक्रोक्तिमूलक कहा है, स्वभावोक्ति का सक्षिप्त तथा सौदासीन्य कथन है, हेतु का स्पष्ट निरसन किया है और लेश की नितान्त उपेक्षा कर दी है। मम्मट ने अलकारो को अन्तिम उल्लास दिये है, उनको रस के उपकारक, वक्रोक्ति-मूलक तथा वैचित्र्योत्पादक बतलाया है, शब्दालकार अर्थालंकारो से पूर्व आ गये है।

रुय्यक : अलकार-सर्वस्व (सन् ११३५-११५५ के बीच)

रुय्यक अलंकार-विषय के प्रौढ आचार्य है, इनके अनेक ग्रन्थो मे से केवल अलकार-विषय पर 'अलंकार-सर्वस्व' बहुत प्रसिद्ध है, इसके सूत्र तो निश्चय ही रुय्यक प्रणीत है परन्तु वृत्ति को कुछ लोग मङ्खक की रचना मानते है। रुय्यक अलकार-शास्त्र के इति-हास की एक अमूल्य मणि है, पूर्व आचार्यों के मत की 'अलकार-सर्वस्व' मे चर्चा है, और उत्तर आचार्यों पर रुय्यक का प्रभाव है।

आदि मे रुय्यक ने भामह से लेकर व्यक्तिविवेककार तक के मत पर विचार किया है, भामह, उद्भट, वामन, आदि को 'प्राच्य' (प्राचीन) आचार्य माना गया है, तथा भामह एव उद्भट को **चिरंतनालंकारकार**[1] नाम दिया गया है। इन आचार्यो का मत है कि प्रतीयमान अर्थ भी अलकार के अन्तर्भूत है, परन्तु ध्वनिवादी रुय्यक इससे सहमत नही[2]। रुय्यक के शब्दो मे प्राच्याचार्यो के मत का साराश यह है —

(क) भामह, उद्भट प्रभृति चिरन्तन अलंकारकार प्रतीयमान अर्थ को अलंकार के अन्तर्भूत मानते है।

(ख) रुद्रट ने भावालंकार दो प्रकार का बताया है; रूपक, दीपक, अपन्हुति, तुल्य-योगिता आदि में उपमा आदि अलंकार कथित है, उत्प्रेक्षा प्रतीयमान है।

(ग) रसवत् प्रेयस् आदि में रसभाव आदि शोभा के कारण है।

(घ) इस प्रकार तीनों (वस्तु, अलंकार, रस) मे ही प्रतीयमान अलंकार के अन्त-र्भूत है।

(ङ) वामन ने ध्वनिभेद को अलंकार ही कहा है।

(च) उद्भट आदि में गुण और अलंकार का प्रायः साम्य ही है।

(छ) इस प्रकार प्राच्यों के मत से काव्य में अलंकार ही प्रधान[3] है।

ध्वन्युत्तरकाल से कुन्तक, भट्टनायक, आनन्दवर्धन तथा महिमभट्ट का मत विवेच्य है.—

(क) वक्रोक्तिजीवितकार। अलंकार[4] अभिधान के प्रकार विशेष ही हैं। उक्तिवैचित्र्य ही काव्य है, व्यङ्ग्यार्थ नहीं।[5]

---

(१) भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः . . . .। (पृ० १)

(२) तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकारतया ख्यापितमेव। (४)

(३) तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ॥६॥

(४) अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः। (६)

(५) केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यम्, न व्यङ्ग्यार्थजीवितम् . . . .।(७)

रुय्यक का मत है कि काव्य का जीवन व्यग्य है, गुणालकार उसके चारुत्वहेतु है, रसादि को अलकार कहना उचित नही[1]। व्यग्य के प्राधान्य तथा अप्राधान्य से काव्य के २ भेद है--ध्वनि तथा गुणीभूतव्यग्य, व्यग्य की अस्फुटता मे अलकारवत् चित्र काव्य का तीसरा भेद है। रसादि ध्वनि का वर्णन 'अलकारमजरी'[2] मे किया है; क्योकि (रस) काव्य मे शृगार की ही प्रधानता होती है। गुणीभूतव्यग्य की समासोक्ति आदि मे यथा-सभव चर्चा है। चित्र के शब्दालकार अर्थालकार आदि के कारण अनेक भेद है (अत इनका विवेचन इस पुस्तक मे किया जा रहा है)। इस प्रकार 'अलकार-सर्वस्व' रुय्यक की योजना का एक अग है, सिद्धान्त की शिरोमणि रचना नही।

शब्दार्थालकारस्वभाव चित्र काव्य मे प्रथम यह ज्ञात हो कि 'पौनरुक्त्य' के ३ प्रकार है--शब्दपौनरुक्त्य, अर्थपौनरुक्त्य तथा शब्दार्थपौनरुक्त्य। पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्राम, वृत्यनुप्राम, यमक तथा लाटानुप्राम पौनरुक्त्य के इन ५ प्रकारो[3] मे पुनरुक्तवदाभास अर्थपौनरुक्त्याश्रित है, छेक आदि ३ शब्दपौनरुक्त्याश्रित तथा लाटानुप्रास उभयाश्रित। पौनरुक्त्य के आधार पर अलकारो का यह विवेचन बडा रोचक है। अन्त मे चित्र अलकार है, श्लेष को यहा स्थान नही मिला। वस्तुत रुय्यक का उद्देश्य अलकारो का सविस्तर विवेचन नही ज्ञात होता प्रत्युत वे उनके लक्षण देकर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहते है।

अब अर्थालकार है। साधर्म्य के ३ प्रकार है-भेद प्रधान, अभेद प्रधान तथा भेदा-भेद-तुल्य (दे० 'एकावली'-प्रसग)। उपमा मे भेदाभेदतुल्य साधर्म्य होता है, यह उपमा अनेक प्रकार के वैचित्र्य[4] मे अलकारो का बीज बनी हुई है इसलिए इसका सर्वप्रथम निर्देश है, इस के पूर्णा, लुप्ता आदि भेदो का 'चिरतनो' ने बहुविध विवेचन किया है; यहा प्रति-वस्तूपमावत् तथा दृष्टान्तवत् इन दो के ही उदाहरण है। अनन्वय, उपमेयोपमा, स्मरण के अनतर अभेदप्रधान रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपन्हुति का विवेचन है। फिर अध्यवसाय गर्भ के उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति, पदार्थगत औपम्य के तुल्ययोगिता तथा दीपक, वाक्यार्थगत औपम्य के प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा निदर्शना है। अब भेद-प्रधान

---

(१) **तस्माद् विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः। यस्य गुणालंकार-कृतचारुत्व परिग्रहसाम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः। अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद् रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितम्....।** (८)

(२) **जयरथ के अनुसार रुय्यक की एक कृति का नाम 'अलंकारानुसारिणी' है, संभव है 'अलंकार-मंजरी' और 'अलंकारानुसारिणी' एक ही रचना के दो नाम हों। (विपरीतमत के लिए देखिए, संस्कृत पोइटिक्स, पृ० १९५)।**

(३) **तदेवं पौनरुक्त्ये पंचालंकाराः।** (२०)

(४) **उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा।** (२१)।

व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति है; विशेषणविच्छित्ति के समासोक्ति तथा परिकर, विशेष्ययुक्त विशेषणसाम्य का श्लेष। तदनन्तर अप्रस्तुतप्रशसा,अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप, विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, कारणमाला, एकावली, मालादीपक, उदार, काव्यलिंग, अनुमान, यथासख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक तथा उदात्त है। समृष्टि तथा सकर से पूर्व रसवदादि तथा भावोदयादि भी हैं।

रुय्यक का उद्देश्य अलकारो के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत करना न था इसलिए 'अलकार-सर्वस्व' मे वे प्राय दूसरे आचार्यो की ओर सकेत करते है, अनेक भेदोपभेदो का वर्णन उनको रुचिकर न लगा, कुछ बाते दूसरे आचार्यो से ज्यो की त्यो भी ली गई है। 'अलकार-सर्वस्व' म सूत्रो का महत्त्व कम है, वृत्ति का अधिक, लेखक का उद्देश्य अनुशीलन है, पूर्वापर साहित्य के अध्ययन के बिना 'अलकार-सर्वस्व' से उतना लाभ नही उठाया जा सकता।

वाग्भटद्वय वाग्भटालकार तथा काव्यानुशासन

वाग्भट नाम के ४ कवि थे[1], जिन मे से दो ने अलकार-शास्त्र पर भी लिखा है और सयोगवश दोनो ही जैन थे और दोनो की कृतियो मे ५ अध्याय है। वाग्भट प्रथम (१२वी शती) की कृति 'वाग्भटालकार' है, जिसमे ५ परिच्छेद है, शब्दालकार चतुर्थ मे तथा अर्थालकार पचम परिच्छेद मे है—पचम के अन्त मे रीति का भी वर्णन है। ये वाग्भट प्राकृत के भी कवि थे, वस्तुत इनका नाम 'बाहड' था, 'वाग्भट' उसी का सस्कृत रूप है। 'वाग्भटालकार' मे प्राकृत के भी अनेक उदाहरण है, और एक गद्यखण्ड भी है, आचार्यो का अनुमान है कि इस पुस्तक के समस्त उदाहरण[2] स्वरचित है।

वाग्भटालकार मे केवल ४ 'ध्वन्यलकिया' (शब्दालकार) है—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास तथा यमक, चित्र के कुछ चित्र प्रथम परिच्छेद मे भी आ चुके थे। चतुर्थ परिच्छेद (श्लोक २ से ६ तक) मे ३५ अर्थालकार गिनाये है, जिनका उसी क्रम से पचम परिच्छेद मे वर्णन है। अर्थालकार है—जाति, उपमा, रूपक, प्रतिवस्तूपमा, भ्रान्तिमान् आक्षेप, सशय, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अपन्हुति, तुल्ययोगिता, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, विभावना, दीपक, अतिशयोक्ति, हेतु, पर्यायोक्ति, समाहित, परिवृत्ति, यथासख्य, विषम, सहोक्ति, विरोध, अवसर, सार, श्लेष, समुच्चय, अप्रस्तुतप्रशसा, एकावली, अनुमान, परिसख्या, प्रश्नोत्तर, सकर। अन्य अलकारो का वर्णन या तो इसलिए नही है कि उनमें चमत्कार का अभाव है, या इसलिए कि उनका अन्तर्भाव[3] इन्ही मे हो सकता है।

---

(१) **संस्कृत पोइटिक्स, पृष्ठ २०५.**

(२) **श्री काणे,** CXIII

(३) **अचमत्कारिता वा स्यादुक्तान्तर्भाव एव वा।**
अलंक्रियाणामन्यासाम् अनिबन्धनिबन्धनप् ॥५।१४९॥

वाग्भट द्वितीय (१४वी शती) की कृति 'काव्यानुशासन' है; कवि ने इस पर 'अलंकारतिलक'[१] नामक टीका भी स्वय लिखी। इस पुस्तक के मुख्य आधार 'काव्यमीमासा' तथा 'काव्यप्रकाश' है। 'काव्यानुशासन' मे ५ अध्याय है, तृतीय अध्याय मे ६३ अर्थालकार है; चतुर्थ मे ६ शब्दालकार। अर्थालकारो मे से अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, मत, उभयन्यास, भाव तथा आशी ध्यान देने योग्य है। "इसने १ 'आशी' अलकार भट्टि, भामह और दण्डी द्वारा निरूपित और ४ अलकार भाव, मत, उभयन्यास और पूर्व रुद्रट द्वारा निरूपित यह ५ अलकार ऐसे लिखे है, जिनको इनके आविष्कारको के सिवा इसके पूर्ववर्ती मम्मट आदि किसी ने निरूपित नही किये थे। और २ अलकार 'अन्य' तथा 'अपर' नवीन भी लिखे है किन्तु यह दोनो ही महत्वसूचक नही, जिसे इसने 'अन्य' कहा है वह प्राचीनो की तुल्ययोगिता के अन्तर्गत है"[२]। वाग्भट ने शब्दालकारो से पूर्व अर्थालकारो को रखने का कारण बताया है कि शब्द भी तो अर्थ के आश्रय[३] से ही आता है, इसलिए अर्थ मुख्य हुआ।

इस कृति मे वाग्भट प्रथम का अनुकरण भी है और उल्लेख भी। यह पुस्तक छोटी, सरल तथा रोचक है।

हेमचन्द्र · काव्यानुशासन (सन् ११५० से उत्तर)

'शब्दानुशासन'[४] लिखने के बाद जैन आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' लिखा। यह पुस्तक सूत्र-शैली मे लिखी गई है, आचार्य ने इन सूत्रो पर स्वयमेव[५] 'अलकारचूडामणि' नामक वृत्ति तथा 'विवेक'[६] नामक टीका लिखी है। 'काव्यानुशासन' मौलिक ग्रन्थ नही है, परन्तु लेखक की सकलन-प्रतिभा का सुपरिचायक है, राजशेखर, अभिनवगुप्त, वक्रोक्तिकार, मम्मट आदि के नामोल्लेख के बिना ही लबे-लबे उद्धरण इस पुस्तक मे अक्षरश ले लिये गये है[७]।

'काव्यानुशासन' मे ८ अध्याय है। अलकार–विषय पचम तथा षष्ठ अध्यायो मे है। शब्दालकार ५ है––अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति तथा पुनरुक्ताभास,, सर्व-स्वीकृत क्रम मे परिवर्तन का कोई कारण दृष्टिगोचर नही होता। षष्ठ अध्याय मे अर्थालकार है, सख्या मे केवल २९। अर्थालकारो की सख्या दो कारणो से कम हो गई है। एक, कुछ अलकारो का क्षेत्र विशाल करके उनके सहवर्गी भी उनके अधीन बना दिये है, संकर मे

(१) तेनैव कविना विनिर्मितयालंकारतिलकवृत्तिरित्याख्यया व्याख्यया समलंकृतम्।
(२) संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २६७.
(३) तत्र तावद् अर्थमधिकृत्य शब्दः प्रवर्ततेऽतः प्रथममर्थालंकारा एवोदाह्रियन्ते (तृतीयोऽध्यायः)।
(४) शब्दानुशासनेऽस्माभिः साध्व्यो वाचो विवेचिताः।१।२॥
(५) स्वोपज्ञालंकारचूडामणिसंज्ञक वृत्तिसमेतम्।
(६) विवरीतुं क्वचिद् दृब्धं नवं संदर्भितुं क्वचित्।
काव्यानुशासनस्यायं विवेकः प्रवितन्यते॥
(७) संस्कृत पोइटिक्स, फुटनोट, पृ० २०३।

समसृष्टि का, दीपक मे तुल्ययोगिता का, परावृत्ति मे पर्याय तथा परिवृत्ति का, एव निदर्शन मे प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टात का समावेश होगया है। यह स्थूलीकरण किसी प्रतिभा का द्योतक नही, क्योकि विकसित अवस्था के सूक्ष्म भेद की उपेक्षा कभी प्रशस्य नही हो सकती, और स्थूलीकरण मे भी यदि पुरातन नाम को जीवक तथा उत्तरोद्भूतो को उपजीवी माना जाता तो भी ठीक था--हेमचन्द्र ने पुराने ससृष्टि, दृष्टान्त आदि को अधीन बनाकर उनसे पीछे जन्मने वाले अलकारो को मुख्यता देकर भूल की है।

सख्या की कमी का दूसरा कारण कुछ अलकारो का त्याग है--रस, भाव से सम्बद्ध तथा अनन्वय, उपमेयोपमा आदि को तो बिलकुल छोड दिया है, परिकर, यथासख्य, विनोक्ति, भाविक, उदात्त, आशी तथा प्रत्यनीक मे अलकारत्व नही माना, इनका अन्य सौन्दर्यो मे समावेश है (अलकार चूडामणि पृ० २५१ से ३५४ तक)। अलकार विषय मे इतनी काट-छाट करते हुए भी इस ग्रथ मे कोई मौलिकता नही है। हेमचन्द्र केवल सग्रह मे ही दृढ रहते तब भी उनकी पुस्तक लाभदायक बन सकती थी, आचार्यत्व ने इस उपयोग की भी हानि कर दी।

जयदेव चन्द्रालोक (सन् १२००–१३०० के बीच)

पीयूषवर्ष जयदेव का 'चन्द्रालोक' अलकार–शास्त्र की अति प्रसिद्ध रचना है। इसकी दो मुख्य विशेषताए है--(क) मम्मट की मान्यता का प्रत्याख्यान करते हुए काव्य मे अलंकार की नित्य स्थापना, (ख) खण्डनमण्डन से रहित लक्षणोदाहरण के लिए परम उपयुक्त सक्षिप्त शैली। 'चन्द्रालोक' अलकार-शास्त्र की सामान्य रचना है, इसमे अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग है, जयदेव ने उदाहरण भी स्वयमेव बनाये है और उनको लक्षणो के साथ यथासभव एक ही छन्द मे रखा है--प्रत्येक प्रतिपाद्य के लिए एक पूर्ण छन्द, जिसके पूर्वार्ध मे लक्षण और उत्तरार्ध मे उदाहरण है। हिन्दी के आचार्यो पर जयदेव का प्रभाव अधिक रहा है।

'चन्द्रालोक' मे १० मयूख है, अलकार-विषय केवल पचम मयूख मे है। प्रथम मयूख मे शृगार आदि रसो से वृद्धिमती कविता को जयदेव ने 'स्वैरिणी' तथा 'निर्विचारकविता'[1] कहा है, और उसकी भर्त्सना करते हुए अपने 'अलकार–सागर' मे विचाररूपी 'वीचि-निचय' की ओर ध्यान आकृष्ट किया है--केवल रसवती कविता स्वैरिणी तथा निर्विचार है और अलंकारयुक्ता कविता 'विचार' को उल्लसित करती है। यह कहना संभव नही कि 'अलकार' और 'विचार' का अन्योन्य सम्बन्ध जयदेव ने क्यो माना, परन्तु वे पूर्वाचार्यों के मत का खण्डन नही कर रहे, केवल एक पक्ष (अलकार) का विशेष आग्रह कर रहे है--अलकार के विना कविता उसी प्रकार है जैसे उष्णता के विना अग्नि।[2]

(१) **हं हो चिन्मयचित्तचन्द्रमणयः संवर्धयध्वं रसान्**
रे रे स्वैरिणि निर्विचारकविते मास्मत्प्रकाशीभव।
उल्लासाय विचार-वीचि-निचयालंकार-वारांनिधे--
श्चन्द्रालोकमयं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती ॥१।२॥

(२) **अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।**
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती ॥१।८॥

पचम मयूख इस पुस्तक का मुख्य अग है। इस मे अलकार-विवेचन है। मम्मट की शब्दावली[1] मे ही अलकार का लक्षण देते हुए जयदेव अपनी पूर्व स्थापना (अग्नि मे उष्णत्व के समान) को भूल-से गये है। प्रथम ८ शब्दालकार है––छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, लाटानुप्रास, स्फुटानुप्रास, अर्थानुप्रास, पुनरुक्तप्रतीकाश, यमक तथा चित्र। तीन नाम नवीन है––स्फुटानुप्रास, अर्थानप्रास तथा पुनरुक्त प्रतीकाश, स्फुटानुप्रास साहित्य-दर्पण मे श्रुत्यनुप्राम है, अर्थानुप्राम नवीन तथा चमत्कारपूर्ण है, पुनरुक्तप्रतीकाश काव्यप्रकाश मे पुनरुक्तवदाभास था।

अर्थालकारो की सख्या ८५ और ९० के बीच मे है। भेदोपभेद भी समस्त है। उपमा से अत्युक्ति तक के अलकारो मे कुछ नवीन भी है, परन्तु अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यो के सभी अलकार जयदेव ने स्वीकार नही कर लिये। तदुपरान्त ४ रमवदादि और ३ भावोदय आदि के नाम गिनाकर इनकी अवहेलना है, इसी प्रकार शुद्धि आदि ३ को भी स्वतन्त्र नही माना, मालोपमा तथा रशनोपमा का भी खण्डन है। जो लोग अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति को सब अलकारो का मूल मानते है, उनसे जयदेव सहमत नही––जिस प्रकार मुख के उपाग समान होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति का अलग मुख और व्यक्तित्व होता है उमी प्रकार वक्रता रहते हुए भी सभी अलकार वक्रोक्ति के ही विकार नही है[2]। जयदेव नवीन अलकारो की स्वीकृति के पक्ष मे है[3]।

विद्याधर : एकावली (सन् १२८२ से १३२७ के बीच)

'एकावली' और 'केलिरहस्य' के रचयिता विद्याधर कलिग-नरेश नरसिह के आश्रित थे। 'एकावली' की कारिकाए, वृत्ति तथा समस्त उदाहरण विद्याधर-रचित ही है, उदाहरणो मे आश्रयदाता उत्कलाधिप की प्रशसा[4] है, इस दृष्टि मे यह ग्रथ प्रतापरुद्रयशोभूषण' 'नञ्जराजयशोभूषण','रघुनाथभूपालीय'[5] 'अलकारमजूषा' 'शिवराजभूषण' तथा 'जसवन्त-जसो-भूषण', की कोटि का है। 'एकावली' पर कोलाचल मल्लिनाथ की तरला टीका है, मल्लिनाथ ने कालिदास, भारवि आदि पर जो टीकाए लिखी है, उनमे 'एकावली' को उद्धृत किया है, यह भी 'एकावली' के महत्त्व का एक मुख्य कारण है।

'एकावली' मे ८ उन्मेष है। प्रथम उन्मेष मे ध्वन्यालोक का प्रभाव स्पष्ट है, शेष

---

(१) **हारादिवदलङ्कारास्ते ऽनुप्रासोपमादयः। (मम्मट)**
हारादिवदलङ्कारः सन्निवेशो मनोहरः। (जयदेव)

(२) **अलंकारप्रधानेषु दधानेष्वपि साम्यताम्।**
वैलक्षण्यं प्रतिव्यक्ति प्रतिभाति मुखेष्विव ॥५।१२४॥

(३) **अलंकारेषु तथ्येषु यद्यनास्था मनीषिणाम्।**
तदर्वाचीनभेदेषु नाम्नां नाम्नाय इष्यताम् ॥५।१२५॥

(४) **एष विद्याधरस्तेषु कान्तासंमितलक्षणम्।**
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन् ॥१।७॥

(५) **श्री काणे, पृ० CXVIII**

मे मम्मट और रुय्यक का। इस कृति का मूलाधार 'काव्यप्रकाश' है, मम्मट के १० उल्लासो की सामग्री को विद्याधर ने ८ उन्मेषो मे रख दिया है, 'एकावली' का मुख्य गुण आधार ग्रन्थ से अधिक सरल[१] तथा स्पष्ट होना है। अलकार-विषय सप्तम तथा अष्टम उन्मेषो मे है; यहा मम्मट के अतिरिक्त रुय्यक का प्रभाव है--मतभेद मे लेखक रुय्यक का पक्षपाती है; परिणाम, उल्लेख, विचित्र तथा विकल्प अलकार विद्याधर मे रुय्यक का अनुकरण प्रमाणित करते है।

पंचम उन्मेष मे मम्मट के अनुसार गुण तथा अलकार को अलग करके गुणत्रय का वर्णन है। षष्ठ उन्मेष मे दोष-विषय है। सप्तम मे शब्दालकार का प्रारम्भ पुनरुक्तवदाभास से ही चलता है। पुनरुक्तवदाभास अर्थालकार है, फिर भी इसका यहा इसलिए वर्णन है कि अर्थपौनरुक्ति दोष के विपर्यय[२] मे लेखक अलकारत्व बतला रहा है। इस उन्मेष मे विद्याधर यमक तथा चित्र अलकारो मे रसपुष्टि के अभाव का कथन करते हुए इनके दुष्करत्व रूपी[३] असाधुत्व दोष का वर्णन करते है।

अष्टम उन्मेष मे अर्थालकार है। इनके निम्नलिखित वर्ग लक्षित होते है --

भेदाभेदप्रधान[४] --	उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण,
भेदप्रधान[५] --	व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति।
अभेदप्रधान[६] --	रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रांतिमत्, उल्लेख, अपन्हुति।
अध्यवसायाश्रय[७] --	उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।
गम्यौपम्याश्रय (पदार्थग)[८]	तुल्ययोगिता, दीपक।
वाक्यार्थगत[९] --	प्रतिवस्तूपमा, दृष्टांत, निदर्शना।
विश्लेषणविच्छित्त्याश्रय[१०]--	समासोक्ति, परिकर, अप्रस्तुतप्रशंसा।
विशेष्यविच्छित्त्याश्रय--	परिकरांकुर

(१) एकावली, इन्ट्रोडक्शन, पृ० XII

(२) .....तथाप्यर्थपौनरुक्त्यस्यैव प्ररूढस्य दोषत्वनाभिधानात् तद्विपर्ययस्यालंकारत्वदर्शनाय..... । (वृत्ति)

(३) प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते।
दुष्करत्वादसाधुत्वम् एकमेवात्र दूषणम् ॥७।५॥

(४) ब्रूमः प्रथमं भेदाभेदप्राधान्यतस्तावत् ॥८।१॥

(५) तथा हि क्वचिद् भेदप्राधान्यं दृष्टं यथा व्यतिरेके। (वृत्ति).

(६) सम्प्रति कतिचिदभेदप्राधान्येऽलंकृतीर्ब्रूमः ॥८।५॥

(७) इत्थमलंकारद्वय मध्यवसायाश्रयेण निर्णीय।
अधुनालंकृतिवर्गं गम्यौपम्याश्रयं ब्रूमः ॥८।१४॥

(८) एतदलंकृतियुगलं कथितं तावत् पदार्थगत्वेन ॥८।१६॥

(९) वाक्यार्थगतत्वेन स्यात् सामान्यं पृथग्विनिर्दिष्टम् ॥८।१७॥

(१०) तरला टीका, पृष्ठ २५३.

उभयविच्छित्त्याश्रय[1]--	श्लेष।
सामान्य विशेषभाव	अर्थान्तरन्यास।
प्रतीयमानप्रस्ताव	पर्यायोक्त।
गम्यत्वविच्छित्तिप्रस्ताव--	व्याजस्तुति
विशेषगम्यत्व--	आक्षेप।
विरोधगर्भ[2]--	विरोधाभास, विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात।
शृंखलाकार[3]--	कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार।
तर्कन्यायमूल--	काव्यलिंग, अनुमान।
न्यायमूल--	यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति।
एकानेक	परिसंख्या।
वाक्यन्याय--	अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि।
लोकन्यायाश्रय[4]--	प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर, प्रश्नोत्तरिका।
गूढार्थप्रतीति--	सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त।
अन्योन्याश्लेष--	संसृष्टि, संकर।

'एकावली' मे यद्यपि इस वर्गीकरण पर जोर नही दिया गया फिर भी कारिका, वृत्ति, तथा टीका मे इसके बीज निहित है। यह कहना कठिन है कि आचार्य इस वर्गीकरण को कितना महत्व देता है फिर भी उसके मस्तिष्क मे यह विद्यमान अवश्य मानना पडेगा।

विश्वनाथ साहित्यदर्पण (सन् १३००–१३८४ के बीच)

विश्वनाथ की अलकार-शास्त्र पर दो रचनाए है--साहित्यदर्पण तथा काव्यप्रकाश-दर्पण। काव्यप्रकाश-दर्पण काव्यप्रकाश की टीका है, जिसको आचार्य ने साहित्यदर्पण के उपरान्त लिखा था। 'साहित्यदर्पण' का अलकारशास्त्रीय साहित्य मे उच्च स्थान है, मौलिकता अथवा आचार्यत्व के कारण नही, प्रत्युत सुबोध शैली, रोचक प्रतिपादन एव हृद्य उदाहरणो के कारण, इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का एक अन्य आधार है सर्वांगीण-पूर्णता--काव्यप्रकाश से यह अधिक पूर्ण है, इसमे दृश्य काव्य का विवेचन भी सन्निविष्ट है।

'साहित्यदर्पण' के मूलाधार मम्मट तथा रुय्यक है, विशेषत अलकार-प्रकरण मे

(१) यत्र विशेष्यविशेषणसाम्यम्..... ॥८।२६॥
(२) विलसद् विरोधगर्भं ब्रूमोऽलंकारवर्गमधुना तु ॥८।३३॥
(३) कथयामो वयमधुनालंकारान् शृंखलाकारान् ॥८।४४॥
(४) निर्णीयालंकारान् कतिचिद् इमास्तांस्तर्कवाक्यनयमूलान्।
लोकन्यायाश्रयिणः केचिदिदानीं निरूप्यन्ते ॥८।६०॥

तो 'अलंकार-सर्वस्व' ही विश्वनाथ का आदर्श है, रुय्यक के २ नये अलकार विकल्प तथा विचित्र विश्वनाथ ने अपना लिये, उपमेयोपमा तथा भ्रान्तिमान् आदि के लक्षण ले लिये, और रुय्यक के ही क्रम तथा सख्या को प्राय मान्य समझा है। फिर भी मम्मट या रुय्यक को नामपूर्वक उद्धृत नही किया। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे काव्यलक्षण मे मम्मट की आलोचना करके 'वाक्य रसात्मकम् काव्यम्' की स्थापना की है।

'साहित्यदर्पण' मे १० परिच्छेद है। प्रथम मे काव्यलक्षण, द्वितीय मे वाक्य, तृतीय मे रस, चतुर्थ मे काव्यभेद, पचम मे व्यजना, षष्ठ मे दृश्यकाव्य, सप्तम मे दोष, अष्टम मे गुण, नवम मे रीति तथा दशम मे अलकार विषय का विवेचन है। विषय का यह क्रम प्रथम परिच्छेद की स्थापना[1] का ही वैज्ञानिक अनुकरण करता है।

अलकारो की सख्या ८९ है, शब्दालकार १२, अर्थालकार ७०, रसवदादि ७। शब्दालकार का प्रथम निरूपण है, ये है—पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासम, श्लेष, चित्र, प्रहेलिका मे रस-बाधा होने से अलकारत्व[2] नही माना—वह तो उक्तिवैचित्र्य मात्र ही है। अर्थालकारो मे सर्वप्रथम उपमा है और स्वभावोक्ति लगभग अन्त मे। रस-भाव आदि गुणीभूत होकर अलकार बन जाते है, तब रस से रसवत्, भाव[3] से प्रेय, रसाभास–भावाभास से ऊर्जस्वि, भावप्रशम से समाहित अलकार बनते है, इसी प्रकार भावोदय, भावसन्धि तथा भावशबलता अलकार है।

साहित्यदर्पण का विवेचन स्पष्ट है, लक्षण सरस है, और उदाहरण रोचक है। यद्यपि इस ग्रन्थ मे मौलिकता[4] अधिक नही, फिर भी यह अपने गुणो के कारण उच्चकोटि मे स्थान प्राप्त करने का ही अधिकारी है। मम्मट तथा रुय्यक का आश्रय लेकर भी विश्वनाथ उनसे पीछे नही रहे।

केशवमिश्र अलकार-शेखर (१६ वी शती का उत्तरार्ध)

इस पुस्तक के तीन भाग है, सूत्र (कारिका), वृत्ति तथा उदाहरण। केशवमिश्र ने यह निर्देश किया है कि सूत्र भाग भगवान् शौद्धोदनि के द्वारा (की प्रेरणा से) लिखा गया है, या उनके आधार पर लिखित है। यह निश्चय नही कि शौद्धोदनि गौतम बुद्ध का ही नाम है या किसी शास्त्रीय आचार्य का। अलकार-शेखर मे मौलिकता कम है, दूसरे ग्रथो के आधार पर सक्षिप्त लेखन अधिक, कुछ आचार्यो का नामपूर्वक उल्लेख भी है।

(१) **वाक्यं रसात्मकं काव्यं, दोषास्तस्यापकर्षकाः।**
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता, गुणालङ्काररीतयः ॥१।१॥

(२) **रसस्य परिपन्थित्वात् नालङ्कारः प्रहेलिका।**
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा..... १०।१७॥

(३) **रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।**
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा।
रसवत् प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात् ॥१०।१२४॥
भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः ॥१०।१२५॥

(४) **मौलिक अलंकारों के लिए देखिए, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० २६९.**

'अलकार-शेखर' म ८ रत्न तथा २२ मरीचि है। अलकार विषय चतुर्थ रत्न की चारो मरीचियो मे है। लेखक ने रस को काव्य की आत्मा माना है :—

काव्यं रसादिमद् वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत् ।
अलंकारस्तु शोभायै रस आत्मा परे मनः ॥

चतुर्थ रत्न मे चार मरीचियाँ है। प्रथम मे शब्दालकार—चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास, गूढ, श्लेष, प्रहेलिका, प्रश्नोत्तर तथा यमक है, इनको ध्वनि[1] के अलकार कहा गया है। द्वितीय मरीचि मे १४ अर्थालकार है—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, अपन्हुति, समाहित, स्वभाव, विरोध, सार, दीपक, सहोक्ति, अन्यदेश व, विशेषोक्ति, विभावना। इस मरीचि मे केवल उपमा का विस्तार है, तृतीय मरीचि मे रूपक तथा चतुर्थ मे उत्प्रेक्षा आदि है। पचम रत्न मे उपमा के प्रतियोगी तथा अनुयोगी वर्णित किये गय है। उक्ति के अनेक भेद, तथा मुद्रा प्रथम रत्न की द्वितीय मरीचि मे आ गये थे।

इस प्रकार अलकार-शेखर किसी विशेष महत्त्व की पुस्तक नही है, इसमे दूसरो का सग्रह ही अधिक है, लेखक ने प्रतिपादन नही किया। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य कवि-शिक्षा जान पडता है, विवेचन नही।

अप्पय्य दीक्षित कुवलयानन्द (१७ वी शती का पूर्वार्ध)

'कुवलयानन्द' से पूर्व दीक्षित ने 'चित्रमीमासा' लिख ली थी, क्योकि कुवलयानन्द मे 'एतद् विवेचन तु चित्रमीमासाया द्रष्टव्यम्' जैसे सकेत है, परन्तु 'चित्रमीमासा' अधिक सराहनीय कृति है, पण्डितराज ने कदाचित् इसीलिए उसका खडन किया था।

'चन्द्र' के 'आलोक' से '**कुवलय**' के 'आनन्द' का जन्म होता है, इसी कल्पना पर 'चन्द्रालोक' का उपजीवी 'कुवलयानन्द' कहलाया। आधार-ग्रथ के पचम मयूख (अलकार-विषय) पर यह एक सोल्लास टीका है। इसमे 'चन्द्रालोक' के 'लक्ष्य-लक्षण श्लोक'[2] यथावत् ग्रहण कर लिये गये ह, और कुछ अलग बनाये है। कुवलयानन्द का हिन्दी आचार्यो मे बडा प्रचार रहा है और जयदेव का नाम लेने वाले भी अप्पय्यदीक्षित के ही ऋणी है। इस पुस्तक की विशेषताएँ निम्नलिखित है —

(क) केवल अलंकार विषय[3]।
(ख) बालोपयोगिता।
(ग) लक्ष्य-लक्षण-संग्रह।
(घ) ललित शैली।

---

(१) **चित्र-वक्रोक्त्यनुप्रास-गूढ़-श्लेष-प्रहेलिकाः ।**
प्रश्नोत्तरं च यमकमष्टाऽलङ्कृतयो ध्वनौ ॥

(२) **येषां चन्द्रलोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः ।**
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते ॥५॥

(३) **अलंकारेषु बालानाम्, अवगाहनसिद्धये ।**
ललितः क्रियते तेषां, लक्ष्यलक्षणसंग्रहः ॥४॥

कुवलयानन्द मे अर्थालकार ही है, शब्दालकार नही। जो अर्थालकार जयदेव ने लिखे थे, उनके अतिरिक्त २४ अन्य भी अप्पय्य दीक्षित ने लिखे है। कुवलयानन्द का कौशल प्रत्येक भेद के लिए स्वतत्र लक्ष्य-लक्षण-श्लोक बनाने मे है जिसका अनुवर्त्तन उत्तर आचार्य (हिन्दी के आचार्य) नही भी कर पाये।

प्रथम १०० अलकार प्राचीन तथा आधुनिक आचार्यो[1] के मत से लिखकर दीक्षित ने पचदश अन्य[2] का विवेचन किया है--४ रसवदादि, ३ भावोदय आदि तथा ८ प्रमाणालकार। प्रमाण के ३ भेद है--शब्द, स्मृति तथा श्रुति। फिर ससृष्टि १ भेद, तथा सकर ५ भेद है। कुवलयानन्द की यह लक्षणोदाहरण प्रणाली कठ्यसुगम होने के कारण छात्र-मडली मे भी सर्वप्रिय बनी रही।

जगन्नाथ रसगंगाधर (सन् १६४१ से १६५० तक)

अलकार-शास्त्र के अन्तिम स्मरणीय आचार्य पडितराज जगन्नाथ है, इनका व्यक्तित्व भी उतना ही रोचक है जितना कि इनका पाडित्य आतकक। अलकार-शास्त्र पर दो कृतियो, 'रसगगाधर' तथा 'चित्रमीमासा-खडन' मे से 'रसगगाधर' पण्डितराज की कीर्ति का अमर लेख है, इसको 'ध्वन्यालोक' तथा 'काव्यप्रकाश' के समकक्ष समझना चाहिए। जगन्नाथ प्रतिभाशाली विद्वान् तथा सरस कवि थे, परन्तु दुर्भाग्यवश इनकी प्रतिभा उन्मार्गगामिनी अधिक रही। आश्रयदाताओ पर स्नेह तथा समकालीन पडितो पर रोष की वर्षा मे ही इनका अधिकतर समय लगा है, इनका अहकार किसी हीनताग्रथि मे उबल रहा है, 'रसगगाधर' मे तो अहकारपूर्ण पाडित्य-पुष्ट खडन है ही, समकालीन अप्पय्य दीक्षित से चिढ कर इन्होने 'कुवलयानन्द' की निन्दा की है और 'चित्रमीमासा' के खडन मे एक पुस्तक ही लिख डाली, वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित की मनोरमा टीका का खडन करते हुए 'मनोरमा-कुच-मर्दनम्' लिखा। ये दाक्षिणात्य थे, इसलिए समकालीन ('नव्य') दाक्षिणात्यो के लिए इनके मन मे विशेष ज्वाला है। इनका खडन सदा बौद्धिक नही रहा, प्राय. व्यक्तिगत आक्षेपो से सकुल बन गया है।

फिर भी रस-गगाधर का महत्त्व निर्विवाद है। इसके ३ अग है--लक्षण (गद्यसूत्र), वृत्ति तथा उदाहरण। लक्षण गद्य मे है परन्तु उनको सूत्र नही कहा जा सकता, वृत्ति मे स्वमत प्रतिपादन तथा परकीय खडन है, उदाहरण आचार्य ने अपने बनाये है--यह कोई मौलिक सूझ नही, फिर भी जगन्नाथ अहकार से कहते है कि मैंने अपने नूतन उदाहरण बनाये है, दूसरे से नही लिये, कस्तूरी वाला हरिण क्या कभी पुष्पो की सुगन्ध से सतुष्ट रह सकता है?[3]

---

(१) इत्थं शतमलंकारा लक्षयित्वा निदर्शिताः।
प्राचामाधुनिकानां च मतान्यालोच्य सर्वतः ॥१६९॥

(२) एवं पंचदशान्यानप्यलंकारान् विदुर्बुधाः ॥१७१॥

(३) निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण (पृ० ३).

'रस-गगाधर' को शिवभक्त जगन्नाथ ने रस का 'गगाधर' (=शिव) बनाना चाहा था, और इसके ५ आननो का सौदर्य प्रदर्शन उनका अभीष्ट था, परन्तु इसके २ 'आनन' भी पूरे नही सके। उपलब्ध 'रस-गगाधर' मे उत्तर अलकार तक का प्रकरण अधूरा रह गया है। अन्तिम उदाहरण भी तीन चौथाई लिखा है। क्या लिखते-लिखते आचार्य का शरीर शिथिल हो गया ? अनुश्रुति उनकी मृत्यु के विषय मे कुछ और कहती है। 'चित्र-मीमासा खडन' के अन्त प्रमाण मे ज्ञात होता है कि वह रचना 'रस-गगाधर' के बाद की कृति है। नव्यतम लेखक के विषय मे काल की क्रूरता को भी कोसा नही जा सकता। क्या ईर्ष्यालु पडित शेष अश को नष्ट कर बैठे ? या जगन्नाथ एक ही समय मे 'रसगगाधर' तथा 'चित्रमीमासा-खडन' लिख रहे थे, अत 'रसगगाधर' का सकेत दूसरी पुस्तक मे कर सके--'चित्रमीमांसा-खडन' भी तो अपूर्ण जान पडता है[1], इसमे अपन्हुति तक चल कर लेखक रुक गया है, उत्प्रेक्षा तथा अतिशय को उसने नही उठाया।

उपलब्ध 'रसगगाधर' मे दो 'आनन' है। प्रथमानन मे काव्यलक्षण, काव्यकारण, पूर्वाचार्य स्वीकृत काव्य के ३ भेदो के स्थान पर ४ भेद (उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम), रसस्वरूप, रसदोष, शब्दगुण, अर्थगुण, रसाभास आदि की चर्चा है। इस आनन मे आचार्य ने इस बात पर जोर दिया है कि काव्यलक्षण मे गुणालकारादि का सन्निवेश उचित नही (पृ० ७)। काव्य के चार भेदो मे द्वितीय तथा तृतीय भेद मे गुणीभूतव्यंग्य क्रमश जागरूक तथा अजागरूक रहता है, अलकारप्रधान काव्य इन्ही भेदो के अन्तर्गत आ जाता है,[2] अधम काव्य मे शब्दचमत्कृति प्रधान रहती है।

द्वितीय आनन मे शब्दशक्ति पर विचार है। यहा रूपक अलकार मे लक्षणा शक्ति के आधार को दिखलाकर, इसी लक्षणा-प्रसग मे अलकारो का निरूपण है। अलकारो के सबध मे यही नूतन दृष्टिकोण है, अलकार शब्दशक्ति के आश्रित हो गये और उनका मुख्य आधार लक्षणा बन गई। यहा ध्यान रखना होगा कि पाश्चात्य अलकार-शास्त्र के अनुकरण पर आधुनिक हिन्दी काव्य मे जो नवीन अलकार आ गये है उनको पुरातनतावादी आचार्य शब्दशक्ति (लक्षणा तथा व्यजना) के ही विशेष बताया करते ह, पण्डितराज ने सभी अलकारो को शब्दशक्तिमूलक ही सिद्ध किया है—यद्यपि इस मत के बीज 'प्राच्य' आचार्यो मे भी खोजे जा सकते है। 'रस-गगाधर' मे 'उपमा' से 'उत्तर' तक ७० अलकारो का विवेचन है, शेष के विषय मे अपूर्ण कृति से कोई भी निष्कर्ष भ्रामक होगा। अलकार-क्रम प्राय 'काव्यप्रकाश' तथा 'अलकार-सर्वस्व' के अनुसार है।

अस्तु 'रसगगाधर' नाम की यह 'काव्यमीमासा'[3] मौलिक, पाण्डित्यपूर्ण, विशद तथा प्रतिभान्विता है। निर्वाण से पूर्व जिस प्रचार दीपक मे विशेष ज्योति आ जाती है उसी

(१) संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २७८।

(२) अनयोरेव द्वितीयतृतीयभेदयोर्जागरूकाजागरूकगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः प्रविष्टं निखिलमलंकारप्रधानं काव्यम्। (पृ० २३)।

(३) रसगंगाधरनाम्नीं करोति कुतुकेन काव्यमीमांसाम्। (पृ० ४).

प्रकार अलकार-शास्त्र का यह निर्वाणोन्मुख अन्तिम मणिमय[1] आलोक था, जिसने अपनी आभा से सबका मानमर्दन कर दिया।

पर्यालोचन

आचार्य गार्ग्य से पण्डितराज जगन्नाथ तक के दीर्घ काल मे अलकार तथा अलकार-शास्त्र की पूर्ण मीमासा हुई, आचार्यो की मौलिक उद्‌भावनाएँ, प्रखर प्रतिभा तथा प्राज्ञ व्यक्तित्व ने इस शास्त्र को तरगायित करके अनक अमूल्य मणिया प्राप्त की। केवल ४ अलकार शनै शनै किस प्रकार सार्धशत रूप धारण कर सके––यह अध्ययन ऐतिहासिक वातायन से सामाजिक चित्तवृत्ति का रोचक दर्शन सुलभ कराने के साथ-साथ आचार्यो की सूक्ष्म विवेचना का भी गहन परिचायक है। समय-समय पर अलकारो के वर्गीकरण के प्रयत्न होते रहे, कभी मूल को दृष्टि मे रखकर, कभी फल को, और कभी खाद्य को, भौगोलिक, विश्लेषणात्मक वर्गीकरण तो हुए परन्तु एतिहासिक नही। खण्डन-मण्डन मे भी रुचिमान् आचार्य अपनी प्रतिभा से पाठको को प्रभावित कर सके है। आदि मे आचार्य लक्षण तथा लक्ष्य दोनो का निर्माण करते थे, बीच मे उनका काम केवल विवेचन बन गया परन्तु अन्तमे फिर लक्ष्य-लक्षण-सृजन का नाम आचार्यकर्म पडा। विवेचन का विकसित रूप वृत्ति बन कर आया, और आचार्य प्राय वृत्ति भी स्वय लिखने लगे। सस्कृत के आचार्य की गुण-ग्राहकता प्रशसनीय है, अपनी मौलिक प्रतिभा का व्यय वह पूर्व आचार्य की व्याख्या मे भी कर देता था फलत. काव्यशास्त्र की वृत्तिया या व्याख्याएं भी मूल ग्रन्थ के समान ही महत्व की अधिकारिणी बन गयी है।

अलकार-शास्त्र के इस इतिहास को ३ भागो मे विभक्त किया जाता है––ध्वनि-पूर्वकाल, ध्वनिकाल, तथा ध्वन्युत्तर काल। ध्वनिपूर्वकाल के आचार्य भामह, दण्डी, उद्‌भट, वामन, तथा रुद्रट है। इस काल मे अलकार का सार्वभौम शासन रहा, शेष धर्म अलकार के सहयोग के बिना प्रतिष्ठित न हो सके। भामह अलकार के आदि आचार्य है, और २३ नवीन अलकारो के जन्मदाता है, इनकी कृति 'काव्यालकार' सहस्राब्दी तक अपने नाम तथा रूप से दूसरो को कार्योन्मुख करती रही है। दण्डी दक्षिण के मान्य आचार्य थे, और यद्यपि इनमे भी अलकार का विस्तार है, फिर भी इनका मत भामह के पक्ष मे उतना नही जितना कि भरत के। भामह और दण्डी परस्पर सम्पूर्ति के साधक है, इनसे ही अलकार-शास्त्र की कतिपय विरोधगर्भिणी समस्याये चलने लगती है, अलकार मे वक्रोक्ति का कितना मूल्य है, यह आज तक विवादास्पद है, स्वाभावोक्ति अलकार है या नही, यह प्रश्न सर्वप्रथम इन्ही आचार्यो ने उठाया था। उद्‌भट की सर्वमुख्य विशेषता है भाम मे छिपे हुए वर्गीकरण के बीजो को पल्लवित करना, कुछ अलकारो को जन्म तो इन्होने दिया ही। वामन रीति तथा गुण के प्रसग मे याद किये जाते है, उपमा का प्रपच भी स्वतत्र रूप मे एक नई वस्तु है। रुद्रट इस काल के उपसहारक है। इस काल तक

(१) **निमग्नेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरुदरं**
मयोन्नीतो लोके ललित-रसगंगाधरमणिः।
हरन्नन्तर्ध्वान्तं हृदयमधिरूढो गुणवता––
मलंकारान् सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु॥ (पृ० ३).

आचार्य लक्षण तथा उदाहरण स्वयमेव बनाते थे, और अन्य आचार्यो का खण्डन परोक्ष रूप से करते थे, प्रत्यक्ष रूप से नही। यह विस्तार का काल है, सार्वभौम प्रतिभा का काल है, अभी तक आचार्यो मे दूसरो को कसने की प्रवृत्ति न जगी थी। हिन्दी के आचार्य केशव पर इसी युग का प्रभाव है।

ध्वनिकाल खण्डन का काल है, स्थापना का काल है, शिक्षा का उतना नही। और विचार्य विषय था आभ्यन्तरिक या प्रतीयमान सौदर्य, इतर सौदर्य को उसके अधीन बन जाना पडा। आनन्दवर्धन, कुन्तक तथा महिमभट्ट सीधे ध्वनि से सम्बद्ध है। 'अग्नि-पुराण' तथा 'सरस्वती-कण्ठाभरण' इस युग के ऐसे ग्रन्थ है जिनमे युग की प्रतिभा नही पायी जाती। अलकार का विवेचन न होकर अब अलकार का स्थान निर्धारित हो रहा था। स्वरचित उदाहरणो की प्रथा उठ गयी, और वृत्ति का रिवाज चल पडा, प्रत्येक ग्रन्थ के ३ अग बने——मूल, वृत्ति तथा उदाहरण, मूल स्वकीय, उदाहरण प्राय परकीय, वृत्ति क्वचित् स्वकीय क्वचित् परकीय। इस शैली का ही नाम आचार्यत्व हुआ, जिसका अनु-गमन जगन्नाथ तक मिलता है।

ध्वन्युत्तर काल अपने पूववर्त्ती कालो का ऋणी है, मम्मट, रुय्यक, विद्याधर, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ शैली की दृष्टि से ध्वनिकाल के अनुजात है, जयदेव, केशवमिश्र तथा अप्पयदीक्षित आदि ध्वनिपूर्वकाल के सहवर्गी है। इस युग मे विरोध तथा विवाद अधिक न हो सका, क्योकि नवीन सिद्धातो की सम्भावना कम थी; प्रतिपादन और भी कम हुआ। अस्तु, ध्वन्युत्तर काल पूर्व प्रवृत्तियो (उभयात्मिकाओ) का प्रतिफलन मात्र है।

ठीक इसी समय 'भाषा' मे अलकार-शास्त्र बनने लग गया और युगानुरूप पूर्वकालीन प्रवृत्तिया हिन्दी मे भी दृष्टिगोचर होने लगी। एक ओर जगन्नाथ और दूसरी ओर केशव-दास दो भिन्न प्रवृत्तियो के प्रतीक बने हुए थे। एक ही साथ सस्कृत तथा भाषा मे अलकार-शास्त्र की यह लहर आ गयी। हिन्दी-आचार्यो ने ध्वनिपूर्व काल से शैली तथा ध्वन्युत्तर काल से सिद्धात लेकर सामान्य जनता के लिये उस अमूल्य राशि को सुलभ कर दिया। आगामी पृष्ठो मे हम उसी प्रयत्न का अध्ययन कर रहे है।

हिन्दी-अलंकार-साहित्य

हिन्दी-अलंकार-साहित्य

परिचय

'शिवसिह-सरोज' के अनुसार हिन्दी का सर्वप्रथम साहित्यिक पुण्य नाम का एक कवि था, जिसने सातवी शताब्दी में काव्य-शास्त्र पर एक अलकार-ग्रथ हिन्दी मे लिखा। यद्यपि प्रमाण के अभाव मे उक्त तथ्य किसी आलोचक को स्वीकार्य नही, फिर भी विचार करने से यह असभव भी नही जान पडता कि सप्तम शती मे हिन्दी भाषा मे काव्य-शास्त्र की कोई पुस्तक लिखी गई हो। कम विश्वास का तथ्य यह है कि सप्तम शती मे, नितान्त साधारण जनता मे ही सही, जिस भाषा का व्यवहार होने लगा था, वह अपभ्रश की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है। सस्कृत भाषा और साहित्य का देश मे कुछ ऐसा आधिपत्य रहा है कि देशी भाषाओ का स्वतत्र विकास कम ही हो सका, काव्य-शास्त्र के सबध मे तो यह और भी अधिक सत्य है। प्राकृत तथा अपभ्रश भाषाओ मे सस्कृत से नितान्त स्वतत्र काव्य-शास्त्र नही है। हिन्दी मे एक युग ऐसा था जब, सस्कृत के अनुकरण पर ही सही, काव्य-शास्त्र सबंधी साहित्य का अविरत सृजन हो रहा था——यहा तक कि सस्कृत-ज्ञान से शून्य व्यक्ति भी भारतीय काव्य-शास्त्र का सामान्य ज्ञान हिन्दी भाषा के माध्यम से प्राप्त कर सकता है; अन्य प्रादेशिक भाषाओ मे इस प्रकार का न युग आया और न इस वर्ग का साहित्य है। अस्तु, सप्तम शती मे भारतीय काव्यशास्त्र पर देश भाषा मे एक पुस्तक लिखी गई हो, यह कोई अविश्वसनीय आश्चर्य का तथ्य नही।

काव्यशास्त्र सबधी उपलब्ध सामग्री के अनुसार हिन्दी मे केशवदास ही सर्वप्रथम आचार्य है। केशव से रामदहिन मिश्र तक चार सौ वर्ष का अपार साहित्य है, जिसके रचयिता असख्य है, कदाचित् ही कोई ऐसा मडल हो जहा किसी भी व्यक्ति ने काव्यशास्त्र पर कुछ न लिखा हो, और कदाचित् ही कोई ऐसा साहित्यिक परिवार हो, जिसके पूर्व पुरुषो मे से कोई भी उस बहती गगा मे एक डुबकी न लगा गया हो। अभी पर्याप्त खोज नही हुई, फिर भी यावत् प्रयत्न से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य-शास्त्र सबधी साहित्य हिन्दी (ब्रजभाषा) की एक अनन्य विशेषता है, और जिस मात्रा मे इस साहित्य की सृष्टि हुई थी, उस मात्रा मे किसी अन्य साहित्य की नही——भक्ति साहित्य की भी नही। काव्य-शास्त्र सबधी विचारो की प्रतिष्ठा के लिए साहित्यिको ने शृगार, वीर तथा शात तीन रसो का तो, अपने उदाहरणो मे, स्पष्ट आश्रय लिया है, ऐसे स्रष्टा भी मिल सकते है, जिनमे दूसरे रस हो, और रसविहीन सूक्तियो द्वारा काव्यशास्त्र के उदाहरण लिखने वाले साहित्यिक भी पर्याप्त है। यदि छदो की दृष्टि से देखा जाय तो सभी प्रचलित छद इस साहित्य मे उदाहरण हेतु स्वीकार किये गए है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकृति-भेद से भिन्नता एव व्यापकता का परिचायक यह काव्यशास्त्रीय साहित्य अपने आप मे विशाल तथा महान् है।

ऊपर यह कहा गया है कि काव्यशास्त्र सबधी साहित्य हिन्दी (ब्रजभाषा) की एक अनन्य विशेषता है; परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नही कि इतर भाषाओ मे इस प्रकार के साहित्य का अत्यन्ताभाव है। प्राकृत तथा अपभ्रश भाषाओ मे इस प्रकार के ग्रथ उपलब्ध है; पाली-साहित्य का स्वाभाविक झुकाव कला के विरुद्ध था फिर भी वहा काव्य-शास्त्र की नितान्त अवहेलना न हो सकी[1]। दक्षिण[2] भाषाओ मे इस साहित्य की भी पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है--तमिल मे अगस्त्य ने सर्व प्रथम इयाल (साहित्य), इसइ (सगीत), तथा कुट्टु (नाटक) पर लिखा था, और द्वितीय सगम युग तक साहित्यशास्त्र के स्वतत्र नियम विकसित हो चुके थे, वस्तु (पोरल) का 'अहम' तथा 'पुरम' मे विभाजन एव 'अहम' के सबध से भिन्न-भिन्न अवस्थाओ ऋतुओ, कालो आदि के नियम सस्कृत नियमो के समानान्तर प्रतीत होते हुए भी मौलिक है। चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से बगाल मे वैष्णव काव्यशास्त्र के ग्रथ लिखे गए जिनमे भक्ति रस को सर्वमुख्य स्थान मिला, परन्तु इन ग्रथो (रूपगोस्वामी कृत 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' आदि) की भाषा सस्कृत है, बगाली नही। डिगल मे यद्यपि काव्यशास्त्र का विकास होने के फलस्वरूप 'वयणसगाई' जैसे स्वतत्र अलकारो का प्रादुर्भाव हुआ फिर भी काव्यशास्त्र की जैसी लहर ब्रजभाषा मे आई, वैसी राजस्थानी मे नही। 'रहीम' ने अवधी मे बरवै नायिका भेद लिखा, और तुलसी की 'बरवै रामायण' अलकारो के उदाहरणस्वरूप लिखी हुई मानी जा सकती है परन्तु बरव की यह अवधी पर-म्परा आगे चलती हुई नही मिलती; अवध प्रात के कवियो ने भी[3] ब्रज भाषा का आश्रय लेकर ही काव्यशास्त्र पर ग्रथो का प्रणयन किया है।

हिन्दी-साहित्य मे काव्यशास्त्र के मुख्यतया तीन भिन्नकालीन प्रवाह रहे हैं · एक केशव का, दूसरा रीतिकाल का और तीसरा आधुनिक युग का और क्योकि इन प्रवाहो की गति एक दूसरे के अनन्तर ही दृष्टिगत होती है, इसलिए आलोचको ने तीनो मे एक अवि-च्छिन्न सबध-सूत्र की खोज का प्रयत्न किया है, परन्तु वस्तुत उन प्रवाहो का अध्ययन पृथक् पृथक् ही, भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे करना ही, अधिक समीचीन है।

यदि पुष्य कवि की अप्राप्य रचना पर विचार न किया जाय तो केशवदास यावत् उपलब्ध हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम आचार्य है, इनका समय सवत् १६१२ से सवत् १६७४ (रामचद्र शुक्ल) तक है, उनके जीवन काल मे अकबर का उत्तर भारत मे शासन था, कम से कम काव्यशास्त्र सबधी पुस्तके कशवदास ने अकबर के राज्य-काल मे ही लिखी।

---

(१) पाली भाषा में 'सुबोधालंकार', 'कविसारपकरणं', 'कविसार तीक निस्सय', काव्यशास्त्र की तीन ही पुस्तकें है। (पृष्ठ ६३८)।
(ए हिस्ट्री ऑफ पाली लिटरेचर, भाग II)

(२) सिंहली भाषा में 'सियवासलंकार' ('स्वभाषालंकार') तथा कन्नड़ में 'कविराज-मार्ग' दण्डी के 'काव्यादर्श' से अनुप्रेरित प्रतिष्ठित अलंकारशास्त्रीय रचनायें हैं। (श्री काणे, पृष्ठ XXVI)

(३) दासकवि अवधी-प्रदेश के निवासी थे फिर भी इन्होंने ब्रजभाषा को 'काव्य-निर्णय' जैसा काव्यशास्त्र का अपूर्व ग्रंथ दिया।

अकबर का शासन कला के लिए उतना प्रसिद्ध नही जितना धार्मिक समन्वय के लिए, मध्यकालीन कला का प्रोद्भव अकबर की प्रवृत्ति और नीति से परिचालित हुआ परन्तु उसका वास्तविक विकास शाहजहा के शासन काल मे ही दिखाई देता है। हिन्दी काव्य-शास्त्र या काव्य-कला भी शाहजहा के समय मे ही फली फूली। मुगल शासन का इस पर कतना प्रभाव है यह इस साहित्य के लिए ब्रजभाषा मात्र की स्वीकृति से अनुमानित किया जा सकता है—फारसी उस समय शासन की भाषा अवश्य थी और शिल्प कला आदि मे भी ईरानी पच्चीकारी की स्थायी छाप है परन्तु साहित्य मे भारतीयता का ही आधिपत्य था जिसका सबसे बडा प्रमाण पडितराज जगन्नाथ है जिनकी तुलना के लिए मुगल काल का कोई भी फारसी साहित्यिक नही है। मुगल शासन के क्षेत्र ब्रज मे ही काव्यशास्त्र का यह प्रवाह आया था, और यह प्रवाह तत्कालीन जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है जिसके समानान्तर कला के दूसरे रूप शिल्प, सगीत, चित्रकला आदि भी उसी प्रकार प्रोच्छ्वसित हुए थे। केशव का काव्यशास्त्र इस प्रवाह क्षेत्र से बाहर है, वह उस युग का स्वाभाविक विकास न होकर सस्कृत-परम्परा का देशीय रूप है, यदि केशव का प्रयत्न आगे भी चलता रहता तो ब्रज-भाषा मे समस्त सस्कृत काव्यशास्त्र की देशीय छाया सुलभ हो जाती, और आज के आलोचक को केशव स्थान-भ्रष्ट से न दिखाई पडते।

आचार्य केशव ने ब्रजभाषा मे समस्त काव्यशास्त्र को सुलभ बना देने का जो श्री-गणेश किया था, उसका महत्त्वाकन न कर सकने के कारण आज का अनुवादी आलोचक भी केशव को सस्कृत की पुरानी परपरा का आचार्य मात्र मान बैठता है, वह यह सोचने का कष्ट नही करता कि केशव ने भाषा मे काव्य-शास्त्र को प्राप्य बनाने का मार्ग दूसरो के लिए भी प्रशस्त कर दिया था। केशव वस्तुत एक बडे आचार्य थे जिनका पाडित्य अतर्क्य है, उन्होने काव्यशास्त्र मे जितने अगो का विवेचन किया है, उतने अगो का दूसरे आचार्यों ने नही। रीतिकाल के सामान्य प्रवाह से वे केवल इसी आधार पर अलग किये जा सकते है कि उनका आचार्यत्व पूर्ण तथा व्यापक है, एकागी नही, परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण विशेषता केशव का कवि-शिक्षा लिखना है—रीतिकालीन आचार्यो ने रस या अलकारो के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये, परन्तु केशव ने कवियश प्रार्थी युवको को साधना का मार्ग दिखाया।

अस्तु, केशव से काव्यशास्त्र सबधी ग्रथो का प्रणयन आरम्भ नही होता, केशव समय की उपज नही, रीति-साहित्य सामयिक परिस्थितियो का स्वाभाविक विकास है, केशव आचार्यत्व की भावना से सस्कृत-ज्ञान-वचित युवको के लिए काव्य-शास्त्र लिख रहे थे, रीतिकाल मे काव्यशास्त्र या कवि-शिक्षा की ओर प्रयत्न नही, कला की ओर झुकाव है—और कला के उपकरण है रस तथा अलकार—अलकार के उदाहरणो मे रस छलक रहा है और रस की चर्चा भी अलकृत है, केशव कला की क्रीडास्थली से दूर रहते थे, रीतिकाल के आचार्य कलाकलित वातावरण मे ही जीवन का रस लूटते रहे। यदि अनुसधान के फलस्वरूप केशव तथा चिन्तामणि के बीच की खाई को भरने के लिए ऐसा साहित्य मिल जाय जो केशव के पद चिह्नो पर चलता दिखाई पडे तो भी केशव से रीतिकाल का आरम्भ न माना जायगा क्योकि उस दशा मे रीतिकाल के दो भाग होगे, पूर्वार्द्ध मे केशव का अनुकरण होगा और

उत्तरार्द्ध मे मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ का---'प्राचीन' तथा 'नवीन' सरणि के आचार्य अलग-अलग तो रहेगे ही ।

वर्गीकरण

चिन्तामणि से पद्माकर तक के आचार्यो की सख्या अगण्य है और प्रत्येक आचार्य की अपनी-अपनी विशेषताए भी है क्योकि ये आचार्य स्वच्छद कवि थे, पथ-प्रदर्शक नही। आधुनिक आलोचको ने इन आचार्यो या हिन्दी के रीतिकार कवियो को वर्गों मे रखने का प्रयत्न किया है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के अनुसार 'हिन्दी के अलकार ग्रथ अधिकतर चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के अनुसार निर्मित हुए कुछ ग्रथो मे काव्यप्रकाश और साहित्य-दर्पण का भी आधार पाया जाता है'। इसीलिए डा० नगेन्द्र ने इन आचार्यो की शैली को काव्यप्रकाश शैली और चन्द्रालोक-शैली के नाम से पुकार कर इनके दो वर्ग मान लिये है।

यदि इन सब रीति कवियो की वर्ण्य वस्तु पर विचार किया जाय और केशव को इस प्रवाह से अलग मानकर चला जाय तो इन रीतिकवियो की सामान्य विशेषता केवल यही है कि इन्होने काव्यशास्त्र के सभी अगो को ध्येय न बनाकर केवल एक या एक से अधिक अगो के व्याज से ब्रजभाषा के सरस (प्राय शृगारमय) उदाहरण प्रस्तुत किये है, लक्षण और विवेचन की ओर इनका ध्यान नही है---वस्तुत सस्कृत भाषा मे टीका-टिप्पणी दर्शनशास्त्र के समान काव्यशास्त्र मे भी इतनी अधिक हो चुकी थी कि यदि ब्रज भाषा मे भी इसकी आवृत्ति होती तो जटिलता का ही कारण बनती; आद्योपान्त नया विवेचन प्रारम्भ करना भी सभव न था। अत रीतिकवि का ध्येय भाषा के पाठक को काव्यशास्त्र के सामान्य सिद्धातो से परिचित करा देना भर था। सरसता के कारण वह इस कार्य मे अधिक सफल हो सकता था। हिन्दी के रीतिकवि ने समय की माग को भली प्रकार समझा और तदनुकूल आचरण भी किया।

यदि इन रीतिकवियो के पारस्परिक भेद को व्यावर्त्तक धर्म मान कर इनका वर्गीकरण किया जाय तो वस्तु की दृष्टि से ऐसा दिखाई पडता है कि अधिकतर ने काव्यशास्त्र के केवल एक अग---प्राय अलकार अन्यथा रस, (नायिका भेद), कही-कही छद---के ही लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये है, केवल कुछ एक ने एक से अधिक अग (अलकार, रस, शब्द-शक्ति, गुण-दोष) का प्रसग चलाया है। तब इन कवियो के दो वर्ग बने एकाग-निरूपक तथा अधिकाग-निरूपक। एकाग-निरूपको के अलग-अलग वर्ग बन सकते है---अलकार-निरूपक, नायिका-भेद-निरूपक, छन्दोनिरूपक आदि। इस युग मे अलकार-निरूपको का ऐसा बोलबाला था कि मिश्र-बधुओ ने इस काल को नाम ही 'अलकृत काल' दे दिया।

यदि इन रीतिकवियो का, इनकी काव्यविषयक मान्यताओ को ध्यान मे रख कर, सप्रदायो मे वर्गीकरण किया जाय तो कुछ तो रस-सप्रदाय के अन्तर्गत रखे जा सकेगे, शेष अलकार-सप्रदाय के अन्तर्गत। परन्तु इस साप्रदायिक भावना का हमको आरोप करना पडेगा, रीतिकवि स्वय इसके लिए अग्रसर नही होते; भूषण ने अलकार का ग्रथ लिखा परन्तु वीर रस को वाणी का उद्धारक माना, रस को महत्त्व देने वाले भी अलकार-विषय मे सबसे अधिक रमते रहे। वस्तुत. उस युग मे 'रस' शब्द 'जीवनानुराग' का पर्याय था। इसी-

लिए उसकी अभिव्यक्ति जितनी नायिकाभेद से हो सकती थी, उतनी ही अलकार-निरूपण से भी।

यदि इन रीतिकवियो की निरूपण-शैली पर ध्यान दे तो कम से कम तीन प्रकार की शैलिया है—एक ही छद मे लक्षण और उदाहरण फिट कर देना, लक्षण के लिये अलग छद और उदाहरण के लिए अलग, तथा लक्षण के अनन्तर ऐसा वर्णन जिसमे उदाहरण भी बन सके। प्रथम पर 'चन्द्रालोक' का प्रभाव है, द्वितीय पर 'काव्यप्रकाश' का, तृतीय पर विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' का। इन शैलियो के अतिरिक्त दूलह की स्वतत्र शैली है, वे एक साथ लक्षण देकर फिर एकत्र उदाहरण दे देते है। ध्यान रखना होगा कि ये शैलिया सस्कृत के तद्तद् आचार्य या ग्रथ से ही प्रारम्भ नही होती, इनके बीज भी पहले से मिलते है और इनकी स्वीकृति भी हो चुकी थी—जिन आचार्यो की प्रसिद्धि थी उनके अपनाने से इन शैलियो को उन आचार्यो से सबधित नाम मिल सकता है।

चन्द्रालोक-शैली तथा काव्यप्रकाश-शैली से यह अर्थ तो कदापि नही लिया जा सकता कि 'चद्रालोक' तथा 'काव्यप्रकाश' के सिद्धातो को भी तद्तद् रीतिकवि ने स्वीकार कर लिया, अधिक से अधिक यह कह सकते है कि लक्षण-उदाहरण-समन्वय मे अमुक रीतिकवि पर जयदेव का प्रभाव है, अमुक पर मम्मट का, और अमुक पर विद्यानाथ का। क्या शैली का प्रभाव विषय को प्रभावित नही करता ? उत्तर सचमुच कठिन है। 'चन्द्रालोक' की सक्षिप्त शैली को अपना कर भी अनेक रीतिकवि जयदेव का अनकरण नही कर सके है, 'काव्य-प्रकाश' का नाम लेने वाले मम्मट के सिद्धातो को समझते भी थे या नही—यह विचारणीय है। अस्तु, ऐसा ज्ञात होता है कि किसी आचार्य विशेष या पुस्तक-विशेष का नाम लेने पर भी रीतिकवि उससे शैली अथवा सिद्धातो मे प्रभावित हुआ हो—यह आवश्यक नही। जिनमे चद्रालोक शैली है, उन पर प्रभाव 'चन्द्रालोक' की अपेक्षा 'कुवलयानन्द' का अधिक है।

काव्यप्रकाश-शैली से अभिप्राय क्या है ? मम्मट प्रौढ आचार्य थे, उन्होने पूर्ववर्त्ती आचार्यो का अध्ययन करने के उपरात अपने लक्षणो मे अन्वय-व्यतिरेक का ध्यान रखा और कसे हुए लक्षण बनाये, अत. यह स्वाभाविक हो गया कि उनके उदाहरण लक्षणो से पृथक् रहते। लक्षण तो पद्य मे थे परन्तु विषय का पूर्वापर सबध गद्य की योजना द्वारा सभव हुआ, वृत्ति को आना पडा और उदाहरण अन्य-रचित रखने पडे। कारण यह कि मम्मट आचार्य थे, कवि उतने नही, और उनका उद्देश्य प्रतिपादन था सरसता नही। अत. काव्यप्रकाश शैली की विशेषताए निम्नलिखित है :—

(क) लक्षणों में कसावट
(ख) वृत्ति (गद्य)
(ग) अन्य-रचित-उदाहरण
(घ) लक्षण और उदाहरण के लिए परस्पर स्वतंत्र-छंद

यदि इन विशेषताओ को ध्यान मे रख कर निर्णय दिया जाय तो कहना होगा कि रीति कवियो मे काव्यप्रकाश-शैली है ही नही—काव्य-प्रकाश के प्रति श्रद्धा अवश्य अर्पित की

गई है। लक्षण और उदाहरण के लिए स्वतत्र-स्वतत्र छद का प्रयोग-मात्र ही काव्यप्रकाश-शैली नही है, इससे अधिक महत्त्व तो अन्यरचित उदाहरण योजना का है (ऊपर विशेषताओ का क्रम महत्त्व के अनुसार रखा गया है)। 'काव्य-प्रकाश-शैली' की अपेक्षा तो 'काव्य-प्रकाश का प्रभाव' कहना अधिक उपयुक्त है क्योकि मम्मट-स्वीकृत काव्य स्वरूप अति उदार है, उसमे समन्वय का ध्यान रख कर सामान्य दृष्टिकोण की पूर्ण रक्षा की गई है—शब्द और अर्थ के अनन्य समन्वय को काव्य कहते है, यह दोषरहित तथा गुणसहित हो, अलकार न हो तो भी कोई बात नही। मम्मट और जयदेव मे नितान्त विरोध नही, अलकार के सापेक्षिक महत्त्व पर मतभेद है।

चन्द्रालोक का मत तो स्पष्ट है कि जयदेव अलकार की अवहेलना नही देख सकते। रीतियुग अलकार का युग था, कला का युग था, अतः उसमे अलकार की अवहेलना का प्रश्न नही आता और यह कहा जा सकता है कि रीति-कवियो पर चन्द्रालोक का प्रभाव है, परन्तु यह कथन सत्य से अत्यधिक निकट नही। इस युग मे कला या अलकार की ओर जनता की स्वाभाविक रुचि थी, काव्य मे भी अलकार को प्रतिष्ठा मिली, और 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' का सम्मान हो गया। जयदेव के समान अनेकाग-निरूपण हिन्दी के तथाकथित चन्द्रालोकी आचार्यो ने नही किया, 'भाषाभूषण' तक पर अलकार-प्रकरण मे कुवलयानन्द का प्रभाव है। अत प्रभाव की दृष्टि से तो यही कहना अधिक उचित है कि अधिकतर रीतिकवियो पर 'कुवलयानन्द' का प्रभाव है।

जयदेव ने लक्षण-उदाहरण-समन्वय की एक शैली का संस्कृत मे प्रचार किया, जिसको अप्पयदीक्षित ने 'लक्ष्य-लक्षणश्लोक' नाम से अभिहित किया है। इसकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं —

(क) संक्षिप्त अविकसित लक्षण
(ख) लघुतम छन्द
(ग) एक श्लोक मे ही लक्षण तथा लक्ष्य का समावेश
(घ) स्वरचित उदाहरण
(ङ) वृत्ति (गद्य) का नितान्त अभाव

ये सभी विशेषताएं या तो अविकसित अवस्था की द्योतक है, या आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व के आधिक्य की। रीतिकवियो मे निश्चय ही इनका अनुकरण है, क्योकि रीतिकवि रसिक कवि एव अप्रौढ आचार्य थे—उनमे विवेचन की रुचि अत्यल्प है। जसवतसिह और पद्माकर इसी वर्ग के थे। एक दोहे मे ही लक्षण-लक्ष्य का समावेश करनेवाला कवि चन्द्रालोक का शैली मे तो अनुकरण करता है, विषय मे नही, क्योकि अलकारो के भेदोपभेद सर्वत्र ही कुवलयानन्द के अनुसार है।

चन्द्रालोक-शैली का प्रभाव मानने मे एक आपत्ति है। जयदेव का लक्ष्य कठ्योपयोगिता थी, इसलिए सूक्ष्मता से उदासीन रहकर उन्होने एक श्लोक मे लक्षण-लक्ष्य को दबा-दबाकर भर दिया; अप्पयदीक्षित ने अलकारो के भेदो का भी विस्तृत विवेचन किया, इसलिए प्रत्येक भेद के लक्षण-उदाहरण के लिए स्वतन्त्र श्लोक लिखने पड़े। हिन्दी के

कवियो ने अप्पयदीक्षित की इस विशेषता की उपेक्षा कर दी। फलत भेदो के लक्षण-उदाहरण एक ही दोहे मे न भरे जा सके, प्राय. भेदो के लक्षणो को देकर तदनन्तर कवि उन भेदो के क्रमश· उदाहरण लिखता है, जिससे कठ्योपयोगिता नष्ट हो जाती है। अस्तु यदि चन्द्रालोक-शैली से अभिप्राय लघु छन्द मात्र ही लिया जाय तब तो हिन्दी के कुछ रीतिकवि इस वर्ग के माने जा सकते है, अन्यथा जयदेव की एक मुख्य विशेषता (एक ही छोटे छन्द मे लक्षण-लक्ष्य का समावेश) यहाँ अप्राप्य है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विषय, सम्प्रदाय, अथवा शैली को दृष्टि मे रख कर इन रीतिकवियो का कोई भी वर्गीकरण निर्दोष नही माना जा सकता। तब इनके दो ही वर्ग हो सकते है––अनेकागनिरूपक तथा एकागनिरूपक। अनेकागनिरूपक दो प्रकार के है––एक वे, जिन्होने एक रचना मे काव्य के एक से अधिक अगो पर विचार किया है, जैसे दास, देव आदि ; दो, वे जिन्होने भिन्न-भिन्न पुस्तको मे भिन्न-भिन्न अगो का विवेचन किया है, जैसे मतिराम जिनके ललितललाम मे अलकार, तथा रसराज मे रस की चर्चा है। हमारा विचार है कि इस कोटि के कवि जो अलग-अलग पुस्तको मे अलग-अलग अगो का विवेचन करते है एकागनिरूपक ही है क्योकि इनकी प्रवृत्ति समग्रता की ओर नही। एकागनिरूपको के अनेक वर्ग है––रसनिरूपक, अलकारनिरूपक, छन्दोनिरूपक आदि। रसनिरूपण के अन्तर्गत नायिकाभेद, नखशिख, षड्ऋतु, बारहमासा आदि सभी विषयो की स्वतन्त्र रचनाएँ सन्निविष्ट हो सकती है।

कवि दूलह ने अपने 'कवि-कुल-कण्ठाभरण' की भूमिका मे हिन्दी के तद्युगीन साहित्यिको का कुछ आभास दिया है.––

चरन, बरन, लच्छन ललित रचि रीझै करतार।

×× ×× ××

दीरघ मत सतकबिन के अर्थाशय लघुतर्ण।

×× ××

जो या कंठाभरन को कंठ करै सुख पाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

'कर्त्ता, 'सत्कवि', तथा 'अलकृती' ये तीन शब्द साहित्यिको के ३ वर्गो के परिचायक है। 'कर्त्ता' वह है जो रमणीय रचना कर सके, आज की भाषा मे उसको 'कवि' कहा जायगा, और रीतिकवियो के प्रसग मे यह शब्द मतिराम, भूषण आदि उन साहित्यिको का सकेत देता है जो लक्षणो की ओर ध्यान न देकर वर्णनप्रधान उदाहरणो मे सिद्धहस्त थे। 'सत्कवि' शब्द यहाँ 'आचार्य' के लिए प्रयुक्त है, जो व्यक्ति एक से अधिक अगो का निरूपण (एक ही पुस्तक मे) कर सकता था वह उस युग का आचार्य था––दूलह ने कदाचित् 'सत्कवि' शब्द का प्रयोग सस्कृत के आचार्यों के लिए किया हो, परन्तु देव ने 'पुराननि मुनि'[1] तथा

(१) **अलंकार मुख्य उनतालीस है देव कहे,**
येई पुराननि मुनि मतन में पाइये।

'आधुनिक कवि' शब्दो द्वारा सस्कृत के पुराने आचार्यो को 'मुनि' तथा सस्कृत-हिन्दी के समकालीन आचार्यो को 'कवि' शब्द से अभिहित किया है। हमारा विचार है कि 'मुनि' शब्द सस्कृत आचार्यो के लिए तथा 'सत्कवि' हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों के लिए प्रयुक्त हो तो अच्छा है। 'अलकृती' से दूलह का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो अलकारयुक्त कविता रच सके और अलकारविषय का ज्ञाता भी हो––चन्द्रालोक-शैली के जो आचार्य माने जाते है, वे सभी 'अलकृती' है।

अस्तु, तत्कालीन शब्दावली मे ही रीतिकाल के साहित्यिको के चार वर्ग इस प्रकार बनेगे ––

(१) सत्कवि––अनेक अंगों का एकत्र विवेचन करने वाले; दास, देव आदि,

(२) कर्त्ता––रीति के आश्रय से वर्णन करने वाले; मतिराम, भूषण आदि

(३) अलंकृती––अलंकारविषय के ज्ञाता और लेखक

(४) कवि––रीति-विहीन रचना करने वाले; बिहारी आदि

इस पिछले वर्ग से इस स्थल पर हमको कोई प्रयोजन नही, फिर भी इस पर विचार कर लिया है। कुछ आचार्य ऐसे भी है जिन्होने अलकार-विषय के अतिरिक्त किसी अन्य अग पर लिखा हो, उनका उसी अग के अनुसार वर्ग बनेगा। 'कर्त्ता' तथा 'कवि' का क्षेत्र बडा व्यापक है, जिसमे आचार्यत्व की प्रवृत्ति हो वह 'कर्त्ता' अन्यथा 'कवि' तो सभी है।

× × ×

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रति आधुनिक अनुराग को यदि ग्राफ द्वारा देखा जाय तो उसकी सीधी रेखा नही बनती––प्रारभ मे यह अनुराग उत्तरोत्तर वर्द्धमान दिखाई पडता है, परन्तु फिर इसकी गति कुछ काल तक के लिए स्तब्ध हो गई है, तदनन्तर नवीन परिस्थिति के प्रभाव मे इसमे पुन स्फूर्ति लक्षित होती है। विवेचन की वैज्ञानिक शैली, गद्य का माध्यम, तथा प्राय सगृहीत उदाहरण ही इन आचार्यो की सामान्य विशेषताएँ है, प्रत्येक आचार्य अपनी कुछ विशेषताओ का प्रण करके ही आगे बढा है, अत रीतिकालीन पिष्टपेषण की इतिश्री स्वत. एव हो गई है।

आधुनिक युग मे कविराजा मुरारिदान से लेकर रामदहिन मिश्र तक के काव्यशास्त्रियो की सख्या दो दशक से अधिक नही और चोटी के काव्य-शास्त्री तो एक दर्जन से अधिक न हुए होगे, परन्तु प्रत्येक आचार्य की कुछ अपनी विशेषताएं है। इस हेतु वर्गीकरण की समस्या यहा भी हल नही होती। मान्यताओ के नाम पर ये सभी आचार्य समन्वयवादी है। इन शास्त्रीय आलोचको की अपनी-अपनी विशेषताएँ अवश्य है परन्तु विवेचन तथा प्रतिपादन मे ही, प्रतिपाद्य विषय मे मौलिकता का प्रश्न इस युग मे भी प्राय ज्यो-का-त्यो बना रहा। लोक-रुचि या समय की माँग के अनुकूल प्रभूत सामग्री मे से "किम् ग्राह्यम्" "किम् अग्राह्यम्" पर ही आधुनिक आलोचक आचार्य बन गये है।

आधुनिक कविन के संमत अनेक और,
इनही के भेद और विविध बताइये ।। (भाव-विलास)

अस्तु, आधुनिक आचार्यो के सामान्यत दो वर्ग बन सकते है--(क) प्राचीनो के ही अनुसार अलकार-शास्त्र की लक्षण-उदाहरण वाली शैली पर पुस्तक लिखने वाले, (ख) अलकार शास्त्र पर विचारात्मक (प्राय. अनुसधान के सहारे) पुस्तक लिखने वाले। 'क' वर्ग मे ४ उपवर्ग हो सकते है--(१) समस्त साहित्य-शास्त्र पर रचना करने वाले (२) केवल अलकार-शास्त्र पर (३) केवल रस विषय पर (४) अन्य अगो पर। इसी प्रकार 'ख' वर्ग के भी ४ उपवर्ग बन सकते है--(१) समस्त रीति-शास्त्र के विवेचक (२) अलकार-विवेचक (३) रस-विवेचक (४) अन्य अगो (या अग) के विवेचक।

तालिका द्वारा इस वर्गीकरण को इस प्रकार दिखाया जा सकता है--

(क) वर्ग--प्राचीन पद्धति पर लक्षण-उदाहरण शैली के आचार्य।

(अ) उपवर्ग--समस्त साहित्यशास्त्र के व्याख्याता कविराज मुरारिदान, जगन्नाथ प्रसाद भानु, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र आदि।

(आ) उपवर्ग--अलंकार के व्याख्याता--भगवानदीन, अर्जुनदास केडिया आदि।

(इ) उपवर्ग--रस के व्याख्याता--अयोध्या सिंह उपाध्याय आदि ।

(ख) वर्ग--विचारात्मक (प्रायः अनुसंधान के सहारे) पुस्तक लिखने वाले।

(अ) उपवर्ग--समस्त काव्यशास्त्र के विवेचक--बा. गुलाबराय, डा. नगेन्द्र, डा. भागीरथ मिश्र, प्रो. बलदेव उपाध्याय।

(आ) उपवर्ग--अलंकार-विवेचक--डा. 'रसाल' आदि।

(इ) उपवर्ग--रस-विवेचक--आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा. भगवान दास, बा. गुलाबराय, डा. राकेश आदि।

(ई) उपवर्ग--अन्य अंगों के विवेचक--श्री लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु' आदि।

यह वर्गीकरण भी रीतिकालीन वर्गीकरण के समान निर्दोष नही है, क्योकि समसामयिक साहित्यिको का मूल्याकन कठिन कार्य है ।

हिन्दी काव्य-शास्त्र के आचार्यो का अध्ययन केवल विश्लेषणात्मक हो सकता है, प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व और उसकी परिस्थितियाँ उसके कृतित्व का कुछ आभास दे सकती है; अविच्छिन्न सम्बन्ध-सूत्र की खोज अथवा वर्गीकरण के प्रयत्न इस प्रसग मे अधिक सफल नही हो सकते । अत प्रस्तुत कृति मे हम अलकार के समस्त (मध्ययुगीन तथा गद्ययुगीन) आचार्यो का अध्ययन काल-क्रमानुसार ही कर रहे है, उनको किसी भी प्रकार के वर्गो मे बिठलाना हमको अवैज्ञानिक प्रतीत होता है । आधुनिक काल के हमने केवल वे ही आचार्य विवेच्य समझे है जिनमे लक्षण-लक्ष्य प्रणाली है, थीसिसी आचार्यत्व मात्र नही।

अध्ययन

अलकार-शास्त्र का साकेतिक अध्ययन तो सस्कृत-साहित्य के इतिहास के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु वैज्ञानिक अध्ययन का श्रेय डा० सुशीलकुमार दे तथा श्री काणे को है। इन विद्वानो की पुस्तके अग्रेजी मे है, डा० लहरी, डा० राघवन तथा डा० शकरन

ने भी काव्यशास्त्र पर अग्रेजी मे ही विद्वत्तापूर्ण पुस्तके लिखी है। हिन्दी मे इस अध्ययन का एक ही प्रभाव दिखाई पडता है कि कुछ विद्वान् अग्रेजी की पुस्तको से लाभ उठा कर सस्कृत-काव्य-शास्त्र पर हिन्दी मे पुस्तके लिख सके है।

सस्कृत-काव्यशास्त्र पर उपर्युक्त शैली की प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति श्री कन्हैयालाल पोद्दार की 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' (दो भाग) है। प्रथम भाग मे वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के काव्यशास्त्रीय सस्कृत-आचार्यो तथा उनकी कृतियो का परिचय है और द्वितीय भाग मे काव्यशास्त्र का अध्ययन है। श्री पोद्दार का उद्देश्य सस्कृत भाषा मे निबद्ध साहित्य का परिचयात्मक विवेचन ही है, वे हिन्दी के आचार्यो का इस पुस्तक मे सकेत नही करते। अपनी अन्य कृति 'काव्य-कल्पद्रुम' मे श्री पोद्दार जी ने हिन्दी आचार्यो का भी नाम लिया है, वह स्थल इतना सक्षिप्त है कि उसको विवेचन न कह कर 'सकेत' मात्र ही समझना चाहिए। प्रो० बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय-साहित्य-शास्त्र' (दो भाग) भी श्री पोद्दार के 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' (दो भाग) की कोटि की ही रचना है।

आलोचको ने केशव से पद्माकर तक के आचार्यो की समीक्षा करते हुए तद् तद् आचार्य के काव्यशास्त्र का परिचय दिया है, इन आचार्यो की कृतियो के सपादक भी भूमिका-रूप से कुछ विवेचना करते गए है, परन्तु ये दोनो ही ग्रथावलिया सक्षिप्त तथा अपूर्ण है। इनसे आचार्य विशेष के काव्य-सिद्धातो, विवेचन शक्ति तथा परम्परा-गत स्थान का कोई स्थिर ज्ञान नही हो पाता। इन कृतियो की विशेषता सर्वांगीण आभास है, किसी भी अग का पूर्ण मूल्याकन नही, इनकी शैली प्राय परिचयात्मक रही है, विवेचनात्मक नही बन पाई।

हिन्दी के माध्यम से काव्यशास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन डाक्टर उपाधि के लिए प्रस्तुत किये गए थीसिसो से आरम्भ होने लगता है। इस क्षेत्र मे प्रथम स्तुत्य प्रयत्न का श्रेय डा० रामशकर शुक्ल 'रसाल' को है, तदनन्तर डा० भगीरथ मिश्र का, 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' तथा डा० नगेन्द्र का 'रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता' इस क्षेत्र मे आये। ये तीनो अध्ययन ३ प्रकार के है डा० रसाल ने अपने १५० पृष्ठ के थीसिस मे 'काव्यालकार-शास्त्र' के केवल एक अग 'अलकार' को ही खोज का विषय बनाया था। यह थीसिस अग्रेजी मे है, हिन्दी मे इसकी छाया से 'अलकार-पीयूष' लिखा गया। डा रसाल जी का यह प्रयत्न आज तक अपने क्षेत्र मे अप्रतिम है। अलकारो का विवेचनात्मक अध्ययन इस प्रयत्न की मुख्य विशेषता है। परन्तु इसमे अलकारो का विवेचन है, सस्कृत या हिन्दी के आचार्यो का नही। आचार्य ने यथास्थान हिन्दी आचार्यो का मत भी उद्धृत किया है।

डा० भगीरथ मिश्र ने 'काव्यशास्त्र का इतिहास' लिखते हुए विवेचन को उतना महत्त्व नही दिया जितना कि इतिहास को। इस रचना को सूचना के लिए तो सबसे अधिक पूर्ण माना ही जाता है, कृतियो के विश्लेषण पर भी ध्यान देना चाहिए। प्रकाशित तथा हस्तलिखित प्रतियो को पढ कर उनके विषय मे पाठक को पूरी जानकारी देने के लिए डा० मिश्र धन्यवाद के पात्र है, उनकी कृति अनेक शोधकर्त्ताओ का आधार बन सकती है।

डा० नगेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका' मे काव्यशास्त्र के विभिन्न सप्रदायो का सुन्दर विवेचन अग्रेजी तथा सस्कृत की पुस्तको के आधार पर किया है। उनकी कृति का शास्त्रीय

अश डा दे, श्री काणे तथा श्री पोद्दार की परम्परा मे एक नवीन प्रयत्न है। पुस्तक का दूसरा खड 'देव और उनकी कविता' मे देव के आचार्यत्व पर सतुलित विचार किया गया है। लेखक की दृष्टि सर्वांगीण है, वह काव्य-सिद्धातो पर अधिक ध्यान देता है।

केशव, चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, पद्माकर आदि के व्यक्तित्व का अध्ययन आज भी हो रहा है। और क्योकि ये लोग कवि होने के साथ-साथ आचार्य भी थे, इसलिए दूसरे शोधकर्त्ता इन साहित्यिको के शास्त्रीय विवेचन पर भी विचार कर लेते है। कुछ शोध-कर्त्ता हिन्दी-साहित्य के प्रसग मे काव्य के अन्य अगो या काव्य के अगीभूत रस के भिन्न-भिन्न रूपो का भी अध्ययन कर रहे है।

प्रस्तुत प्रयत्न

हिन्दी के माध्यम से अब तक काव्यशास्त्र का जो अध्ययन हुआ है, वह दो प्रकार का है––सैद्धातिक तथा ऐतिहासिक। सैद्धातिक अध्ययन का आधार सस्कृत के ही ग्रथ है, हिन्दी के नही, क्योकि सस्कृतेतर भारतीय भाषाओ को स्वतत्र काव्यशास्त्र का सौभाग्य मिला ही नही। ऐतिहासिक अध्ययन के दो वर्ग हो सकते है––सस्कृत भाषा मे तथा हिन्दी भाषा मे। यह कहने की आवश्यकता नही कि सस्कृत मे सचित काव्यशास्त्र-राशि का ऐति-हासिक अध्ययन पर्याप्त काल से चला आ रहा है, परन्तु हिन्दी मे सचित काव्यशास्त्र-राशि का प्रथम विधिवत् प्रयत्न डा० भगीरथ मिश्र का है।

हिन्दी मे सचित काव्यशास्त्र की इस अपार राशि का विवेचनात्मक अध्ययन उसी समय सभव है जब एक-एक अग को लेकर स्वतत्र प्रयत्न किये जाय। प्रस्तुत कृति मे हमारा यही लक्ष्य है। यहा काव्यशास्त्र के एक प्रमुख अग को दृष्टि मे रख कर हिन्दी-आचार्यो का ऐतिहासिक क्रम से अध्ययन है, इस अध्ययन की अवधि केशवदास के काल से लेकर रामदहिन मिश्र के समय तक (लगभग ३५० वर्ष) है। हमने अलकार-विषय-मात्र का विवेचन करने वाले आचार्यो के साथ साथ अन्य अगो के बीच अलकार के विवेचको का भी अध्ययन किया है परन्तु दूसरे अगो का वही तक स्पर्श किया है जहा तक अलकार के हेतु वह नितान्त अनि-वार्य था। इस प्रकार हिन्दी के माध्यम से अलकार-विवेचन-परम्परा की ऐतिहासिक व्याख्या पूर्ण हो सकी है, ऐसा हमको विश्वास है। हस्तलिखित पुस्तको की खोज का हमने विशेष प्रयत्न नही किया, क्योकि हमारा उद्देश्य अप्रकाशित को प्रकाशित बनाना नही प्रत्युत एक विशेष दृष्टि से मूल्याकन-मात्र है।

प्रस्तुत अध्ययन की कतिपय स्वकीय विशेषताएँ भी है। केशवदास से रामदहिन मिश्र तक की इस अपार राशि के शृखलाबद्ध पूर्ण अध्ययन का यह प्रथम ही प्रयत्न है। इसका दृष्टि-कोण विवेचनात्मक है, ऐतिहासिक नही। इसमे केवल एक अग को विवेच्य बना कर गहराई तक जाने का प्रयास किया गया है, सर्वांगीण परिचय नही दिया गया। प्रसगत वर्गीकरण आदि विवादास्पद विषयो पर पूर्व मतो की समीक्षा करते हुए स्व-मत का विनम्र प्रतिपादन भी है। यहा केवल यह जिज्ञासा है कि हिन्दी माध्यम से आचार्यो ने अलकार-विषय का जो विवेचन किया है, वह कितना सफल है, उनकी रुचि तथा प्रतिभा का उस विवेचन पर कितना प्रभाव है, और आचार्यत्व की दृष्टि से उनकी कृतियो का क्या मूल्य है। इस अध्ययन के लिए

संस्कृत-भाषा मे अलंकार-विवेचन की पृष्ठभूमि अपेक्षित थी, इसलिए सर्वप्रथम उसका पर्यालोचन यहा सन्निविष्ट कर दिया है--आशा है उसके कुछ मौलिक निष्कर्ष भी पाठक को लाभदायक प्रतीत होगे ।

इस अध्ययन मे हम वर्गीकरण को स्वीकार नही कर सके है, अत आचार्यो का विवेचन काल-क्रमानुसार है--जिस प्रकार कि सस्कृत के आचार्यो का विवेचन हुआ करता है । यह निश्चय है कि हमारे विवेच्य काल मे सिद्धातो का जन्म नही हो रहा था, परन्तु यह भी मानना पडेगा कि पूर्व कृति का उत्तर कृति पर सामान्यत प्रभाव पडता ही है, अत वर्गीकरण को मानने पर भी वर्गानुसार की अपेक्षा काल-क्रमानुसार अध्ययन अधिक समीचीन जान पडेगा । हमारे मत मे हमारे विवेच्य-काल के दो भाग है--मध्य-युग तथा गद्य-युग इन युगो की कतिपय स्वकीय विशेषताएं है, जो युग का प्रतिफलनमात्र कही जा सकती है, शास्त्रीय परम्परा का प्रभाव नही ।

मध्ययुगीन अलंकार-साहित्य

केशवदास : कविप्रिया

(स० १६५८)

आचार्य केशवदास के कविशिक्षा-सम्बन्धी तीन ग्रन्थ मिलते है, रसिकप्रिया (रचनाकाल स० १६४८), रामचन्द्रिका (स० १६५८), तथा कविप्रिया (स० १६५८)। जिनमे से 'रामचन्द्रिका' मे "परब्रह्म श्रीराम" के यश का अनेक प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध छन्दो मे वर्णन करके केशव ने अपनी अपूर्व सामर्थ्य का परिचय दिया है तथा शिष्यो के लिए आदर्श उपस्थित किया है; लक्षण देने की आवश्यकता नही समझी गयी। शेष दो पुस्तको मे वर्ण्य विषय के लक्षण भी है तथा उदाहरण भी। 'रसिकप्रिया' उनकी प्रथम रचना है, उसमे विवेचन की अपेक्षा उमग अधिक है और 'रामचन्द्रिका' मे छन्द के साथ-साथ कथा[1] रचयिता का मुख्य उद्देश्य बन गई थी, परन्तु 'चन्द्रिका' मे ठीक चार मास उपरान्त[2] लिखी गई 'कविप्रिया' मे केशव एक प्रौढ आचार्य बने हुए है---उन्होने विवेचन के अतिरिक्त सिद्धान्त-प्रतिपादन भी किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'कविप्रिया' आचार्य केशव की सबसे प्रौढ तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है।

यदि केशव अपनी पुस्तक मे यह स्पष्ट न करते कि 'प्रिया' की रचना उन्होने किस के लिए और क्यो की, तो हम यह सभावना कर सकते थे कि उस अभिमानी पडित ने, सस्कृत मे पडितराज जगन्नाथ तथा हिन्दी मे परवर्ती कविराजा मुरारिदान के समान, पुराने मतो का खडन करके काव्यशास्त्रसम्बन्धी कुछ नवीन मतो का प्रतिपादन किया होगा। परन्तु इस सभावना की आवश्यकता नही रहती, क्योकि केशव ने पहले 'प्रभाव' मे ही यह लिख दिया है कि रमा, शारदा तथा शिवा के समान गुणवती प्रवीणराय नाम की एक पातुर के लिए[3] (उसकी शिक्षा के लिए) ही इस पुस्तक की रचना हुई है। प्रवीणराय तो व्याज-मात्र है, वह स्वय तो कविता[4] कर लेती थी; केशव ने यह देखा कि काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ अनेक है, उनके मत भी विभिन्न है सुकुमार बुद्धिवाले बालक-बालिकाओं[5]

---

(१) **रामचन्द्र की चन्द्रिका, वरणत हौं बहु छंद। (रा० चं०)**

(२) **सोरह सै अट्ठावनै, कार्तिक सुदि बुधवार।**
रामचन्द्र की चन्द्रिका, तब लीन्हों अवतार॥ (रा० चं०)
प्रगट पंचमी को भयो, कविप्रिया अवतार।
सोरह सै अट्ठावनो, फागुन सुदि बुधवार॥ ।१।४। (कविप्रिया)

(३) **ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केशवदास ।१।६१।**

(४) **तिनमें करत कवित्त इक, राय प्रवीन प्रवीन ।१।५६।**

(५) **समझै बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध ।३।१।**

के लिये यह सभव नही कि सस्कृत के उन ग्रथो को पढे और फिर कविता का अभ्यास करे––इसी परिस्थिति पर विचार करके आचार्य ने 'कविप्रिया' की रचना की। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि ––

(i) **इस पुस्तक की रचना केशव ने किसी नवीन संप्रदाय के प्रचलन को ध्यान म रख कर नहीं की,**

(ii) **कवियों तथा आचार्यों के उपयोग के लिए भी नही––उनसे तो इस रचना के लिए क्षमा मांगी है[1]।**

(iii) **यह कृति अनेक पुस्तकों का सार[2] है,**

(iv) **उदीयमान कवि इसको आसानी से समझ कर (कंठ कर)[3] अपने कर्म में सफल हो सकेंगे––ऐसी लेखक को आशा है।**

हिन्दी मे जितनी पुस्तके काव्यशास्त्र-सम्बन्धी मिलती है उन सबसे विचित्र इस पुस्तक का नाम है, जिससे लेखक या आश्रयदाता का कोई सकेत नही मिलता, प्रत्युत उसके सम्भाव्य महत्त्व की आशा झलकती है––षोडश शृगारो के समान[4] सोलह "प्रभावो" वाली यह रचना-रमणी कवियो की प्रिया[5] बनकर उनके गले से (कठमाल ज्यो[6]) सदा लगी रहेगी। यह नाम भी केशवदास के पाडित्य का द्योतक है। आचार्य वामन ने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सूत्रो की रचना कर उनकी एक वृत्ति भी स्वय तैयार की और उसका नाम 'कविप्रिया'[7] रखा। केशव ने इसको अवश्य पढा होगा और अपनी रचना के लिए यह नाम ही उनको अधिक पसद आया होगा––भामह, दण्डी तथा वामन, रुद्रट से केशव बडे प्रभावित थे, यह उनकी साम्प्रदायिक मान्यताओ से स्पष्ट है, क्या आश्चर्य है कि 'कविप्रिया' लिखने से दस वर्ष पहले ही उन्होने अपनी कवि-शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक का नाम सोच लिया हो और उसी नाम के अनुकरण पर रसिको के लिए लिखी गई पुस्तक का नाम 'रसिकप्रिया'[8] रख दिया हो?

'कविप्रिया' मे सोलह 'प्रभाव' है। प्रथम मे वदना, प्रणयन-काल, राजवश-वर्णन तथा प्रणयन-हेतु का कथन है, दूसरे मे कवि वश-वर्णन है। तीसरे से सोलहवे प्रभाव तक मुख्य वर्ण्य वस्तु को स्थान मिला है। आचार्य ने काव्य का लक्षण नही दिया, प्रत्युत यह

(१) **छमियो कवि अपराध।३।१।**

(२) **सुनि सुनि विविध विचार।३।२।**

(३) **कंठ करो कविराज।३।३।**

(४) **कविप्रिया के जानिये, ये सोरह शृंगार।१६।८७।**

(५) **कविप्रिया है कविप्रिया।१६।८८।**

(६) **कंठमाल ज्यों कविप्रिया।३।३।**

(७) **प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।**
काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥

(८) **डा० दे के अनुसार इंद्रजीत नामक संस्कृत-कवि ने 'रसिकप्रिया' नाम की पुस्तक संस्कृत में लिखी है, (दे० संस्कृत पोइटिक्स, पृ० २८६)।**

बतलाया है कि कवि सोच-सोच कर अपनी कृति को सुन्दर[1] बनाने मे लगा रहता है, तनिक-सा भी दोष काव्य को निन्दनीय बना देता है, इसलिए सौदर्य-साधन की अपेक्षा दोष-निवारण मे अधिक सचेत रहना चाहिये[2]। जिस प्रकार मदिरा की एक बूद से ही[3] गगाजल का भरा हुआ घडा अपवित्र हो जाता है उसी प्रकार तनिक दोष से भी सारा काव्य अग्राह्य बन जाता है। केशव के इस कथन मे सौदर्य पर बल कम है प्रतिष्ठा पर अधिक, भामह मे ही ऐसा ही सकेत है--एक भी सदोष पद का प्रयोग न करे क्योकि सदोष काव्य से उसी प्रकार निन्दा होती है जिस प्रकार कि कुपुत्र से[4]। परन्तु दण्डी[5] का आग्रह सौदर्य पर आश्रित है--सुन्दर शरीर मे यदि एक भी सफेद चिन्ह कोढ हो तो वह सारे शरीर को अरुचिकर बना देता है, इसी प्रकार काव्य तनिक से भी दोष से अग्राह्य बन जाता है, रुद्रट के 'काव्यालकार' पर नमिसाधु[6] ने अपनी टिप्पणी मे भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। काव्य के वर्णन मे दोष पर इतना जोर देना केशव की अपनी सूझ नही है, भामह, दण्डी तथा रुद्रट के विचार तो स्पष्ट हो ही चुके है, नव्य आचार्यो ने भी काव्य का लक्षण बतलाने के लिए दोषहीनता पर सबसे पहिले ध्यान दिया है--आचार्य मम्मट[7] के मत मे **दोषरहित** और गुणसहित कही-कही अलकृत शब्दार्थ को काव्य कहना चाहिये, और उनके कटु आलोचक आचार्य जयदेव[8] के मत मे **निर्दोषा**, लक्षणवाली, रीतियुक्त, गुणयुक्त, अलकार-रसवाली, अनेक वृत्तियो से युक्त वाणी काव्य कहलाती है। यहा तक कि रसवादी विश्व-नाथ ने[9] पिछले लक्षणो का खडन करके रसात्मकता की प्रतिष्ठा की, परन्तु तत्काल ही रस के अपकर्षक दोषो पर उनको ध्यान देना पडा।

दोषो की सख्या अपार है। केशव ने उनके तीन वर्ग बनाये है, जिनका क्रम उनके महत्त्व का सूचक है। प्रथम वर्ग मे ५ दोष है, दूसरे मे १३, तथा तीसरे वर्ग की चर्चा उन्होने 'कविप्रिया' मे न करके 'रसिकप्रिया'[10] मे की है--वे सभी रसदोष जो है। दोषो के प्रथम

(१) **सुवरण को सोधत फिरत।३।४।**
(२) **प्रभु न कृतघ्नी सेइये, दूषण सहित कवित्त।३।६।**
(३) **बुंदक हाला परत ज्यों, गंगाघट अपवित्र।३।५।**
(४) **सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।**
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते।१।११।(भामह : काव्यालंकार)
(५) **तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।**
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।१।७। (दण्डी : काव्यादर्श)।
(६) **सकलालंकारयुक्तमपि हि काव्यमेकेनापि दोषेण दुष्येत, अलंकृतं वधूवदनं काणेनेव चक्षषा। (रुद्रट : काव्यालंकार, नमिसाधु की १।१४ पर टीका)।**
(७) **तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।१।४। (काव्यप्रकाश)।**
(८) **निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।**
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्।१।७। (चन्द्रालोक)
(९) **वाक्यं रसात्मकं काव्यं, दोषास्तस्यापकर्षकाः।१।१। (साहित्यदर्पण)**
(१०) **रसिकप्रिया ते जानु।३।६१।**

तथा द्वितीय वर्ग मे अन्तर बडा सूक्ष्म है जो उदाहरणो मे ही स्पष्ट हो पाता है, दूसरे वर्ग मे प्राय वे दोष है जिनकी चर्चा सस्कृत के नव्य आचार्यो ने भी की है और जो कवि की अशक्ति के द्योतक है, परन्तु पहिले वर्ग के ५ दोष सामान्यत पाठक को मालूम नही पडेगे, वे अशक्तिजन्य नही है, प्रत्युत दक्षता की कमी दिखलाते है। कविता-वनिता के ये दोष ५ है--अध, वधिर, पगु, नग्न तथा मृतक[1]। ये सब दोष शरीर के है, उपचार की दृष्टि से इनके ३ वर्ग हो सकते है--(१) अध, वधिर तथा पगु--जिनका उपचार दुसाध्य है, (२) नग्न--जिसका उपचार सर्वसाध्य है, (३) मृतक--जिसका उपचार असाध्य है। मृतक का तो एक ही उपचार है--त्याग, इसलिए अर्थहीन मृतक काव्य तो बस नष्ट ही है। अध, वधिर तथा पगु जीवित तो रहेगा परन्तु सदा अशुभ तथा अकीर्त्तिकर बनकर, उसका उपचार होना नही देखा गया। परन्तु नग्न का उपचार सर्वसाध्य है, इसलिए इसके प्रति अवहेलना अशोभा का भी हेतु है तथा निन्दा का भी--इसलिए आचार्य केशव ने अपने शिष्यो को यह सम्मत्ति दी है कि काव्य मे नग्न-दोष को सहन न करना चाहिए, इतना ही नही, काव्य को वस्त्राभूषणो मे सजाकर ही रखना चाहिए।

वस्त्राभूषण की यही सजावट कवि का मुख्य कर्म है, केशव ने इसको 'अलकार' नाम दिया है। अलकारहीन कविता[2] नग्न है, उच्च जाति, शुभ सामुद्रिक लक्षण, सुन्दर रग, प्रेमपूर्ण हृदय, तथा मधुर स्वभावयुक्त वनिता[3] भी नग्न रहने पर मन को रुचिकर नही लगती, इसी प्रकार उत्तम जाति, लक्षण, वर्ण, रस तथा छन्द वाली परन्तु अलकारहीन नग्न कविता पाठक के मन को भाती नही। दोष-वर्जन के साथ ही साथ अलकार-प्रयोग की यह विशेषता सस्कृत के पुराने आचार्यो मे भी आग्रह की द्योतक है, दण्डी[4] के मत मे अलकारसम्पन्न काव्य चिरस्थायी बन जाता है, भामह[5] ने कहा है कि सुन्दर होने पर भी रमणी का मुख भूषण बिना मनोरम नही लगता, और अग्नि पुराण[6] मे अलकार रहित सरस्वती को विधवा के समान माना है। सस्कृत के इन आचार्यो ने अलकार को काव्य की आत्मा या प्राण नही बतलाया, प्रत्युत अलकार कवि-हृदय के उल्लास का सूचक है और श्रोता को अपनी ओर आकृष्ट करता है, अधौतवदना सुन्दरी या विधवा युवती को देखकर किस सहृदय के मन को ठेस न पहुचेगी और सुसज्जित रमणी के अवलोकन मात्र से किस पुरुष के मन मे बिजली-सी न दौड जायगी ? आचार्य केशव ने मृतक तो अर्थहीन[7] काव्य को माना है, अलकारहीन को वे निर्जीव नही कहते--उदास भी नही--

(१) **अंध, बधिर अरु पंगु तजि, नग्न, मृतक मति शुद्ध।३।७।**
(२) **नग्न जु भूषण हीन।३।८।**
(३) **जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।**
भूषण बिनु न बिराजई, कविता वनिता मित्त॥५।१॥
(४) **काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति।१।१९। (काव्यादर्श)**
(५) **न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।१।१३। (काव्यालंकार)**
(६) **अलंकाररहिता विधवेव सरस्वती।**
(७) **मृतक कहावै अर्थ बिनु। ३।८।**

प्रत्युत नग्न के समान समझते है—वह अच्छा नही लगता ('न बिराजई')। वामन[१] ने कहा है कि काव्य मे जो कुछ सुन्दर है उसे अलकार कहते है और काव्य की प्रतिष्ठा अलकार पर निर्भर है। आचार्य जयदेव[२] ने, आगे चलकर, अलकार को काव्य का बहुत-कुछ समझ लिया, और अलकारहीन काव्य को उसी प्रकार निष्प्राण माना जिस प्रकार उष्णता के बिना अग्नि को। केशव इस मत मे अधिक विश्वास नही रखते, प्रत्युत पुराने आचार्यो से महमत दिखलाई पडते है—एक बार तो ऊपरी शृगार[३] उनको प्रकृत सुन्दर रूप का अपकर्षक[४] जान पडा था।

आचार्य रामचन्द्र[५] शुक्ल ने केशवदास को अलकारवादी आचार्य माना है, परम्परा भी इसी पक्ष मे है। परन्तु ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिस अर्थ मे जयदेव अलकारवादी थे ठीक उसी अर्थ मे केशव नही कहे जा सकते, केशव दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों के अनुयायी है जबकि शोभाकारक[६] धर्म मात्र का नाम अलकार था। पीछे[७] शोभा के दो हेतु माने गये, एक शोभा का जनक था और दूसरा शोभा का वर्द्धक, प्रथम को 'गुण' नाम दिया गया और दूसरे को अलकार', एक को स्थायी या नित्य धर्म माना गया दूसरे को अस्थायी या अनित्य[८]। तब आचार्य मम्मट ने काव्य के लक्षण मे गुणो की नित्यता मानी थी और '**अनलंकृती पुनःक्वापि**' कहकर अलकारो की अनित्यता, जिसका उत्तर आचार्य जयदेव ने "**असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती**" कहकर दिया था। केशव के साथ गुण और अलकार के पृथक्त्व का यह प्रश्न ही उत्पन्न नही होता, क्योकि वे तो इस झगडे से बहुत पहिले के आचार्यो के अनुयायी थे।

हा, तो केशव के मत मे नग्नत्व दोष को दूर करनेवाले धर्म का नाम अलकार है। अर्थात् अलकार के अन्तर्गत वस्त्र भी आते है तथा आभूषण भी। प्रथम को सामान्य या साधारण अलकार कहते है, द्वितीय को विशिष्ट[९]—ये दोनो रूप प्राचीन आचार्यों के ही

(१) **काव्यं ग्राह्यमलंकारात्।**
सौंदर्यमलंकारः। (काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः)

(२) **अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।**
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥१।८। (चन्द्रालोक)

(३) **काहे को सिंगार कै बिगारति है मेरी आली,**
तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगारे है। ९। १२।

(४) **तुलना कीजिए—अनलंकृतकांतं ते वदनं वनजद्युति। ३।५१। (भामह)**

(५) **हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३६.**

(६) **काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। २।१। (काव्यादर्श)**

(७) **रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १६५.**

(८) **काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। ३।१। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।३।२।**
पूर्वे नित्याः।३।३। (काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः)

(९) **कबिन कहे कबितान के, अलंकार द्वै रूप।**
एक कहै साधारणं, एक विशिष्ट सरूप।५।२।

अनुसार है। चौथे प्रभाव मे तो कवि-भेद-वर्णन था, पाचवे मे सामान्य अलकार का प्रसग प्रारभ होता है और आठवे के अन्त तक चलता है। सामान्य अलकार को कवि-शिक्षा कह सकते है—कब, किसका, किस प्रकार से वर्णन करना चाहिए, इस बात का लोक-शास्त्र तथा कविसमय-सम्मत ज्ञान। वर्णन की सामग्री दो मार्गो से आती है—प्रकृति-वैभव '(भूमिश्री) तथा राजवैभव (राज्यश्री), और वर्णन मे दो बातो का ध्यान रखा जाता है—रग (वर्ण) तथा आकृति (वर्ण्य)। इस प्रकार सामान्य अलकार के चार[1] भेद हो गये। जिनका विवेचन 'कविप्रिया' के चार (पचम से अष्टम) प्रभावो मे है।

आचार्यो ने शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (व्युत्पत्ति) तथा अभ्यास को समुदित रूप से काव्य का हेतु[2] माना है। वाग्भट्ट के मत मे काव्य का हेतु तो प्रतिभा ही है, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास प्रतिभा मे सस्कारमात्र करते है—**"प्रतिभैव च कवीना काव्यकरण-कारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव सस्कार-कारकौ न तु काव्यहेतू"**। अभ्यास अपने आप नही होता, किसी काव्यज्ञ का शिष्यत्व ग्रहण करना पडता है, और उससे शिक्षा ली जाती है। केशव ऐसे ही काव्यज्ञ थे, उन्होने शिष्यो के लिये ही शिक्षा रूप मे 'कविप्रिया' की रचना की है, और सामान्य अलकार मे चार प्रभाव लगा दिये है, आज के पाठक के लिए भले ही वे भार-स्वरूप बन गये हो परन्तु कविभवितुकामा के लिये उस समय वे बडे उपयोगी थे। काव्यशास्त्र के पाठक दो वर्गो मे रखे जा सकते है—(१) जो कोरे विद्वान् या आलोचक बन रहे हो, (२) जो काव्यकला सीखना चाहते हो। पहिलावर्ग आजकल के स्कालरो तथा पुराने पडितो का है—आजकल बहुत अधिक, पहिले बहुत कम। दूसरा वर्ग कवियो या प्राचीन अर्थ मे 'साहित्यिको' का था—साहित्य पढने मात्रसे कोई 'साहित्यिक' न बन सकता था, साहित्य-सृष्टि से ही, 'साहित्यिक' का पद मिलता था। पुराने आचार्यो ने 'साहित्यिको' के लिये ही प्राय काव्यशास्त्र की रचना की है, इसलिये वहा कविशिक्षा को भी स्थान मिला है—वाग्भट्ट आदि ने प्रथम अध्याय मे ही कविशिक्षा का प्रसग चलाया है और वह भी बडे विस्तार से। उस सम्प्रदाय के अनुयायी केशव ने भी वैसा ही किया है। 'कविसमयख्यातादि'[3] को तो विश्वनाथ जैसे नव्य आचार्य भी न छोड सके।

'कविप्रिया' के उत्तरार्द्ध मे (नवम 'प्रभाव' से लेकर सोलहवे 'प्रभाव' तक) 'विशिष्ट' अलकारो का विवेचन है। इनकी सख्या ३७ है—भेदो को अलग नही गिनाया गया, और इनके आठ वर्ग बनाकर इनको आठ 'प्रभावो' मे रखा है। इस बात का अभी तक कोई सकेत नही मिलता कि इन अलकारो का क्रम किसी नियम पर आश्रित है अथवा नही,

(१) **वर्ण, वर्ण्य, भू-राज-श्री भूषण केशवदास ।५।३।**

(२) **व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः ॥ (वाग्भट्ट : काव्यानुशासनम्)**
शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।१।३। (काव्यप्रकाश)

(३) **दे. साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद, छन्द संख्या १८ के अनन्तर।**

और इस वर्गीकरण का आधार क्या कोई विशेष सिद्धात है ? प्रारभ मे अलकारो की जो नामावली है उसी के क्रम का आगे निर्वाह किया गया है । लक्षण दोहे मे है और उदाहरण प्राय कवित्त या सवैये मे, उदाहरणो के रूप मे केशव ने अपने पुराने छद भी रखे है और नय बनाकर भी, प्राय एक भेद का एक ही उदाहरण दिया है । उदाहरणो मे मौलिकता सर्वत्र दिखलाई पडती है । दण्डी से अधिकाश मे सहमत होते हुए भी केशव ने अलकारो के प्रसग मे अलकार-दोषो की चर्चा नही की ।

आठ प्रभावो मे अलकारो के नाम तथा सख्या इस प्रकार है --

नवम प्रभाव--स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा--६

दशम प्रभाव-- आक्षेप--१

एकादश प्रभाव--क्रम, गणना, आशिष, प्रेम, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निर्दशना, ऊर्ज, रसवत , अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपन्हुति--१३

द्वादश प्रभाव--उक्ति (वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति), व्याजस्तुति, व्याज निन्दा, अमित, पर्यायोक्ति, युक्त--६

त्रयोदश प्रभाव--समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका, परिवृत्त--८

चतुर्दश प्रभाव--उपमा--१

पंचदश प्रभाव--जमक--१

षोडश प्रभाव--चित्र--१

अब प्रत्येक प्रभाव के मुख्य-मुख्य अलकारो पर विचार करते है ।

नवम प्रभाव

इस प्रभाव मे ६ अलकार है, परन्तु उनमे कोई पारस्परिक सामीप्य नही है । सर्वप्रथम **'स्वभावोक्ति'** अलकार है, दण्डी ने भी इस अलकार को सबसे पहिले उठाया है, लक्षण दण्डी से मिलता-जुलता है, अन्तर यह है कि दण्डी की स्वभावोक्ति केवल रूप[1] का ही साक्षात् प्रकाशन करती है केशव ने रूप के साथ 'गुण'[2] को भी जोड दिया है--इस प्रकार केशव ने इसके दो भेद कर दिये है । स्वभावोक्ति का पुराना नाम 'जाति'[3] भी है, केशव ने शायद इसको नही लिखा--सभव है केशव के लक्षण मे 'तासो जान स्वभाव' के स्थान पर 'तासो जानि स्वभाव,[4] भी पाठ हो ।

विभावना के केशव ने दो भेद माने है--(१) जहा विना कारण के कार्योत्पत्ति हो, (२) जहा प्रसिद्ध कारण के विना अन्य कारण से कार्योत्पत्ति हो । ये दोनो भेद दण्डी के लक्षण मे ही छिपे हुए है, और **"प्रसिद्ध हेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित् कारणान्तरम्"** (३।११९) कहकर उन्होने जिस भेद का सकेत किया था उसकी अवहेलना पीछे आचार्य मम्मट ने

(१) **नानावस्थं पदार्थाना रूप साक्षाद् विवृण्वती ।२।८। (काव्यादर्श)**

(२) **जाको जैसो रूप गुण कहिये ताही साज ।९।८।**

(३) **स्वाभावोक्तिश्च जातिश्च । २।८। (काव्यादर्श)**

(४) **तासों जान स्वभाव सब कहि बरणत कविराज । ९।८।**

कर दी, परन्तु विश्वनाथ ने इसके दो भेद--उक्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता (सा. द. १०।८७)--किये है। कुवलयानन्द मे तो ६ भेद मिलते है, जिनमे से चतुर्थ भेद केशव की यही 'अन्य विभावना' है।

दण्डी ने हेतु के कारक तथा ज्ञापक दो भेद बतलाकर हेतु अलकार के भेद किये है, परन्तु केशव ने ऐसा न करके इसके केवल ३ भेद (९।१५) माने है। हा, केशव के उदाहरण दण्डी से बडे प्रभावित है, **"पीछे अकाश प्रकाश शशी, बढ़ि प्रेम-समुद्र रहे पहिले ही"** (९।१८) वाला सवैया दण्डी के उदाहरण[1] का ही छायानुवाद है। दण्डी के प्रभाव से ही केशव ने **विरोध** तथा विरोधाभास को मिला दिया और एक उदाहरण का (कविप्रिया ९।२०) छायानुवाद[2] कर दिया है।

कविप्रिया का **विशेष** अलकार नव्य आचार्यो की विभावना से मिलता है। हा, पीछे के आचार्यो[3] मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित आदि ने विशेष का जो तीसरा भेद माना है उसमे केशव के विशेष की समानता खोजी जा सकती है। **उत्प्रेक्षा** की केशव ने चलती चर्चा कर दी है, जो दो उदाहरण दिये है उनमे से पिछला (९।३२) तो अपन्हुति और सन्देह दोनो के झमेले मे डाल देता है, उत्प्रेक्षावाचक शब्दो का प्रसग भी नही आता।

दशम प्रभाव

'कविप्रिया' का दशम प्रभाव केवल **आक्षेप** अलकार का वर्णन करता है, इसके विस्तार को देखकर आश्चर्य होगा, परन्तु जब 'काव्यादर्श' मे इसके भेदो की अनन्तता[4] की स्वीकृति तथा २४ भेदो की चर्चा पाते है तो हमारा रोष कुछ ठडा पड जाता है—केशव ने तो केवल १२ भेद ही लिखे है। केशव ने कालसम्बन्धी तीनो प्रतिषेध तथा धर्माक्षेप, सशयाक्षेप, आशीर्वचनाक्षेप दण्डी से लिये है, शेष ६ नाम, उनके अपने है। दण्डी से सहमत होकर यद्यपि केशव ने तीनो कालो मे प्रतिषेध का वर्णन किया है, फिर भी वर्त्तमान में न माननेवाले[5] मम्मट तथा विश्वनाथ के मत को भी आदर[6] दिया है। ध्यान देना होगा कि सस्कृत के नव्य आचार्यो ने प्रतिषेध केवल दो कालो मे माना है और प्रतिषेध के अनेक

(१) **पश्चात् पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमंडलम्।**
प्रागेव हरिणाक्षीणा मुर्दीर्णो रागसागरः।२।२५७। (काव्यादर्श)

(२) **काव्यादर्श।२।३३९।**

(३) **अन्यत्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।**
तथैव करणं चेति · · · (काव्यप्रकाश) ।१०।१३६।
किंचित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा।
कार्यस्य करणं वैवाद् . । (सा. द. १०।९६)
किंचिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः।१०१। (कुवलयानन्द)

(४) **अथास्य पुनराक्षेप्य भेदानन्त्यादनन्तता। २।१२०।**

(५) **वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः।१०।१०६-७ (काव्यप्रकाश)**

(६) **कविकुल कोऊ कहत हैं, यह प्रतिषेधहि दोइ। १०।२।**

प्रकारो पर विचार नही किया, इसलिये 'आक्षेप' के "अनन्त" भेद उनके यहा निही मिलते। केशव ने पुरानी बात को ही स्वीकार किया, हा, शिक्षाक्षेप के प्रसग मे बारहमासा लिखना और सभी उदाहरण शृगार के ही लेना उनके युग का उनपर प्रभाव मात्र दिखलाते है। आक्षेप अलकार का चमत्कार 'विधि मे निषेध' है--ऐसा जान पडता है कि हमारे कर्म से दूसरा व्यक्ति सहमत है परन्तु वह सहमत नही होता, उसकी स्वीकृति मे अस्वीकृति से भी प्रबल निषेध छिपा रहता है। केशव के कुछ उदाहरण निश्चय ही सुन्दर है--उसने प्रिय को बहुत समझाया कि विदेश मत जाओ पर वह माना नही, तब एक दिन उसने गभीर होकर कहा कि सचमुच आपको आवश्यक कार्य है तो आप चले जाइए सकोच की कोई बात नही, जो चले जाते है क्या वे फिर आकर के नही मिलते, इसलिये मोह को छोडो, मोह तो बढाने से और भी बढता है, हा वहा जाकर सुख मे रहना, मेरी याद मत करना, और जब जाओ तो मुझको सोती ही छोड जाना, जगाना मत--मै चैन मे सोती रहूगी जब तुम आओगे तब जगूगी (१०।१२)। यहा कहते-कहते यह सूचना दे ही दी कि तुम्हारे जाने से पहिले ही मेरे प्राण निकल जावेगे--कर लो मनचाही निष्ठुरता। 'शिक्षा-क्षेप' के बारहमासे वाले उदाहरणो मे प्रकृति की उद्दीपकता का वर्णन कर इसी निषेध की व्यञ्जना है, जिन उदाहरणो मे स्पष्ट यह कह दिया है कि 'कत न करहु विदेश मति' (१०।३०) वे उतने सुन्दर नही है।

ग्यारहवाँ प्रभाव

'**क्रम**' से लेकर '**अपन्हुति**' तक के भिन्न-भिन्न प्रकार के १३ अलकार एक ही 'प्रभाव' के अन्तर्गत रख दिये है। पहिला अलकार 'क्रम' है, परन्तु यह मम्मट (अथवा दण्डी का भी) 'यथासख्य' या 'क्रम' नही है, लक्षण मे तो कुछ स्पष्ट नही होता, हा उदाहरणो मे यह माना जा सकता है कि केशव का क्रम मम्मट का 'एकावली' अलकार है--केशव का दूसरा उदाहरण (११।३) मम्मट द्वारा एकावली के प्रसग मे उद्धृत एक छद[1] का स्पष्ट अनुकरण है। '**गणना**' अलकार 'सामान्य' अलकारो के साथ रहता तो अधिक अच्छा था, इसमे उदीयमान कवि को यह बतलाया है कि लोक मे किस वस्तु की कितनी सख्या मानी गई है, और एक से लेकर दस तक की सख्या की शिक्षा पाठक को मिल जाती है।

आशीरलंकार दण्डी तथा भामह ने माना है, परन्तु केशव ने गुरुजनो के आशीर्वाद मात्र को अलकार कह दिया है, सस्कृत आचार्य चमत्कार उस स्थल पर मानते है जहा उपभोक्ता की 'अभिलषित'[2] वस्तु मे उस कथन का सम्बन्ध हो, पर केशव ने इस विशेषता पर ध्यान नही दिया। इसी प्रकार दण्डी के 'प्रेयस्' अलकार का अनुकरण करते हुए भी केशव का '**प्रेम**' अलकार प्रीति का वर्णन मात्र बन गया है।

श्लेष केशव का अपना अलकार है। सामान्य लक्षण के अनन्तर २ से ५ अर्थ तक

(१) **न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजम्--इत्यादि**

(२) **आशीर्नामाभिलषितं वस्तुन्याशंसनं यथा। (दंडी)**
आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मता।
सौहृदस्याविरोधोक्तौ---।३।५५॥ (भामह)

वाले छन्दो के उदाहरण है। तब "अभिन्न पद" तथा "भिन्न पद" (११।३४) श्लेष के ये दो भेद किये है, अभिन्न पद का लक्षण नही दिया केवल उदाहरण है, भिन्नपद का लक्षण भी है। भिन्न पद का दूसरा नाम "उपमा श्लेष" भी है--'ऐसे श्लेष प्राय उपमा के लिये लिखे जाते है' (दीन)। 'भिन्न पद' और 'अभिन्न पद' का यह विभाजन 'सभगपद' तथा 'अभगपद' के विभाजन से भिन्न है --सभगपद तथा अभगपद तो भिन्नपद के ही दो भेद है (जैसा कि उसके लक्षण[१] से स्पष्ट है)। केशव ने श्लेष के ५ भेद और किये है--अभिन्नक्रिया, भिन्नक्रिया, विरुद्धकर्मा, नियमश्लेष तथा विरोधीश्लेष--परन्तु इनके लक्षण नही दिये, केवल उदाहरण है। दण्डी ने भिन्नपद तथा अभिन्नपद के अतिरिक्त श्लेष के ७ भेद और किये थे--अभिन्नक्रिया, अविरुद्धक्रिया, विरुद्धक्रिया, सनियम, नियमाक्षेपसम्पोक्ति, अविरोधी तथा विरोधी। केशव ने अपनी सामग्री प्राय काव्यादर्श से ही ली है--१ का नाम बदल दिया है, १ बढा दिया है तथा ३ भेद छोड दिये है। दण्डी के समान ही केशव ने श्लेष को सर्वत्र अगी माना है और दूसरे अलकारो को अग, फलत जिन उदाहरणो मे दूसरे अलकारो का चमत्कार है वहा भी श्लेष को मुख्यता दी है--नियमश्लेष के दोनो छद (श्लेषगर्भित तो है ही) श्लेष की अपेक्षा परिसख्या के अधिक अच्छे उदाहरण बन सकते थे।

सूक्ष्म के लक्षण मे दण्डी और मम्मट न इगित तथा आकार से (काव्यादर्श २।२६०) अर्थ का प्रकटीकरण माना है (काव्यप्रकाश १०।१२२ वृत्ति)। केशव ने दो परिवर्त्तन किये। i साधनो मे "भावप्रभाव" (११।४५) जोड दिया, ii और अभिव्यक्ता के स्थान पर गृहीता को अधिक महत्व दे दिया--"जाने जिये की बात"। कहने की आवश्यकता नही कि ये दोनो सुधार निरर्थक है। दण्डी ने **लेश** अलकार के दो रूप माने है-- i जहा प्रकट होनेवाली वस्तु को चतुराई से छिपाया जाय[२], ii जहा लेशत कृता स्तुति से निन्दा या निन्दा से स्तुति हो[३]। प्रथम रूप दण्डी को स्वीकृत है और कदाचित् इसीलिये केशव ने केवल इसी की चचा की है, दूसरा रूप दण्डी ने लिखा अवश्य है परन्तु दूसरो का मत मानकर अपना नही--पीछे सस्कृत के आचार्यो (रुद्रट[४] अप्पय दीक्षित[५] आदि) ने इसी को लिखा है प्रथम को नही--नव्य आचार्यो (मम्मट, विश्वनाथ) ने इसकी चर्चा नही की। **निदर्शन** अलकार मे दण्डी का, लक्षण तथा उदाहरण दोनो मे, अनुकरण है। काव्यादर्श मे प्रेयस्, ऊर्जस्वी तथा रसवत् एक साथ आये है, केशव ने **प्रेयस्** का नाम बदलकर ऊपर चर्चा कर दी है, **ऊर्जा** को सक्षिप्त मे कहा है, परन्तु **रसवत्** मे रसवर्णन का पर्याप्त विस्तार है।

(१) **(पद ही मे पद काटिये), ताहि भिन्न पद जानि।**
(भिन्न अर्थ पुनि पदन के) उपमा श्लेष बखानि ॥११।३६।

(२) **लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूप निगूहनम् ।२।२६५।**

(३) **लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुति वा लेशतः कृताम् ।२।२६८।**

(४) **दोषीभावो यस्मिन् गुणस्य, दोषस्य वा गुणीभावः ।७।१००। (काव्यालंकार)**

(५) **लेशः स्याद्दोषगुणयो र्गुणदोषत्वकल्पनम् ।१३८। (कुवलयानन्द)**

दण्डी तथा केशव ने **अर्थान्तरन्यास** का एक ही लक्षण दिया है, परन्तु भेदो मे अन्तर है। केशव ने ४ भेद ही किये है—युक्त, अयुक्त, अयुक्तयुक्त, युक्तायुक्त—और प्रत्येक का लक्षण दे दिया है। ये भेद काव्यादर्श मे भी है परन्तु इनसे पूर्व ४ भेद और है—विश्व-व्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध, तथा विरोधवान्—केशव ने इनको देना उचित न समझा। काव्यलिंग अलग अलकार नही है, युक्तान्तरन्यास को ही काव्यलिंग समझना चाहिये।

मम्मट ने उपमान से उपमेय मे आधिक्य[1] होने पर **व्यतिरेक** अलकार माना है, परन्तु दण्डी ने "भेदकथनम्" मात्र को व्यतिरेक का आधार कहा था (यद्यपि उपमान की अधिकता का कोई उदाहरण नही दिया)। केशव[2] के लक्षण मे दण्डी का अनुकरण है, परन्तु 'कविप्रिया' मे इसके दो भेद है—युक्ति व्यतिरेक तथा सहज व्यतिरेक, जिनका लक्षण नही दिया। दण्डी ने इस सम्बन्ध मे सादृश्य दो प्रकार का माना था—शब्दोपात्त[3] (साधारण धर्मवाचक इव आदि शब्दो के प्रयोग मे) तथा प्रतीत (तुल्य, सम आदि शब्दो के प्रयोग से लक्षण द्वारा जाना गया)—अनुमान से जान पडता है कि केशव ने इसी आधार पर व्यतिरेक के दो भेद कर लिये और उनको 'युक्त' तथा 'सहज' नाम दे दिये।

केशव ने **अपन्हुति** के केवल उस भेद को लिया है जिसको छेकापन्हुति कहते है, दण्डी मे दूसरे भेद भी है।

बारहवा प्रभाव

इस प्रभाव मे उक्ति के अतिरिक्त पाच अलकार और है, उक्ति कोई अलग अलकार नही प्रत्युत उक्तिमूलक ५ अलकारो का समुदाय-नाम है। न जाने क्यो इसी प्रभाव मे पर्यायोक्ति को अलग से गिनाया है?

वक्रोक्ति काव्यादर्श मे नही है, केशव ने इसको स्वतत्र रूप से लिखा है, परन्तु नव्य आचार्यो के समान इसको एक शब्दालकार मात्र न मानकर प्राच्यो के अनुकरण पर व्यग्य का पर्यायवाची बना दिया है। **अन्योक्ति** उन दिनो सूक्तिकारो का प्रिय चमत्कार था, केशव मे भी इसीलिये आ गया है। हा, समासोक्ति का नितान्त अभाव खटकता है। **व्यधिकरणोक्ति** एक नया नाम[4] है, जिसको आजकल 'असगति' कह सकते है—उदाहरण[5] बहुत सुन्दर है।

काव्यादर्श के अनुसार **विशेषोक्ति** अलकार वहा है जहा गुण, जाति, क्रिया आदि[6]

(१) **उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः। (का. प्र.)**

(२) **तामें आनै भेद कछु, होय जु वस्तु समान ।११।७८।**

(३) **शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्यवस्तुनोर्द्वयो : ।२।१८०।**

(४) **'व्यधिकरण' शब्द नवीन नही है। 'समुच्चय' के प्रसंग में रुद्रट ने 'व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये'.....(७, २७) आदि लिखा है।**

(५) **आलिंगन अग अंग पीड़ियत पद्मिनी के**
सौतिन के अंग अंग पीड़नि पिराति है। १२ ।९।
पूत भयो दशरत्थ के केशव देवन के घर बाजी बधाई ।१२।११।

(६) **गुण-जाति-क्रियादीनां यत्तु वैकल्यदर्शनम् ॥**

का निष्फलत्व दिखलाया जावे, परन्तु नव्य[1] आचार्यो के अनुकरण पर केशव ने अखड कारण के विद्यमान रहने पर भी कार्य की असिद्धि मे यह अलकार माना है।

सहोक्ति का लक्षण दण्डी मे अपूर्ण है तथा केशव मे भी, क्योकि जब इसके मूल मे अतिशयोक्ति[2] होगी तभी चमत्कार आवेगा––सम्बन्धिभेद से जब दो भिन्न गुणो या क्रियाओ की 'सह' शब्द की सामर्थ्य से, एक शब्द से, एककालीनता प्रतिपादित की जावे। उदाहरण निश्चय ही उपयुक्त[3] है।

दण्डी ने केवल 'निन्दा के मिस स्तुति' का ही वर्णन किया था, परन्तु केशव मे **व्याज-निन्दा** भी है तथा **व्याजस्तुति** भी और उदाहरण श्लिष्ट भी है तथा श्लेषरहित भी।

अमित अलकार बिल्कुल नया है––जहा साधक की सिद्धि का साधन ही स्वय भोग कर ले (१२।२६)––नायिका ने सखी को भेजा कि वह नायक को लिवा लावे परन्तु वह स्वय ही नायक के साथ रमण करने लग गई (१२।२७)। विषादन[4] अलकार मे लगभग यही चमत्कार होता है।

पर्यायोक्ति (अथवा 'पर्यायोक्त') के लक्षण और उदाहरण 'प्रहर्षण' के लक्षण और उदाहरण बन गये है, क्योकि, अदृष्ट कारण से, बिना प्रयत्न के ही इष्ट की प्राप्ति हो जाती है। दण्डी मे यह भूल नही है, वे इष्टार्थ को साक्षात् न कहकर सिद्धि के लिये प्रकारान्तर[5] से कहने मे यह चमत्कार मानते है।

युक्त अलकार तो स्वभावोक्ति ही है, और केशवदास ने लगभग[6] एक ही शब्दावली मे दोनो के लक्षण दिये है, परन्तु उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि स्वभावोक्ति मे 'रूपगुण' का वर्णन होता है––शिशु का या बालिका का, युक्त मे 'रूपबल' का वर्णन रहता है––युवती या युवक का। एक मे कोमलता और सौकुमार्य है, दूसरे मे क्षमता तथा बल।

तेरहवा प्रभाव

किसी कार्य को प्रारम्भ कर देने पर दैवयोग से उसका साधन प्राप्त हो जाना[7], दण्डी के मत मे **'समाहित'** का लक्षण है, केशव ने न होने वाले कार्य के दैवयोग से हो जाने

(१) **विशेषोक्तिरखडेषु कारणेषु फलावचः। (का. प्र)**
(२) **सा सहोक्ति र्मूलभूतातिशयोक्ति र्यदा भवेत् ।७२। (साहित्यदर्पण)**
(३) **बारबुद्धि बारन के साथ ही बढ़ी है बीर,**
कुचनि के साथ ही सकुच उर आई है। १२।२१।
(४) **इष्यमाणविरुद्धार्थसंप्राप्तिस्तु विषादनम्। १३२। (कुवल०)**
(५) **अर्थमिष्टमनाख्याय साक्षात् तस्यैव सिद्धये।**
यत् प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते ॥२।२९५।
(६) **जाको जैसो रूपगुण कहिये ताही साज। (स्वभावोक्ति)**
जैसो जाको रूपबल, कहिये ताही रूप। (युक्त)
(७) **किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुनः।**
तत्साधनसमापत्ति र्या तदाहुः समाहितम् ॥ २।२९८।

मे यह चमत्कार माना है। भोजराज का लक्षण[1] भी दण्डी से मिलता है और उसी मे चमत्कार अधिक है क्योकि दैवी सहायता उद्दीपक बन जाती है। दण्डी और केशव के उदाहरण एक ही है।

सुसिद्ध अलकार मे कोई व्यक्ति साधन जुटा मरता है परन्तु अन्य व्यक्ति उसका फल भोगता है, **प्रसिद्ध** मे साधन एक व्यक्ति जुटाता है परन्तु सिद्धि अनेको को प्राप्त होती है, **विपरीत,** अलकार वहा होता है जहा कार्य का साधक ही स्वय बाधक बन जावे। ये अलकार केशव की स्वतत्र सूझ के द्योतक है।

दण्डी और केशव के **रूपक** के लक्षण अत्यन्त प्राथमिक अवस्था के से है, दोनो ने भेद बतलाने से पूर्व कुछ उदाहरण दे दिये है। रूपक[2] के भेद तो अनेक है परन्तु केशव ने तीन स्वाभाविक[3] या सरल भेदो की ही चर्चा की है। ये भेद है--अद्भुत रूपक, विरुद्धरूपक, तथा रूपक-रूपक। विरुद्धरूपक तथा रूपक-रूपक नाम दण्डी के अनेक भेदो के बीच भी स्थान पा गये है। परन्तु केशव का विरुद्धरूपक दण्डी से नही मिलता, प्रत्युत रूपकातिशयोक्ति बन गया है। रूपक-रूपक मे भी दण्डी की विशेषता नही आ पाई। अद्भुत रूपक मे व्यतिरेक की ध्वनि ही अद्भुत है, यह दण्डी के किसी भेद से नही मिलता।

दण्डी के ही अनुसार रूपक के उपरान्त **दीपक** अलकार आता है। इसके अनेक भेदो मे से केशव ने केवल दो[4] भेदो का वर्णन किया है--मणिदीपक तथा मालादीपक। मणिदीपक किस-किस वर्णन मे आना चाहिये, यह बतलाना केशव की एक विशेषता है (१३।२३)। मालादीपक दण्डी मे भी है, लक्षण दोनो के समान है, उदाहरणो मे भेद है।

प्रहेलिका अलकार केवल पहेली भर है, यह अनेक उदाहरणो[5] से स्पष्ट है।

नव्य आचार्यो ने जिसको 'विषादन' नाम दिया है वही केशव का **'परिवृत्त'** अलकार है, दण्डी की परिवृत्ति इससे भिन्न है। दूसरे उदाहरण के तीसरे चरण[6] मे वास्तविक परिवृत्ति का चमत्कार है भी। जान पडता है कि केशव ने 'समन्यूनाधिक'[7] विनिमय के इस रहस्य पर ध्यान न दिया और इस अलकार का क्षेत्र व्यापक बना बैठे--जिससे विषादन भी इसमे समा गया। उपरिकथित अमित अलकार तथा इस परिवृत्त अलकार के क्षेत्र अलग-अलग है।

(१) **कार्यारम्भे सहायाप्ति र्दैवादेव कृतेह या।**
आकस्मिकी बुद्धिपूर्वाभयी वा तत् समाहितम्॥

(२) **न पर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोरतः।**
दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम्॥ २।९६। (काव्यादर्श)

(३) **ताके भेद अनेक मै, तीनै, कहौ सुभाव।१३।१४।**

(४) **दीपक रूप अनेक है, मै बरनौ द्वै रूप।१३।२२।**

(५) **देखै सुनै न खाय कछु, पांय न, युवती जाति।**
केशव चलत न हारई, बासर गिनै न राति"।१३।१४।(अर्थ--राह=मार्ग)

(६) **दै परिरंभन मोहन को मन मोहि लियो सजनी सुखदाई। १३।४१।**

(७) **परिवृत्ति र्विनिमयः समन्यूनाधिकै र्भवेत्।१०५। (सा. द.)**

चौदहवा प्रभाव

उपमा अलकार मे पूरा एक प्रभाव लगा है और २२ भेदो का वर्णन है। जिनमे से—

१ सशयोपमा	६ मोहोपमा	११ धर्मोपमा
२ हेतूपमा	७ नियमोपमा	१२ निर्णयोपमा
३ अभूतोपमा	८ अतिशयोपमा	१३ अनभावितोपमा
४ अद्भुतोपमा	९ उत्प्रेक्षोपमा	१४ विरोधोपमा
५ विकल्पोपमा	१० श्लेषोपमा	१५ मालोपमा

य १५ भेद दण्डी से ज्यो के त्यो ले लिये है। शेष ७ भेदो मे से 'दूषमोपमा', 'भूषणोपमा', 'परस्परोपमा', और 'लाक्षणिकोपमा' दण्डी की क्रमश 'निन्दोपमा', 'प्रशसोपमा', 'अन्योन्योपमा' तथा 'समानोपमा' है—केशव के नाम दण्डी के नामो की अपेक्षा अधिक शास्त्रीय जान पडते है। केशव की 'गुणाधिकोपमा' और 'सकीर्णोपमा' क्रमश, दण्डी की 'बहूपमा' तथा 'ललितोपमा' से मिलती-जुलती है। 'विपरीतोपमा' मे उपमा का कोई लक्षण नही है।

अलकार शास्त्र के प्रारभिक दिनो मे उपमा का क्षेत्र बडा व्यापक था और आज के बहुत से सादृश्यमलक अलकार उस समय स्वतन्त्र अस्तित्व न रखने के कारण उपमा के ही भेदोपभेद थे, केशव मे भी स्वभावत यही प्रवृत्ति है, अत उनके सशयोपमा, मोहोपमा, अतिशयोपमा आदि भेद क्रमश सदेह, भ्रम तथा अनन्वय अलकार ही है।

पन्द्रहवा प्रभाव

यमक अलकार का भी पूरे एक 'प्रभाव' मे विस्तार है। लक्षण के अनन्तर आदिपद, द्वितीयपद आदि के उदाहरण दे दिये है। यमक के भेद दो प्रकार से किये है—(१) अव्यपेत तथा सव्यपेत, (२) सुखकर तथा दु खकर। दोनो का आधार काव्यादर्श है। सव्यपेत तथा अव्यपेत[1] के भेद पुराने आचार्यो को मान्य थे, परन्तु नव्य आचार्यो ने इनका त्याग कर दिया। मुख, सदेश[2] आदि भेद देना उनको पसद न आया।

सोलहवा प्रभाव

अतिम प्रभाव मे **चित्र** अलकार का वर्णन है। यह चित्र एक गहरा समुद्र है, जिसमे भले-भले गोता खा जाते है,[3] केशव ने उसके केवल कुछ कणो का ही वर्णन किया है। काव्य के सामान्य नियम यहा लागू नही होते, अनुस्वार, विसर्ग, ह्रस्व, दीर्घ आदि को स्वतन्त्र अधिकार है (१६।४), और 'व'—'ब', 'ज'—'य' मे भेद नही रहता (१६।५)। आगे अनेक प्रकार के लक्षण तथा उदाहरण है जिनको पढना बडे धैर्य तथा साहस का काम है—समझना तथा सीखना तो शायद आजकल असभव है।

(१) अलंकार मजरी, पृ. ८६ .

(२) वाग्भट्ट : काव्यानुशासनम्, चतुर्थ अध्याय।

(३) केशव चित्र-समुद्र मे, बूड़त परम विचित्र।
ताके बूंदक के कणे, बरनत हौं सुनि मित्र ॥१६।१।

केशवदास हिन्दी के प्रथम प्रतिष्ठित आचार्य है, सस्कृत अलकारशास्त्र तथा साहित्य का जितना ठोस ज्ञान उनको था उतना किसी दूसरे को नही, और जिस अधिकार तथा प्रौढता से उन्होने विवेचन किया है उसको किसी दूसरे मे पा सकना सभव नही है। यदि उनको 'कवि' कहे तो व्यापक अर्थ मे ही, क्योकि केशव मे भावुकता की अपेक्षा पाण्डित्य अधिक है—जो आचार्य का प्रमुख गुण है। हिन्दी के पण्डितो ने केशव के आचार्यत्व को बडा आदर दिया है, उनकी कृतियो पर टीकाये लिखी है तथा उनके मत को ससम्मान उद्धृत किया है।

'कविप्रिया' न किसी ग्रन्थ का अनुवाद है और न सुनी-सुनाई बातो का सग्रह मात्र। जिस युग मे अलकारशास्त्र का इतना चर्वित-चर्वण तथा मथन-उल्लोडन हो रहा हो उस युग मे किसी भी प्रतिभाशाली पण्डित के लिए यह सभव नही होता कि अपने समसामयिक या अपने से कुछ पूर्व के आचार्यो का समर्थन करके स्वय तुच्छ बन जावे, इसीलिए हमारे अभिमानी आचार्य ने रसवादी अलकारशास्त्रियो की हा-मे-हा न मिलाकर पुराने आचार्यो का समर्थन किया है। फिर भी अधानुसरण नही मिलता, कितने ही स्थलो पर वे दण्डी से सहमत न हो सके, कही वे मम्मट-विश्वनाथ की मान लेते है, कही उनका अपना अलग मत है। जहा केशव का मत किसी से नही मिलता वहा दोनो ही सभावनाये है—(क) उन पर किसी ऐसे सस्कृत-ग्रन्थ का प्रभाव हो जो अभी तक आलोचको के देखने मे नही आया (क्योकि केशव की आलोचना करने से पूर्व अपने कणमात्र सस्कृत-ज्ञान को न भूल जाना चाहिये), (ख) उन्होने देशकालपात्र को दृष्टि मे रखकर आवश्यक काट-छाट कर दी हो। कविप्रिया की परम्परा, उसके अधिकारी, तथा इस बात को कि यह हिन्दी का सर्वप्रथम प्रौढ अलकार ग्रन्थ है, ध्यान मे रखकर यदि मूल्याकन किया जावे तो आचार्य केशव की प्रतिष्ठा मे सन्देह नही किया जा सकता।

'कविप्रिया' के विषय-निर्वाह मे पूरी वैज्ञानिकता है, और विषयक्रम भी स्वाभाविक एव पूर्वकविसम्मत है। लक्षण सस्कृत के समान ही कसे हुए तो नही हो सकते, परन्तु हिन्दी के दूसरे आचार्यो की तुलना मे वे कम शिथिल है—वस्तुत सस्कृत मे लिखे लक्षणो के समान इनको भी वृत्ति की अपेक्षा है। उदाहरण मौलिक तो है ही उपयुक्त भी है, कही-कही सस्कृत का छायानुवाद है—केशव के उदाहरण कवित्त-सवैया जैसे बडे छन्दो मे है परन्तु सस्कृत के बहुत सारे उदाहरण अनुष्टुप जैसे छोटे छन्दो मे थे, फलत केशव की एक या दो पक्तियो मे ही उनका भाव समा गया, इस दशा मे केशव के शेष चरण कभी-कभी पाठक को भुलावे मे डाल देते है, वह समस्त छन्द मे उदाहरण खोजता है परन्तु वस्तुत वैसा नही होता। उदाहरणो मे वर्णन की प्रवृत्ति युग-प्रभाव की सूचक है।

विशिष्ट अलकार मे भी केशव की प्रतिभा अपूर्व है। 'स्वभावोक्ति' तथा 'युक्त' अलकार का भेद बडा ध्यान देने योग्य है, गणना, अमित, युक्त, सुसिद्ध, प्रसिद्ध तथा विपरीत अलकार बिल्कुल नये है, क्रम अलग है, और व्यधिकरणोक्ति एक नया नाम है। केशव के परिवृत्ति अलकार का क्षेत्र बहुत व्यापक बन गया है, उनकी व्याजस्तुति भी दण्डी से व्यापक है, यमक, व्यतिरेक, दीपक आदि के भेदो मे केशव की मौलिकता

स्पष्ट है। आक्षेप तथा उपमा के भेदो मे केशव ने अनावश्यक का उपयुक्त त्याग किया है। अलकारो के जो नाम बदले है वे भी पुराने नामो की अपेक्षा अधिक सार्थक जान पडते है—निर्देश यथास्थान कर दिया गया है। शब्दालकारो की कोई चर्चा नही है; जिन अलकारो का जितना अधिक महत्त्व है उतना ही उनका विवेचन अधिक है। चित्रालकार के महासमुद्र मे से हमारे आचार्य ने, समय की गति को पहिचानकर, केवल कुछ ही कण लिये है और उसको सबसे अतिम 'प्रभाव' मे स्थान दिया है। ऐसा जान पडता है कि अलकारो का क्रम सरलता से कठिनता की ओर बढने का सकेत है।

केशव पर 'प्राच्यो' का ही अधिक प्रभाव है, नव्यो का नही। अलकारो की सख्या, क्रम तथा वर्ग इसी तथ्य के प्रमाण है। अलकारो की सख्या भामह मे ४० है, जिनमे से ३ का निरसन तथा १ का तिरस्कार करके भामह ३६ अलकारो का वर्णन करते है, 'आशी' के सहित सख्या ३७ होगी। दण्डी ने ३८ अर्थालकार तथा यमक और चित्र, योग ३६, का वर्णन किया है, 'आवृत्तिदीपक को अलग मान ले तो सख्या ३७ हुई। उद्भट के अलकार ४१ है, ३ अनुप्राम तथा १ पुनरुक्तवदाभास को अलग कर लीजिए, सख्या ३७ रही। वामन के अलकार ३१ या ३३ माने जाते है। रुद्रट मे अलकारो की सख्या बढने लगती है। यही ध्वनिपूर्वकाल है, जिसका केशव पर गभीर प्रभाव है; केशव ने अनुप्रास आदि शब्दालकारो को नही अपनाया, उनके वर्णित अलकार सख्या मे ३७ ही है।

अलकारो के नाम तथा क्रम भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करते है और इससे भी पूर्व वर्गीकरण। जिस प्रकार उद्भट के वर्गीकरण को अवैज्ञानिक कहा जाता है उसी प्रकार केशव के वर्गीकरण को भी। वस्तुत वर्गीकरण का सर्वदा विश्लेषणात्मक होना अनिवार्य नही, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक भी तो हो सकता है। उद्भट का वर्गीकरण भौगोलिक था, केशव का ऐतिहासिक—उनके वर्गो पर ध्यान देने से ध्वनिपूर्वकाल की कहानी आखो के सामने घूमने लगती है। भामह से रुद्रट तक ही क्यो, भोज तक आचार्यो के अपने-अपने वर्गीकरण है, किसी ने स्कूलो को ध्यान मे रखकर अलकारो के वर्ग बनाये तो किसी ने उनको वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष के विशेष या भेद कहा, कोई उनको उपमा के प्रपच कहने लगा तो कोई उनको बाह्य, आभ्यन्तर आदि ; कोई आचार्य भेदप्रधान, अभेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान से भी सन्तुष्ट न रहकर एक दर्जन से अधिक अन्य वर्ग भी बना बैठा। प्रत्येक आचार्य मे सचाई माननी ही पडेगी। केशव ने दण्डी के अनुकरण पर 'जमक' तथा 'चित्र' सबसे अन्त मे रखे है, और उनके अलग-अलग 'प्रभाव' बना दिये है। उपमा को 'सर्वालकारशिरोरत्न' भी माना गया है और 'उभयालक्रिया' (सरस्वतीकण्ठाभरण, ४, १) मानकर इसका अन्त मे वर्णन भी है, केशव ने इसको जमक-चित्र से पूर्व 'प्रभाव' मे स्थान दिया है।

नवम से त्रयोदश प्रभावो मे ३८ अलकार है। नवम का क्रम भोज के अनुसार है जाति या स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, 'विशेष' भी विरोध-जाति का है; उत्प्रेक्षा भी इसी 'प्रभाव' मे है। 'आक्षेप' के लिये अलग 'प्रभाव' आवश्यक ही जान पडता

है । एकादश, द्वादश, तथा त्रयोदश 'प्रभावो' मे २७ अलकार है--पुराने भी तथा नये भी, इस 'प्रभावो' का क्रम भामह के तृतीय परिच्छेद से अनुप्रेरित होकर बीच-बीच मे अत्याधान करता गया है। 'उक्ति' नाम का अलकार भोज मे भी था। प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, श्लेष आदि को सभी प्राच्य आचार्यो ने एक साथ रखा है, रूपक और दीपक भामह ने भी इसी क्रम से पास रखे है।

केशव ने नवीन अलकारो की उद्भावना की है, कुछ के नाम बदले है--केवल तमाशे के लिये नही, उनका अध्ययन गाम्भीर्य-सापेक्ष्य है। आचार्य केशवदास की प्रतिभा और पाण्डित्य का मुख्य निदर्शन 'कविप्रिया' का यही विशिष्टालकार-प्रसग है। बहुमुखी ज्ञान, अथाह पाण्डित्य, निस्सग विवेचन, तथा उपयुक्त उदाहरण उनके व्यक्तित्व की कुछ झलक दिखा सकते है। उनके समय मे अलकारशास्त्र का प्रवाह सस्कृत भाषा मे ही चल रहा है; केशव सस्कृत मे भी, अनेक आचार्यो के समान, लिख सकते थे, परन्तु 'प्रवीणराय' के प्रति स्नेह या 'बाला-बालको' के प्रति कर्त्तव्य की भावना उनको 'भाषा' मे खीच लाई और भाषा-कवि के लिये इस आचार्य ने एक नया क्षेत्र खोल दिया--बिलकुल अछूता, अनन्त तथा गम्भीर। पाण्डित्य की दृष्टि से वे भाषा-कवियो के शिरोरत्न है, और प्रतिभा की दृष्टि मे उनको सस्कृत के मान्य आचार्यो के साथ आसन मिल सकता है।

जसवन्तसिंह : भाषा-भूषण

(स० १७००)

'चन्द्रालोक-शैली' पर कुवलयानन्द का अनुकरण करते हुए हिन्दी मे अलकार-ग्रथो की रचना तो गोपा की 'अलकार-चन्द्रिका' से प्रारभ हो चुकी थी, परन्तु हिन्दी मे इस शैली की वास्तविक प्रतिष्ठा उस शताब्दी के अन्त मे महाराज जसवतसिंह द्वारा रचित 'भाषा-भूषण' से ही हुई। 'भाषा-भूषण' अपनी शैली का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। एक ओर तो इसके अनुकरण पर दूसरे अलकार-ग्रन्थ लिखे गये और दूसरी ओर इसपर टीकाओ की आवश्यकता समझी गई। 'भाषा-भूषण' पर सात प्राचीन टीकाये है, जिनमे वशीधर, रणधीरसिह, प्रतापसाहि, गुलाब कवि और हरिचरणदास की टीकाये प्राप्त है। दलपतिराय वशीधर का 'अलकार रत्नाकर' नामक तिलक अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भाषाभूषण मे ५ प्रकाश है। प्रथम मे मगलाचरण (५ दोहे), द्वितीय मे नायक-नायिका भेद (१७ दोहे) तृतीय मे हाव-भाव वर्णन (१९ दोहे), चतुर्थ मे अर्थालकार (१५६ दोहे), तथा पचम मे शब्दालकार (१० दोहे) का वर्णन कर लेखक ने ५ दोहो मे ग्रन्थ-प्रयोजन पर अत मे विचार करलिया है। सारा ग्रन्थ केवल दोहा छन्द मे लिखा गया है, जो हिंदी मे उतना ही लोकप्रिय था जितना कि सस्कृत मे श्लोक, आकार की दृष्टि से भी दोहा छोटे छन्दो मे है। भाषाभूषण मे सब मिलाकर २१२ दोहे है, यदि भूमिका तथा उपसहार के १० दोहो को अलग कर दे तो २०२ दोहो मे से १६६ तो अलकार विषय के है तथा शेष ३६ दोहे शेष काव्यागो के—इससे स्पष्ट है कि लेखक ने इस पुस्तक मे अलकार-विषय को कितना महत्व दिया है। अलकार विषय के, लक्षणो के साथ, उदाहरण भी है परन्तु शेष विषय के उदाहरण देना आवश्यक नही समझा गया। इस पुस्तक मे नवरस तथा स्थायी भाव व्यभिचारी भाव के केवल नाम गिना दिये है, गुण दोष, शब्दशक्ति, रीति-वृत्ति आदि का कही सकेत भी नही है। इस भाति यह स्पष्ट है कि भाषा-भूषण अलकार सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, इसमे 'चन्द्रालोक' के समान सभी काव्यागो की चर्चा नही है प्रत्युत 'कुवलयानन्द' के अनुकरण पर अलकारविषय को सर्व-सुलभ बनाने का प्रयत्न है। 'कुवलयानन्द' तथा 'भाषाभूषण' के रचनाकालो मे एक शताब्दी से कम का अन्तर है।

भाषा-भूषण की रचना उस व्यक्ति के लिये की गई है जो (सस्कृत का नही) 'भाषा'[1] का पडित तथा काव्य-रसिक हो, और यद्यपि इसमे नायिकाभेद तथा हाव-भाव की भी चर्चा है तथापि प्रधानता अलकारो की ही है इसलिये इस ग्रन्थ का नाम 'भाषा'

(१) ताही नर के हेतु यह, कीन्हो ग्रन्थ नवीन।
जो पंडित भाषा-निपुन, कविता विषै प्रवीन ॥२१०॥

तथा 'भूषण' के सयोग से 'भाषाभूषण' रखा गया है[1] । सस्कृत ग्रन्थो का अध्ययन करके लेखक ने, इस पुस्तक मे, शब्द और अर्थ के १०८ अलकारो को[2] भाषा मे लिखा है, आशा यह है कि जो व्यक्ति चित्त लगाकर इस भाषा-भूषण को पढ लेगा उसके लिये साहित्य के विविध अर्थ तथा रस सुगम[3] हो जावेगे ।

शब्दालकार

आचार्य जयदेव ने अलकारो मे सर्वप्रथम शब्दालकारो का विवेचन किया था, परन्तु अप्पयदीक्षित ने शब्दालकारो को लिखा तक नही । हिन्दी के अधिकतर पुराने आचार्य शब्दालकारो की ओर सोत्साह नही है । भाषा-भूषण मे शब्दालकारो की अन्त मे चलते-चलते चर्चा कर दी है और केवल अनुप्रास अलकार को ही विवेच्य समझा है । अक्षरो के सयोग से बहुत से शब्दालकार बन जाते है परन्तु हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति को देखकर[4] लेखक ने केवल ६ का ही विवेचन किया है--और ये सब के सब अनुप्रास ही है । अनुप्रास का लक्षण नही दिया गया परन्तु व्यवहार मे स्पष्ट है कि 'अनुप्रास' का व्यापक अर्थ है और 'यमक' भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है ।'[5] अनुप्रास के ६ भेद (वस्तुत ८ ही कहना चाहिये) है --

(क) छेकानुप्रास
(ख) लाटानुप्रास
(ग) यमकानुप्रास
(घ) उपनागरिका वृत्त्यनुप्रास
(ङ) परुषा वृत्त्यनुप्रास
(च) कोमला वृत्त्यनुप्रास

छेकानुप्रास के लक्षण मे चन्द्रालोक की छाया नही है । काव्यप्रकाश से "**वर्णसाम्यम्**" तथा "**सोऽनेकस्य**"[6] और साहित्यदर्पण मे "**वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्**"[7] लेकर अनुप्रास का यह लक्षण किया है --

"**आवृत्ति बर्न अनेक** की दोय-दोय जब होय ।
है छेकानुप्रास, **स्वर-समता बिनहू** सोय ॥१९८॥

लाटानुप्रास के लक्षण मे मम्मट तथा विश्वनाथ दोनो ने ही "**भेदे तात्पर्यमात्रतः**"[8]

(१) **अलंकार-संजोग ते, 'भाषा-भूषन' नाम ।२११।**
(२) **अलंकार सब्दार्थ के, कहे एक सौ आठ ।**
किए प्रगट भाषा-विषै, देखि संस्कृत पाठ ।२०८।
(३) **दोहा संख्या २१२**
(४) **सब्दालंकृत बहुत हे, अच्छर के संजोग ।**
अनुप्रास षट बिध कहे, जे है भाषा-जोग ॥२०९॥
(५) **चन्द्रालोक मे 'यमक' एक स्वतंत्र अलंकार है; अनुप्रास के और भी कई भेद है; तथा अन्य शब्दालंकारों का भी विवेचन है ।**
(६) **वर्णसाम्यमनुप्रासः । सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः ।**
(७) **स्वर की विषमता रहने पर भी शब्द साम्य अनुप्रास है ।**
(८) **तुलना कीजिए:--वर्णावृत्तिरनुप्रासः (काव्यादर्श) ।**
(९) **शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः । (सा. दर्पण)**

को स्वीकार किया है, भाषाभूषण मे इसी मत की छाया है—"**सब्द अर्थ के भेद सों, भेद बिनाहू सोय**।" जयदेव का लक्षण बडा ही क्लिष्ट था।

यमकानुप्रास के लक्षण[1] मे काव्यप्रकाश के "**वर्णानां सा पुनः श्रुति.**" की स्पष्ट छाया है, विश्वनाथ तथा जयदेव ने 'आवृत्ति' का कथन किया था, 'श्रुति' का नही। इस लक्षण मे एक मौलिकता है—'शब्द का फिर सुनाई पडना और (इस फिर सुनाई देने मे) अर्थ भिन्न होना—जो "**अर्थे सत्यर्थभिन्नानाम्**" (काव्य प्रकाश) की आवश्यकता ही नही रहने देती।

भाषाभूषण मे वृत्त्यनुप्रास सबसे अन्त मे लिखा गया है, दूसरे आचार्य इसको लाटानुप्रास से पूर्व स्थान दिया करते थे। 'चन्द्रालोक' मे इस भेद की तीन वृत्तियो को नही बतलाया गया, 'साहित्यदर्पण' मे भी नही। हमारे आचार्य पर मम्मट का प्रभाव जान पडता है। शब्दालकारो मे जयदेव का प्रभाव नही है, मम्मट का तथा दूसरे सस्कृत आचार्यो का अवश्य ही माना जा सकता है।

अर्थालकार

इस ग्रन्थ का मुख्य वर्ण्य-विषय अर्थालकार ही है। अलकार का लक्षण कही भी नही दिया, और न शब्दालकार अर्थालकार का पारस्परिक भेद ही है, अलकार-दोष का प्रश्न ही नही आता। चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द मे भी ये सब बाते ज्यो की त्यो मिलती है, हमारे आचार्य ने उनका अनुकरण ही किया है।

चतुर्थ प्रकाश मे १०२ (या १०१)[2] अर्थालकार है, जिनका क्रम ठीक वही है जो कुवलयानन्द का है—यदि भाषाभूषण के 'चित्र' अलकार को अलग न गिने तो शेष १०० अलकार कुवलयानन्द के पहिले १०० अलकारो के क्रम से लिखे गये है। चन्द्रालोक आदि का क्रम कुछ भिन्न है। अप्पयदीक्षित और जसवन्तसिह के अलकारो के नाम भी एक ही है, केवल 'कारणमाला' के स्थान पर 'गुम्फ' और 'उत्तर' के स्थान पर 'गूढोत्तर' इसके सामान्य अपवाद है। 'गुम्फ'[3] नाम चन्द्रालोक का प्रभाव बतलाता है। 'भाषाभूषण' का चित्र एक अर्थालकार है जो कुवलयानन्द मे वर्णित उत्तर अलकार के एक भेद चित्रोत्तर का सक्षिप्त नाम है, इसे काव्यप्रकाश वाला प्रसिद्ध शब्दालकार न समझना चाहिये।

भामह ने 'काव्यालकार' मे प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वित् और समाहित इन चारो को अलकार माना था, दण्डी तथा उद्भट ने भी इनको स्वीकार किया है। ध्वन्यालोककार का मत है कि जब रसादि[4] अन्य वाक्यार्थ का अग (उत्कर्षक) बन जावे तो वहा अप्रधान होने के कारण उनको अलकार मानना चाहिये। मम्मट ने इनको गुणीभूतव्यग्य के अन्तर्गत माना है। राजानक रुय्यक ने इन चारो को तो अलकार माना ही, इनके साथ

(१) **जमक, शब्द को फिरि स्रवन, अर्थ जुदा सो जानि।२०२।**

(२) **पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा को अलग-अलग न गिना जाय तो संख्या १०१ होगी।**

(३) **गुम्फः कारणमाला स्याद् यथाप्राक्प्रान्तकारणैः।५।८७।**

(४) **प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।**
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मति· ॥(२ उद्यो०, ५)

भावोदय, भावसधि और भावशबलता को भी अलकार बतलाया। चन्द्रालोक मे इनको अलकार तो नही माना,[1] परन्तु दूसरो ने माना है इसलिये इनकी चर्चा कर दी है। विश्वनाथ ने भी इनको स्वीकार किया है और अप्पयदीक्षित ने तो इनके अतिरिक्त आठ प्रमाण अलकारो का भी विवेचन किया है। जयदेव ने गुद्धि आदि चारो के विषयो मे भी यही कहा है कि ये अलग अलकार[2] नही है। भाषाभूषणकार ने जयदेव की यह सम्मति मान ली और इन १५ अलकारो को अपने ग्रथ मे स्थान नही दिया।

उपमा

भाषाभूषण मे उपमा अलकार का लक्षण नही दिया और न उपमेय आदि को ही समझाया है। पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा की पहिचान बतलाकर उदाहरण दे दिये गये है। पूर्णोपमा के दो उदाहरणो मे से प्रथम मे छाया तथा द्वितीय मे अविकल अनुवाद साहित्य-दर्पण की आर्थी पूर्णोपमा के उदाहरणो से है —

मधुरः सुधावदधरः, पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः ।
ससि-सो उज्जल तिय-बदन, पल्लव-से मृदु पानि ।४३।

प्रथम उदाहरण का केवल छायानुवाद ही करना मानो पाठको की रुचि मे परिष्कार करने के लिए है, अन्यत्र भी इसका ध्यान रखा है। लुप्तोपमा के तीन उदाहरणो मे से प्रथम मे कुवलयानन्द की छाया है, द्वितीय मे साहित्यदर्पण की और तृतीय मे काव्य-प्रकाश की —

बिजुरी-सी पंकजमुखी––तडिद्गौरी
कनकलता तिय लेखि––राजते मृगलोचना
वनिता रसासिंगार की कारनमूरति––स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना

लेखक ने यह माना है कि शेष तीन अगो के लोप हो जाने पर केवल उपमेय के रह जाने से त्रिलुप्ता उपमा होगी। मम्मट तथा विश्वनाथ ने एक ही शब्दावली मे यह प्रतिपादित किया है कि समास मे त्रिलुप्ता उपमा हो सकती है, परन्तु हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति के यह मत अनुकूल नही जान पडता।

अनन्वय के लक्षण तथा उदाहरण स्वतत्र है, अनन्वय का लक्षण सस्कृत के सभी लक्षणो से सरल है––संस्कृत लक्षणो मे अनन्वय वहा माना जाता है जहा एक ही वस्तु उपमेय तथा उपमान बन जावे, प्रस्तुत पुस्तक मे उपमेय का उपमान बनना ही अनन्वय की पहिचान बतलाई गई है। **उपमानोपमेय** नया नाम नही है, सस्कृत आचार्यो ने इसको उपमेयोपमा कहा था।

चन्द्रालोक मे प्रतीपोपमा तथा **प्रतीप** दो अलकार है, कुवलयानन्द मे प्रतीप के ५ भेद है, प्रस्तुत ग्रन्थ मे कुवलयानन्द का ही अनुकरण है। प्रथम प्रतीप के लक्षण तथा उदाहरण दोनों का ज्यो-का-त्यो अनुवाद है —

(१) अलंकारानिमान् सप्त केचिदाहु र्मनीषिणः ।५।११८।
(२) एतेषामेव विन्यासान् नालंकारान्तराण्यमी ।५।११९।

प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः ।। (कुवलयानन्द)
सो प्रतीप उपमेय को, कीजै जब उपमानु ।
लोयन-से अंबुज बने, मुख-सो चन्द बखानु ।। (भा. भूषण)

द्वितीय प्रतीप का भी कुवलयानन्द मे अनुवाद है, लक्षण का अनुवाद ठीक नही हो पाया—मूल मे 'अनादर' पाठ था, परन्तु अनुवाद मे 'आदर जबै न होइ' पाठ है :—

अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत् ।
अलं गर्वेण ते वक्त्र ! कान्त्या चन्द्रोऽपि तादृशः । (कुवल.)
उपमेय को उपमान तें, आदर जबै न होइ ।
गरब करति मुख को कहा, चंदहि नीकै जोइ । (भा. भूषण)

शेष भेदो के लक्षण तो कुवलयानन्द मे मिलते है, परन्तु उदाहरण स्वतन्त्र है ।

हमारे लेखक ने **रूपक** का लक्षण नही दिया, और न भिन्न-भिन्न भेदो को ही समझाया है । कुवलयानन्द के ही अनुसार रूपक के ६ भेद है, उदाहरणो का शब्दानुवाद नही किया गया ।

परिणाम अलकार काव्यप्रकाश मे नही है, चन्द्रालोक मे इसका लक्षण (५।२२) अधिक स्पष्ट शब्दावली मे नही दिया, यहा लक्षण तथा उदाहरण कुवलयानन्द (२१) के अनुवाद मात्र है—लक्षण मूल ग्रन्थ की अपेक्षा सरल है (५७) । **उल्लेख** अलकार का चन्द्रालोक मे एक ही भेद है, कुवलयानन्द मे इसके दो भेद माने है और प्रथम के उदाहरण मे भी कुछ स्वतन्त्रता रखी है, यहा इसी का अनुकरण है—प्रथम लक्षण-उदाहरण का तो ज्यो-का-त्यो अनुवाद है और द्वितीय के उदाहरण मे अल्पमात्र स्वतन्त्रता है (५९) । जयदेव ने **स्मृति, भ्रान्ति** और **सन्देह** इन तीन अलकारो के लक्षण इनके नामो मे ही मान लिये है, अप्पयदीक्षित ने न लक्षणो मे परिवर्त्तन किया है और न उदाहरणो मे । यहा भी ठीक वैसी ही बात है—केवल 'स्मृति', तथा 'भ्रान्ति' के स्थान पर 'स्मरण' तथा 'भ्रम' नाम पाये जाते है, काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण मे इनके नाम 'स्मरण' तथा 'भ्रान्तिमान' है । भाषाभूषणकार ने इन तीनो अलकारो को "**लच्छन नाम प्रकाश**" स्पष्ट शब्दावली मे कहा है, जिसका प्रभाव आगे चलकर हिन्दी के कई आचार्यो पर पडा, कविराजा मुरारिदान का तो यह सिद्धान्त-वाक्य बन गया ।

जयदेव ने **अपह्नुति** के ५ भेद किये है, अप्पयदीक्षित ने लक्षणो और उदाहरणो मे प्राय अनुवाद कर दिया है, प्रथम भेद को चन्द्रालोककार ने अलग नाम नही दिया । उसके द्वारा इस अलकार का माना स्वरूप ही बतलाया है, अनुकृति-ग्रन्थ मे प्रथम भेद को 'शुद्धापह्नुति' नाम दे दिया गया—भाषाभूषण मे भी यही बात है । भाषाभूषण के लक्षणो मे मूलग्रन्थ की अपेक्षा अनुकृति-ग्रन्थ की शब्दावली को ही स्वीकार किया गया है, शुद्धापह्नुति, तथा पर्यस्तापह्नुति के प्रसग मे यह अन्तर देखा जा सकता है । कुवलयानन्द मे एक नया भेद 'हेत्वपह्नुति' माना है, यहा वह भी ज्यो का त्यो ले लिया गया है । उदाहरणो मे नाम-मात्र की ही स्वतन्त्रता है —

नायं सुधांशुः, किं तर्हि? व्योमगङ्गासरोरुहम् ।२६।
उर पर नाहि उरोज ये, कनकलता-फल मानि ।६२।
प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः, कान्तः किं? नहि, नूपुरः ।३०।
करत अधर छत, पिय? नहीं सखी सीत-रितु वाय ।६६।

भाषा की अपेक्षा सस्कृत के उदाहरण अधिक स्वस्थ है, भाषा-उदाहरणो मे युग की छाया का प्रभाव स्पष्ट है ।

चन्द्रालोक मे **उत्प्रेक्षा** का विषय बडा चलता हुआ है, फिर भी 'हेत्वादि' कहकर वस्तु तथा फल का सकेत है, और 'गूढोत्प्रेक्षा' नाम से प्रतीयमाना को भी स्वीकार किया है, परन्तु इस ग्रन्थ का लक्षण बडा दुरूह है । कुवलयानन्द मे,शायद काव्यप्रकाश के अनुकरण पर, सभावना मे उत्प्रेक्षा मानी गई है, तीन भेदो के अतिरिक्त प्रत्येक भेद के दो-दो उपभेद भी मिलते है । भाषाभूषण मे मोटे-मोटे तीन भेदो के ही लक्षण-उदाहरण देकर छुट्टी पा ली है ।

अतिशयोक्ति का चन्द्रालोक मे लक्षण नही है, प्रत्युत ६ भेदो के अलग-अलग लक्षण उदाहरण है । कुवलयानन्द मे इन भेदो का क्रम बदल गया है और सापह्नवा तथा असम्बन्धा दो नये भेद भी आ गये है । यहा क्रम तथा भेदो की सख्या कुवलयानन्द के ही अनुसार है । असम्बन्धातिशयोक्ति को इस आचार्य ने कुछ असावधानी से दूसरी सम्बन्धातिशयोक्ति ही कह दिया है । अधिकतर उदाहरण स्वतत्र है तथा आधार-ग्रथो मे अच्छे है —

(अत्यन्ता) **अग्रे मानो गतः पश्चाद् अनुनीता प्रियेण सा ।**
बान न पहुंचै अंग लौं, अरि पहिलै गिरि जाइ ।७६।
(भेदका) **अहो अन्यैव लावण्यलीला बालाकुचस्थले । (चन्द्रा.)**
अन्यदेवास्य गाम्भीर्यम् अन्यद् धैर्यं महीपतेः । (कुवल.)
औरै हँसिबो देखिबो, औरै या की बात ।७२।

इस प्रकार के उदाहरण भाषाभूषण की लोकप्रियता का कारण स्पष्ट करते है ।

तुल्ययोगिता अलकार जयदेव ने 'क्रियादि' के द्वारा प्रस्तुतो अथवा अप्रस्तुतो की तुल्यता मे माना है, और इस प्रकार इसके प्रस्तुत-तुल्ययोगिता तथा अप्रस्तुततुल्ययोगिता दो भेद हो सकते है । अप्पय दीक्षित ने लक्षण देते हुए 'धर्मैक्य' का सम्बन्ध माना है,जिस पर काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण दोनो का प्रभाव है । दो भेद और माने गये है । प्रथम तो, सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रभाव से, वहा पर जहा हित तथा अहित (मित्र तथा शत्रु) मे व्यवहारतुल्यता हो । और दूसरा, काव्यादर्श के प्रभाव से, अधिक गणवान् जनो के सदृश प्रतिपादन मे । भाषाभूषण मे सरस्वतीकठाभरण वाला भेद सबसे पहिले है, चन्द्रालोक वाला उसके अनन्तर, और काव्यादर्श वाला अन्त मे । प्रथम का उदाहरण स्वतत्र है, दूसरे का कुवलयानन्द से तथा तीसरे का काव्यादर्श तथा कुवलयानन्द के मिश्रण से बनाया गया है । **दीपक** तथा **आवृत्तिदीपक** के लक्षण तथा सभी उदाहरण कुवलयानन्द से ही लिये गये है ।

प्रतिवस्तूपमा चन्द्रालोक, कुवलयानन्द तथा भाषाभूषण मे एक सी ही है। **दृष्टांत** को हमारे आचार्य ने '**लच्छन नाम-प्रमान**' माना है, जिसमे 'बिम्बप्रतिबिम्ब' वाली बात बिलकुल खो जाती है, यह प्रतिपादन का एक बडा दोष है। **निदर्शना** का लक्षण न देना खटकता है, कुवलयानन्द के अनुसार यहा इसके तीन भेद है, आदि मे तीनो भेदो को समझाया है फिर उनके उदाहरण दिये है—ऐसा करने से समझने मे कठिनाई होती है, प्रत्येक भेद के लक्षण और उदाहरण साथ होने चाहिये। कुवलयानन्द के अनुसार तीसरी निदर्शना मे क्रिया के द्वारा असत् तथा सत् अर्थो के फल का बोध होना बतलाया जाता है[1] हमारे आचार्य ने 'क्रिया' के स्थान पर 'कारज' कर दिया है, उदाहरण भी अधिक स्पष्ट नही है —

तेजस्वी सों निबल-बल, महादेव अरु मैन।८९।

व्यतिरेक तथा **सहोक्ति** आधारग्रथो के समान ही है, व्यतिरेक का उदाहरण स्वतत्र होकर अधिक मधुर बन गया है—इस प्रकार की स्वतत्रता युगप्रभाव की सूचक तथा लोकप्रियता का कारण जान पडती है —

शैला इवोन्नताः सन्तः कि तु प्रकृतिकोमलाः।

मुख है अम्बुज सो सखी, मीठी बात बिसेखि।९०।

विनोक्ति के कुवलयानन्द मे ही दो भेद हो गये थे, प्रथम तो वह जहा किसी के बिना प्रस्तुत हीन बतलाया जावे, और दूसरा वह जहा किसी के बिना प्रस्तुत की सुन्दरता का प्रतिपादन हो—चन्द्रालोक मे केवल पहिला ही भेद था। यहा लक्षणो मे अनुकरण है, उदाहरण स्वतत्र है। दूसरे भेद का इस ग्रथ मे जो उदाहरण है उसमे 'बिना' शब्द का प्रयोग नही है :—

बाला सब गुन सरस तू, रंच रुखाई है न।९३।

वस्तुत 'बिना' शब्द का अर्थग्रहण ही अभीष्ट है, शब्द का रहना अनिवार्य नही— अलकारचन्द्रिकाकार ने कुवलयानन्द के "**विना शब्दमन्तरेण दर्शितम्**"[2] का यही अर्थ लिया है।

समासोक्ति, परिकर तथा **परिकरांकुर** के लक्षणो के ज्यो-के-त्यो अनुवाद कुवलयानन्द से कर दिये है :—

समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्।६१।

समासोक्ति अप्रस्तुत जु, फुरै सु प्रस्तुत मांझ।९४।

अलंकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे।६२।

है परिकर आसय-लिए, जहां बिसेसन होय।९५।

साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः।६३।

साभिप्राय बिसेष जब, परिकर अंकुर-नाम।९६।

विशेषत. 'परिस्फूर्त्ति' का 'फरै सु' और 'साभिप्राये' का 'आसय-लिए', अनुवाद

(१) **अपरां बोधन प्राहुः क्रिययाऽसत्सदर्थयाः।५५।**

(२) **तथा च विनोक्तिरित्यर्थग्रहणं, न तु शब्दग्रहणमिति भावः।**

देखने योग्य है--यथासंभव शब्दावली भी सुरक्षित रखी गई है । चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द की शब्दावलियो मे भेद नही है ।

जयदेव ने **श्लेष** का लक्षण तो नही दिया, परन्तु पदश्लेष के दो भेदो खण्डश्लेष तथा भगश्लेष का विवेचन किया है, और फिर वह अर्थश्लेष पर आ गये है । अप्पयदीक्षित ने श्लेष का लक्षण तो दिया है परन्तु मूल मे न तो अनेक भेद बतलाये है और न अर्थश्लेष का प्रसग उठाया है । भाषाभूषण मे इसी प्रवृत्ति का अनुकरण है, लेखक ने केवल शब्द-श्लेष का परिचय-भर दिया है और रखा है उसको अर्थालकारो के बीच मे--भेदो की यहा गुजायश ही न थी ।

अप्रस्तुतप्रशंसा के जयदेव ने कई भेद किये है, परन्तु अप्पय दीक्षित ने उसका एक ही भेद मूल मे रखा है । भाषाभूषण मे इसके दो भेद है, प्रथम तो स्पष्ट है परन्तु दूसरे मे 'प्रस्तुत-अस' का रहना आवश्यक मान लिया गया है, उदाहरण मे कोई चमत्कार नही है ।[1] **प्रस्तुतांकुर** अप्पयदीक्षित ने ही माना है, पडितराज इसका स्वतत्र अस्तित्व स्वीकार करने के पक्ष मे नही है, भाषाभूषणकार ने मूल का ज्यो-का-त्यो अनुवाद कर दिया है । अप्रस्तुतप्रशसा तथा प्रस्तुताकुर मे अन्तर वडा सूक्ष्म है । उद्यान मे विहार करती हुई नायिका ने, नायक को सुनाकर, भ्रमर से कहा--'हे भ्रमर, मालती पुष्प को छोडकर तुम कटक-पूर्ण केतकी के पास क्यो जाते हो'[2], अर्थात् 'हे नायक कुलीन वधू के रहने पर भी तुम वेश्यागमन क्यो करते हो',[3] यहा दोनो ही अर्थ प्रस्तुत है--एक प्रस्तुत से दूसरे प्रस्तुत का द्योतन[4] होता है, अप्रस्तुतप्रशसा मे एक अप्रस्तुत से किसी प्रस्तुत अर्थ का बोध होता था ।

पर्यायोक्त के दोनो भेद कुवलयानन्द से लिये गये है, एक मे भङ्ग्यन्तर के आश्रय मे वचन कहा जाता है और दूसरे मे किसी व्याज से इष्टसाधन होता है । हमारे लेखक ने पहिले दोहे मे दोनो भेदो के लक्षण तथा दूसरे दोहे मे दोनो भेदो के उदाहरण दे दिये है (१०१ तथा १०२) । चन्द्रालोक का यहा कोई भी प्रभाव नही है ।

चन्द्रालोक के अनुसार **व्याजस्तुति** अलकार मे निन्दा और स्तुति से क्रमशः स्तुति और निन्दा होती है, उदाहरण केवल निन्दा द्वारा स्तुति का ही दिया गया है । कुवलयानन्द मे दोनो के अलग-अलग उदाहरण है । भाषाभूषण मे केवल पहिले भेद के ही लक्षण तथा उदाहरण है; दूसरे भेद का लक्षण तथा उदाहरण '**व्याजनिन्दा**' के नाम से केवल वेकटेश्वर प्रेस वाली प्रति मे कुवलयानन्द से अनुदित होकर आया है । अप्पयदीक्षित

(१) धनि यह चरचा ज्ञान की सकल समै सुख देत ।९९।

(२) किं भृङ्ग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया । (कुवल.)

(३) इह हि प्रियतमेन साकमुद्याने विहरन्ती काचिद् भृङ्गं प्रत्येवाहेति वाच्यार्थस्यापि प्रस्तुतत्वम् । अनेन प्रस्तुतेन वाच्यार्थेन कुलवध्वाः सौन्दर्यादिगुणशालिन्याः सत्त्वेऽपि वेश्यायाः समागमनेन किमिति उपालम्भरूपप्रस्तुतार्थप्रतीतिरिति प्रस्तुताङ्कुरालङ्कारः। (चन्द्रालोक की पौर्णमासी टीका)

(४) प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः । (कुवल.)

ने निन्दा मे स्तुति और स्तुति मे निन्दा दोनो मे एक ही अलकार 'व्याजस्तुति' माना है, 'व्याजनिन्दा' तो निन्दा मे किसी अन्य की निन्दा मे माना जायगा[1]। भाषाभूषण मे तीनो बाते परस्पर मिल गई है।

आक्षेप के तीनो भेद कुवलयानन्द के अनुसार बतलाकर फिर क्रमश उनके उदाहरण दे दिये है, चन्द्रालोक मे निषेधाभास नही था। चन्द्रालोक मे विरोध तथा विरोधाभास अलकार अलग-अलग माने है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थो मे दोनो मे अभेद था, शायद इसीलिये कुवलयानन्द और उसके अनुकरण पर भाषाभूषण मे केवल **विरोधाभास** अलकार ही है।

विभावना का चन्द्रालोक मे एक ही भेद था, परन्तु यहा कुवलयानन्द के अनुसार ६ भेद दिये गये है। **विशेषोक्ति** तथा **असंभव** भी उसी प्रकार है। **असंगति** के कुवलयानन्द के अनुसार तीन भेद है, चन्द्रालोक के अनुसार केवल एक ही नही—एक साथ लक्षण देकर फिर एक साथ सारे उदाहरण रख दिये गये है। **विषम** तथा **सम** अलकारो मे कुवलयानन्द के अनुसार तीन-तीन भेद मिलते है और लक्षणो को एक साथ तथा सारे उदाहरणो को एक साथ रखा है। **विचित्र, अधिक, अल्प, अन्योन्य, विशेष, व्याघात,** आदि के विषय मे भी यही बात जाननी चाहिये।

कारणमाला का नाम यहा 'गुम्फ' है जो चन्द्रालोक मे कुवलयानन्द मे होता हुआ यहा आया है। अप्पयदीक्षित ने वृत्ति मे इसी लक्षण मे दो भेद निकाले—(क) पूर्व-पूर्व के पद कारण और उत्तरोत्तर के कार्य हो, (ख) पूर्व-पूर्व के पद कार्य और उत्तर-उत्तर के कारण हो, और दूसरे भेद का उदाहरण[2] स्वय दिया है। यदि भाषाभूषणकार ने यह वृत्ति भी पढी होती तो वह इतने स्वाभाविक भेद तथा उदाहरण को न छोडता। **एकावली** मे भी यही हुआ कि यद्यपि कुवलयानन्दकार ने वृत्ति मे दूसरे भेद का उदाहरण दे दिया है, हमारे आचार्य ने उसकी उपेक्षा कर दी है। आधार ग्रथ मे एकावली का लक्षण इस प्रकार है —

गृहीतमुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावली मता।५।८८।

'गृहीतमुक्तरीति' का अर्थ है **"उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणभावः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरविशेषणभावो वा"** (कुवलयानन्द), भाषाभूषण मे इस पद के स्थान पर "गहत मुक्तपद रीति" रखा गया है जो क्लिष्ट शाब्दिक अनुवाद ही कहा जा सकता है।

मालादीपक, सार, यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, विकल्प, समुच्चय, कारकदीपक, समाधि, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, काव्यलिग, अर्थान्तरन्यास, आदि भी कुवलयानन्द के अनुसार है। यथासख्य के उदाहरण का अनुवाद[3] बडा अस्पष्ट है, पर्याय का प्रथम उदाहरण कुवलयानन्द की वृत्ति मे बालभारत से उदाहृत छन्द के एक चरण[4] का छाया-

---

(१) निन्दाया निन्दया व्यक्ति र्व्याजनिन्देति गीयते।७२।

(२) भवन्ति नरकाः पापात्, पापं दारिद्र्यसम्भवम्।
दारिद्र्यमप्रदानेन, तस्माद् दानपरो भवेत्॥

(३) करि अति मित्त बिपत्ति को, गंजन रंजन भंग।१४०।

(४) पद्भ्यां मुक्तास्तरलगतयः संश्रिता लोचनाभ्याम्।

नुवाद है और दूसरे भेद का उदाहरण चन्द्रालोक के उदाहरण का अनुवाद है, विकल्प का उदाहरण भी मूल से नही लिया गया प्रत्युत कुवलयानन्द के वृत्तिभाग[1] का अविकल अनुवाद है। प्रत्यनीक के लक्षण[2] का अनुवाद दुरूह हो गया है, उसमे 'ता हित सो' पद व्याख्या के बिना स्पष्ट नही हो पाता। अर्थापत्ति का लक्षण[3] चन्द्रालोक का सरल था, परन्तु कुवलयानन्द मे 'कैमुत्य'[4] शब्द का प्रयोग करके दुरूहता ला दी है, भाषाभूषण के एक संस्करण में यह शब्द ज्यो-का-त्यो रखा हुआ है, अन्यत्र उसके स्थान पर 'कहा बात' वाक्य का प्रयोग है--इससे तो साहित्यदर्पण का 'दण्डापूपिकान्याय' ही अच्छा था।

विकस्वर, प्रौढोक्ति, संभावना, मिथ्याध्यवसिति, ललित, प्रहर्षण (३ भेद) तथा **विषाद** कुवलयानन्द के अनुसार है--विषादन का उदाहरण अश्लील-सा बन गया है। **उल्लास** के ४ भेद हो सकते है, कुवलयानन्द मे चारो के उदाहरण है, परन्तु यहा केवल एक का। **अवज्ञा** मे चन्द्रालोक का और **अनुज्ञा, लेश, मुद्रा, रत्नावली, तद्गुण, पूर्वरूप, अतद्गुण, अनुगुण, मीलित, सामान्य, उन्मीलित, विशेषक, गूढोत्तर** आदि मे कुवलयानन्द का प्रभाव है। भाषाभूषण का चित्रालकार वस्तुत कुवलयानन्द का चित्रोत्तर अलकार है जिसको उत्तरअलकार का ही एक भेद माना जा सकता है (कुवलयानन्द, १'५०)। शेष अलकार भी कुवलयानन्द के समान है।

वक्रोक्ति चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द दोनो मे अर्थालकार माना गया है, भाषाभूषण मे भी वही अनुकरण है। **उदात्त** भी दोनो स्थलो पर एक-सा है, भाषाभूषण मे न तो लक्षण पूरा है और न लक्षण का अनुवाद स्पष्ट --

उदात्तमृद्धिचरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम्।
उपलच्छन दै सोधिए, अधिकाई सु उदात्त।१९१।

उदाहरण से कुछ भी सहायता नही मिलती --

तुम जाके बस होत हौ, सुनत तनक-सी बात।१९१।

मूल्याकन

भाषाभूषण अलकार सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, इसलिये चन्द्रालोक से सुपरिचित होते हुए भी इसने सामान्यत कुवलयानन्द का अनुकरण किया है--श्लेष, अप्रस्तुतप्रशसा, विरोधाभास आदि के विषय मे जसवन्तसिंह ने जयदेव की अपेक्षा अप्पयदीक्षित को अधिक माना है। किसी अलकार के जहा कई भेद हो, वहा सामान्यत कुवलयानन्द की ही कृपा

(१) **अद्य कान्त. कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति।**
करि है दुख को अन्त अब, जम कै प्यारो कंत।१४५।

(२) **प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।**
प्रत्यनीक सो, प्रबल रिपु ता हित सों करि जोर।१५०।

(३) **अर्थापत्तिः स्वयं सिध्येत् पदार्थान्तरवर्णनम्।५।३७।**

(४) **कैमुत्यन्याय का अर्थ है 'उसका क्या' (वह क्या)--जब ऐसा हो गया तो फिर उसका क्या प्रश्न (वह तो अपने आप ही होगया)।**

समझनी चाहिये (देखिए उल्लेख, विभावना, असगति आदि)। ऐसे स्थल बहुत थोडे है जहा कुवलयानन्द की बात न मानकर चन्द्रालोक से सहमति दिखलाई हो (दे उल्लास)। इस पुस्तक मे अलकारो का क्रम तथा उनके नाम तो कुवलयानन्द के अनुसार है ही, अर्थालकारो की सख्या भी उसके अनुसार १०० है[1]—रसवत् आदि भावोदय आदि तथा प्रत्यक्ष[2] आदि १५ तथा समृष्टि आदि ४ अप्पयदीक्षित ने अपने मत से नही लिखे प्रत्युत दूसरे आचार्यो के अनुसार इनकी चर्चा कर दी है, इसीलिये जसवतसिह ने इनका नाम लेना भी उचित न समझा। अस्तु भाषाभूषण को चन्द्रालोक की अपेक्षा कुवलयानन्द की भाषा-छाया कहा जावे, तो अधिक युक्तिसगत जान पडता है।

इस पुस्तक मे मूल चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द का ही सहारा नही है, सस्कृत के दूसरे ग्रन्थो का भी प्रभाव है। हम ऊपर बतला चुके है कि शब्दालकार मम्मट तथा विश्वनाथ से आये है और अनुप्रास के लक्षण मे दण्डी तक की शब्दावली पाई जाती है। कुवलयानन्द की वृत्ति इस आचार्य ने ध्यानपूर्वक पढी थी या नही, यह कैसे कहा जा सकता है? विकल्प का उदाहरण वृत्ति से ही आया है, परन्तु कारणमाला के प्रसग मे उसने वृत्ति पर ध्यान नही दिया, यह हम ऊपर कह चुके है।

भाषाभूषण ने सभी अलकारो के लक्षण नही लिखे, उनका वर्णन कर दिया है—उपमा, रूपक, निदर्शना आदि के विषय मे लक्षण न बतलाना खटकता है। प्राय: सभी लक्षण सस्कृत से अनूदित है, लक्षणो के अनुवाद मे लेखक शब्दावली को भी यथावत् रखना चाहता है इसलिये कुछ अनुवाद क्लिष्ट और अस्पष्ट बन गये है (दे एकावली, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, उदात्त आदि)। फिर भी कुछ लक्षण तो बडे स्पष्ट है (दे. अनन्वय, परिणाम)। ऐसे स्थल कम ही है जहा पाठक को शिकायत करनी पडे, उत्प्रेक्षा का अनादर, दृष्टान्त का लक्षण, तथा व्याजस्तुति-व्याजनिन्दा का घपला कभी-कभी ऐसा मौका देते है।

अलकारो के उदाहरण अनुवाद-मात्र नही है, कही-कही छायानुवाद है और कही-कही स्वतत्र। छायानुवाद का कारण यह जान पडता है कि लेखक अपने पाठक को शृगार का सामान्य परन्तु शिष्ट उदाहरण बतलाना चाहता था जिसमे उसको स्मरण रखना अधिक सभव हो सके—मूल की अपेक्षा छाया सदैव सरस, मधुर तथा आकर्षक है। (दे अपह्नुति, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक आदि)। भाषाभूषण के उदाहरण ही लेखक की प्रतिभा का ठीक-ठीक परिचय दे सकते है। अस्वस्थ उदाहरण आश्चर्य की बात है (दे विषादन)।

लक्षण-उदाहरण-समन्वय दो प्रकार से किया गया है। लक्षण और फिर उसका उदाहरण एक ही छद मे आ जावे—ऐसा क्रम नितान्त स्वाभाविक है और भाषाभूषण मे ऐसा हुआ भी है। परन्तु जहा किसी अलकार के अनेक भेद है (विशेषत उन अलकारो के प्रसग में जहा चन्द्रालोक मे तो एक ही भेद है परन्तु कुवलयानन्द मे अधिक भेद हो गये है) वहा लेखक ने आदि मे सभी भेदो को अलग-अलग समझा दिया है फिर एक साथ क्रमश सब भेदो के उदाहरण दे दिये है (दे निदर्शना, पर्यायोक्त, आक्षेप, असगति आदि)। इस

(१) इत्थं शतमलंकारा लक्षयित्वा निदर्शिताः। (कुवल., १६९)
(२) एवं पञ्चदशान्यानप्यलंकारान् विदुर्बुधाः। (वही, १७१)

प्रवृत्ति मे युग का प्रभाव तो स्पष्ट है, परन्तु इससे पुस्तक की उपादेयता तथा लोकप्रियता को आघात पहुचता है।

साहित्य के उस युग मे अनुवाद मे अधिक कसावट की आशा नही की जा सकती और भाषाभूषण के विषय मे हम यह मानकर भी नही चल सकते कि यह अनुवाद-मात्र ही है—जिसे हम अनुवाद का दोष समझते है, सभव है वह लेखक का अभीष्ट आधार-ग्रथ से मतभेद हो। कम से कम उदाहरणो के विषय मे हमको ऐसा ही सोचना चाहिये। मीलित के लक्षण-उदाहरण मे यह श्लोक है —

मीलितं बहु सादृश्याद् भेदवच्चेन्न लक्ष्यते।
रसो नालक्षि लाक्षाया श्चरणे सहजारुणे॥

इसमे 'बहु सादृश्यात्', 'भेदवत्', तथा 'सहजारुणे' पर जोर देकर अनुवाद इस प्रकार होगा :—

मीलित बहु सादृश्यते, भेद न परै लखाय।
सहज-अरुन तिय-चरन पर, जावक लख्यौ न जाय॥

परन्तु हमारे आचार्य का अनुवाद यह है —

मीलित सोइ सादृश्य तें, भेद जबै न लखाय।
अरुन-बरन तिय-चरन पर, जावक लख्यो न जाय।१७४।

यह अनुवाद उतना उपयुक्त नही है।

भाषाभूषण अपने ढग का बडा उपादेय ग्रन्थ है। इसके लेखक मे सारग्राहिता के साथ-साथ सरसता तथा मधुरिमा भी है। छाया-ग्रथ होते हुए भी इसमे पची हुई मौलिकता है। लक्षण कसे हुए तथा उदाहरण उपयुक्त है। कुवलयानन्द की आत्मा मानो भाषा मे अवतरित हो गई हो।

मतिराम : ललित-ललाम

(स० १७१८–१९)

प कृष्णविहारीमिश्र के अनुसार स १७१८-१९ मे तथा डा भगीरथ मिश्र के अनुसार स १७१६ से १७४५ के बीच कविवर मतिराम ने बूदी के महाराज भावसिह के लिये 'ललित-ललाम' नाम का अलकार-ग्रन्थ लिखा। इससे पूर्व वे साहित्यशास्त्र के दो ग्रथ और लिख चुके थे––नायिका-भेद का "रसराज" तथा छदशास्त्र का "छदसार-पिगल"। मतिराम ने आगे चलकर[1] स १७४७ मे "अलकारपचाशिका" नाम की एक अलकार-पुस्तक भी लिखी, जिसमे लक्षण सस्कृत के आधार[2] पर है तथा उदाहरण भाषा मे कवि के मौलिक है।

ललित-ललाम ४०१ छदो का अलकार-ग्रथ है, जिसमे कम से कम आधे दोहे है, शेष कवित्त-सवैये। मगलाचरण के ५ छदो के अनन्तर, १७ दोहो मे बूदी-वर्णन है, फिर १५ छदो मे नृपवशवर्णन किया गया है। भावसिह की रीझ[3] तथा खीझ दोनो ही अपूर्व थी, उन्ही को रिझाने के लिये मतिराम ने 'कविता भूषन-धाम'[4] इस ललित-ललाम नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ मे कवि ने उन अर्थालकारो का वर्णन किया है जिन पर अधिकार प्राप्त कर लेने वाले कवि की वाणी जगत् मे सानन्द विलास[5] कर सकती है। ग्रन्थ की समाप्ति पर मतिराम ने अपने आश्रयदाता को (शायद ग्रन्थ के ही सहारे) चिरजीव[6] होने का आशीर्वाद दिया है, और पाठक को इस बात का आश्वासन दिया है कि इस ग्रन्थ की रचना ससार के हितार्थ ही हुई है, जो व्यक्ति इसको कठ्य[7] कर लेगा उसका सभाओ मे बडा सम्मान होगा।

नाम तथा क्षेत्र

इस ग्रन्थ का नाम नितान्त निराला है, परन्तु उसका शब्दार्थ निराला नही, 'ललाम'

---

(१) **मतिराम-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ. २२४**

(२) **संसकिरत कौ अर्थ लै, भाषा शुद्ध विचार।**
उदाहरण क्रम ए किए, लीजो सुकवि सुधार॥

(३) **रीझ हू खीज मै राव सता-सुत, कीरति में अति जोति चढावै ।३७।**

(४) **भावसिह की रीझ कौं, कविता भूषन-धाम।**
ग्रन्थ सुकवि मतिराम यह, कीनौ ललित-ललाम ।३८।

(५) **रुचिर अर्थ भूषन इते, रचि जानै 'मतिराम'।**
ताकी बानी जगत मैं, बिलसै, अति अभिराम ॥३९९॥

(६) **जग चिरंजीव तब लगि सुखद, कहत सकल संसार धनि॥४००॥**

(७) **कंठ करै जो, सभनि मै, सोभै अति अभिराम।**
भयो सकल संसार हित, कविता 'ललित ललाम' ॥४०१॥

का अर्थ है सुन्दर, सौदर्य या अलकार, और 'ललित' का अभिप्राय है सुकुमारोपयोगी--अप्पयदीक्षित ने[1] भी अपने 'लक्ष्यलक्षणसग्रह' को 'ललित' ही बनाया था, इस प्रकार 'ललित-ललाम' का अर्थ हुआ 'ऐसा अलकार ग्रन्थ जो सुकुमार-बुद्धि पाठको के लिए उपयोगी हो'। आगे चलकर हम देखेगे कि इस कवि को नाम बदलने का शौक था और पर्यायवाची शब्द (जैसे 'अलकार' के स्थान पर 'ललाम') रखकर वह परिवर्त्तन किया करता था।

इस ग्रन्थ के ३६० छन्दो मे अलकार-विषय है। ४ रसवत् आदि, ३ भावोदय आदि, तथा ८ प्रमाण अलकारो को तो यहा स्थान मिला ही नही, शब्दालकारो की भी चर्चा नही है। इन अर्थालकारो की सूची कही भी (केशव के समान प्रारम्भ मे या भूषण के समान अन्त मे) नही दी। इन अलकारो की सख्या तथा क्रम कुवलयानन्द के ही अनुसार है, केवल एक अलकार 'काव्यलिग' ललित-ललाम मे नही मिलता, भाषाभूषण आदि के समान चित्र अलकार भी इस पुस्तक मे स्थान पा गया है।

अलकारो के नाम तथा भेद

अलकारो के महत्त्व तथा कुछ अलकारो के स्वतत्र अस्तित्व को लेकर आचार्यों मे मतभेद रहा है, परन्तु अलकारो के नामो मे स्वच्छन्दता की आवश्यकता नही समझी गई--स्मृति तथा स्मरण, भ्रान्ति तथा भ्रम का हेरफेर तो नितान्त सामान्य है, सस्कृत मे 'स्वभावोक्ति' तथा 'जाति' ये दो नाम ही एक दूसरे के पर्याय थे। यहा चार अन्य अलकारो के नाम भी पर्यायवाची शब्दो की सहायता से बदलकर कैतवापह्नुति का छलापह्नुति, प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा का गुप्तोत्प्रेक्षा, अन्योन्य का परस्पर, तथा कारणमाला का हेतु-माला कर दिया गया है। इस परिवर्त्तन का कोई भी कारण समझ मे नही आता, जान पडता है कि यह कवि की रुचि-मात्र का ही परिचायक है।

'विशेषक' के स्थान पर 'विशेष' ही लिखा है तथा 'विषादन' के स्थान पर 'विषाद', जो अधिक खटकता भी नही; परन्तु 'विशेष' नाम का एक दूसरा अलकार भी इस पुस्तक मे स्वीकार किया गया है, अत. ऊपरी रूप से पाठक को 'विशेष' नाम के दो भिन्न-भिन्न अलकार मिलते हैं--यह ग्रन्थ का एक दोष है।

अलकारो के भेद सर्वत्र कुवलयानन्द के आधार पर नही है, किसी एक पुस्तक का आधार भी नही माना जा सकता। व्यतिरेक, अप्रस्तुतप्रशसा तथा अल्प के भेद यहा नही दिये गये--अप्रस्तुतप्रशसा के भेदो की अवहेलना पर ध्यान देना पडेगा। विनोक्ति, अर्थान्तरन्यास तथा भाविक के भी भेद नही लिखे, परन्तु दो-दो उदाहरण दे दिये है जिनमे अलग-अलग भेद स्पष्ट हो जाते है--विनोक्ति का प्रथम उदाहरण चन्द्रालोक मे वर्णित हीनत्व प्रतिपादन वाला है, और दूसरा कुवलयानन्द मे बढाया गया शोभनत्व प्रतिपादन वाला; अर्थान्तरन्यास का प्रथम उदाहरण सामान्य से विशेष का समर्थन करता है और दूसरा विशेष से सामान्य का, भाविक का प्रथम उदाहरण भूतार्थ का है तथा दूसरा भविष्यदर्थ का। लेश तथा तुल्ययोगिता के दो-दो भेदो का ही उल्लेख है।

(१) ललितः क्रियते तेषां लक्ष्यलक्षणसंग्रहः ।४। (कुवलयानन्द)

अलकारो के लक्षण

मतिराम ने सभी अलकारो के लक्षण दोहो मे लिखे है, एक अलकार के लिए अथवा एक भेद के लिये एक दोहा प्रयुक्त होता है। दोहे के अन्तिम दो चरणो मे अलकार का नाम तथा प्राय कवि का नाम है, और आदि के दो चरणो मे उस अलकार या भेद का लक्षण। इस प्रकार भाषाभूषण तथा ललित-ललाम दोनो की लक्षणशैली मे कोई भेद नही। इस पुस्तक मे भाषाभूषण का अनुकरण होने पर भी उसकी शब्दावली को ज्यो-का-त्यो नही अपनाया गया।

सस्कृत ग्रन्थो का प्रभाव अलकारो के लक्षणो पर मिलता है। चन्द्रालोक, कुवलयानन्द के अतिरिक्त काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की शब्दावली का भी प्रयोग किया गया है—उपमा तथा उत्प्रेक्षा के प्रसग विशेषत इन्ही से प्रभावित है। कारणमाला, सार तथा परिवृत्ति के ये स्थल देखिए —

(क) **यथोत्तरं चेत्पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।** (काव्यप्रकाश)
परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता। (साहित्यदर्पण)
पूरब-पूरब हेतु जहं, उत्तर-उत्तर काज। (ललितललाम)

(ख) **उत्तरोत्तर मुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः।** (काव्यप्रकाश)
उत्तरोत्तर मुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते। (सा. दर्पण)
उत्तर उत्तर उतकरष, सार कहत सज्ञान। (ल. ललाम)

(ग) **परिवृत्ति विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः।** (का. प्र.)
परिवृत्ति विनिमयः समन्यूनाधिकै र्भवेत्। (सा. द.)
घाटि बाढ़ि द्वै बात को, जहां पलटिबो होय। (ल. ल.)

मतिराम सर्वत्र शब्दावली को सुरक्षित नही रख पाये है।

यदि दोहे के चारो चरण लक्षण को बतलाते तो कसावट अधिक आ सकती थी, परन्तु सुविधा होते हुए भी इस कवि ने दूसरो का अनुकरण किया और लक्षण इतने सक्षिप्त लिखे कि वे अस्पष्ट बन गये। कुछ प्रसग देखे जा सकते है —

(क) अनन्वय—**'जहां एक ही बात कौ उपमेयो उपमान'**, यह लक्षण अनन्वय के स्वरूप को स्पष्ट नही करता—'एक ही बात को उपमेय तथा उपमान बनाना' अनन्वय नही है, उपमेय को ही उपमान बनाना अनन्वय है, यदि यह कहा जाय कि 'यह कमल उस कमल के समान सुन्दर है' तो इस वाक्य मे अनन्वय न होगा, क्योकि इस अलकार मे आग्रह उसी वस्तु का रहता है, उसी बात का नही।

(ख) भेदकातिशयोक्ति—**'औरै यों करि कै जहां बरनत सोई बात'**—मतिराम का अभिप्राय यह है कि यह अलकार वहा माना जायगा जहा किसी वस्तु का वर्णन करते समय यह कहा जाय कि आज तो यह कुछ और ही मालूम पडती है, परन्तु प्रयुक्त शब्दावली मे यह भाव स्पष्ट नही होता।

(ग) समासोक्ति—**'जहं प्रस्तुतमैं होत है, अप्रस्तुत को ज्ञान'**—यह **'समासोक्तिः परिस्फूर्ति प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्'** (चन्द्रालोक) का शिथिल अनुवाद है, परन्तु

('परिस्फूर्तिः') मे जो व्यजना है वह 'ज्ञान' मे न आ सकी।

(घ) विरोधाभास—'**जहं विरोध सो लगत है, होत न सांच विरोध**'—यह लक्षण भी शास्त्रीय नही है, इसमे असगति, विभावना, विशेषोक्ति आदि सब समा सकते है।

(ङ) एकावली—मतिराम ने लिखा है —

एक अर्थ लै छोड़िए, और अर्थ लै ताहि।
अर्थ पांति इमि कहत है, एकावली सराहि।२५९।

इस दोहे से भी कुछ स्पष्ट नही होता। इसी प्रकार काव्यार्थापत्ति, विकस्वर, प्रौढोक्ति, मिथ्याध्यवसित आदि के विषय मे भी समझना चाहिए।

उपमा-चक्र—

ललित-ललाम का प्रारभ उपमा अलकार से होता है, उपमेय और उपमान का लक्षण देने के उपरान्त जयदेव की छाया मे उपमा का लक्षण इस प्रकार है —

जहां बरनिए दुहुनि की, सम छवि को उल्लास।
(उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः)।

तदनन्तर दो उदाहरण है—एक आश्रयदाता का, दूसरा शृगार का —

(क) ऐसे सब खलक तै सकल सकिलि रही,
राव में सरम जैसै सलिल दरयाव में।४१।

(ख) यों मतिराम भयो हिय मे सुख बाल के बालम सौ दृग जोरे।
ज्यो पट मे अति ही चटकीलो चढ़े रंग तीसरी बार के बोरे।।४२।।

परन्तु दोनो ही उदाहरणो मे शका हो सकती है। आचार्य विश्वनाथ ने उपमा के लक्षण मे "वाक्यैक्य"[1] का होना आवश्यक माना है, जहा सादृश्य के लिए दो वाक्यो की अपेक्षा होती है वहा सादृश्य दो वस्तुओ मे नही होता, दो वाक्यो मे या दो कथनो मे होता है, जैसा कि यहा है। ऊपर के उदाहरणो मे साधारण धर्म अलग-अलग दो वाक्यो मे रखे हुए है, इसलिए उपमा अलकार का क्षेत्र नही रह जाता।

पूर्णोपमा के भी दो उदाहरण है। कवित्त का अन्तिम चरण है —

गाढ़े हूवै गढ़े है न निसारे निसरत
मैन-बान से बिसारे न बिसारे बिसरत है।४४।

वर्णन 'लोचन-रसाल' का चला आ रहा है, अप्रस्तुत है 'मैनबान', चारो अग है इसलिए पूर्णोपमा हो जायगी। परन्तु इस छन्द मे अधिक चमत्कार दूसरे अलकारो का है—'बिसारे न बिसारे' मे यमक, तथा 'न बिसारे बिसरत है,' मे विशेषोक्ति है। उपमा का चमत्कार दूसरे चमत्कारो के सामने दब जाता है। विषय के प्रतिपादक आचार्य को चाहिए कि वह ऐसा उदाहरण उपस्थित करे जो केवल उसी चमत्कार का द्योतक हो, अन्य का नही। मतिराम ने पूर्णोपमा के दूसरे उदाहरण[2] मे भी इस बात का ध्यान नही रखा।

पूर्णोपमा के लक्षण मे भी शिथिलता है —

---

(१) **साम्यं वाच्य मवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। (साहित्यदर्पण)**
(२) **लाज तजे हू दुहुनि के, सलज सूर-से नैन।४५।**

वाचक अरु उपमेय जह, साधारन उपमान।
पूरन उपमा कहत है, तहं मतिराम सुजान ।।४३।।

'साधारण धर्म' के स्थान पर केवल 'साधारन' शब्द रख देना और वह भी 'उपमान' के पास ही, पाठक को भुलावे मे डाल देता है--पाठक समझता है कि कवि 'साधारन उपमान' के विषय मे कुछ कहना चाहता है।

परम्परा के अनुकरण पर इस पुस्तक मे लुप्तोपमा के चार मे से तीन अगो का लोप कर दिया है,कुशल यही है कि सभी भेदोपभेदो के उदाहरण नही रखे। मतिराम ने उपमा के अनेक भेदो का कथन किया है, मालोपमा, रसनोपमा, तथा उपमेयोपमा के लक्षणो मे काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की छाया स्पष्ट है --

(क) जहां एक उपमेय कौं, होत बहुत उपमान।
मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते। (सा. द.)

(ख) जहां प्रथम उपमेय सो, होत जात उपमान।
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता। (सा. द.)

(ग) जहां होत है परस्पर, उपमेयो उपमान।
पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता। (सा. द.)
विपर्यास उपमेयोपमा तयोः। (का. प्रकाश)

(घ) जहां एक ही बात कौं, उपमेयो उपमान।
उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः। (सा. द.)

उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति

मतिराम ने उत्प्रेक्षा का लक्षण मम्मट तथा विश्वनाथ के आधार पर ही लिखा है --

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा। (काव्यप्रकाश)
भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा। (साहित्यदर्पण)
जहं कीजे संभावना, सो उत्प्रेक्षा जानि।१००।

जो ६ भेद किये गये है उनके उदाहरण उपयुक्त है, परन्तु अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण विचारणीय है। यह भेद वहा माना जाता है जहा उत्प्रेक्षा की विषयभूत वस्तु का कथन न हो। परन्तु उदाहरण मे --

तेरे अंग-अंग मैं मिठाई औ लुनाई भरी,
मतिराम कहत प्रगट यह पाइए।
नायक के नैननि मे नाइए सुधा सो, सब
सौतनि के लोचननि लौन-सो लगाइए।१०४।

'सुधा-सो' तथा 'लोन-सो' मे अनुक्तविषया हो सकती है, परन्तु ऊपर के चरण म 'मिठाई औ लुनाई' रूपी कारण दिया हुआ है जिस पर उत्प्रेक्षा का यह चमत्कार स्थित है। फलत पाठक का ध्यान 'क्रम' तथा 'उल्लेख' अलकारो पर जाता है--मिठाई से सुधा, तथा लुनाई से लौन मे क्रम है, एव एक ही नायिका अपने अगो से एक की आखो में अमृत बरसाती है तथा दूसरियो की आखो मे नमक छिडकती है, इसलिए उल्लेख अलकार है।

गुप्तोत्प्रेक्षा (गूढोत्प्रेक्षा या गम्योत्प्रेक्षा) का उदाहरण अवश्य सुन्दर है। नायिका नायक के मुख की ओर जब टकटकी लगाकर देखने लगी तो सात्विक भावो का उदय हो आया—उसकी दृष्टि मे स्थिरता आ गई और माथे पर स्वेद छा गया। कवि की सभावना है कि ऐसी दशा 'रीझ के भार' के कारण हुई —

बाल रही इकटक निरखि, ललित लाल मुख इंदु।
रीझ भार अंखियां थकीं, झलके श्रम जलबिंदु ।११०।

अतिशयोक्ति का लक्षण नही दिया, परन्तु सभी भेदो का अलग-अलग वर्णन है। रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण मे दो दोहे है परन्तु बडे अस्पष्ट —

इन्द्रजाल कंदर्प को, कहै कहा मतिराम।
आगि लपट, वर्षा करै, ताप धरै घनस्याम ॥११२॥

'आगि लपट', 'वर्षा', तथा 'ताप', किसी के उपमान प्रसिद्ध नही है—विरहानल, अश्रुप्रवाह तथा विरहताप के स्थान पर इनका प्रयोग मानने मे उपमेय-उपमान-भाव नही बनता। दूसरे उदाहरण मे —

आलबाल घन समय को, ग्रीषम ऋतु की बेलि ॥११३॥

परम्परा मे नायिका के लिए 'बेलि' शब्द का व्यवहार तो मिलता है परन्तु सात्विक भावो के लिए आलबाल का प्रयोग सुन्दर होते हुए भी क्लिष्ट है—अप्रसिद्ध है।

ललित-ललाम मे असम्बन्धातिशयोक्ति को अलग भेद न मानकर सम्बन्धातिशयोक्ति के ही अन्तर्गत रखा है। लक्षण पहिले 'योग मे अयोग' का है तब 'अयोग मे योग' का, परन्तु उदाहरण पहिले 'अयोग मे योग' का है तब 'योग मे अयोग' का। दूसरे उदाहरण मे अत्युक्ति का चमत्कार ही मुख्य है, प्रतिपाद्य विषय छिप जाता है —

कैसे वह बाल, लाल, बाहर बिजन आवै,
बिजन-बयारि लागे लचकत लंक है ॥१२१॥

अप्रस्तुतप्रशसा तथा व्याजोक्ति

मतिराम और भूषण ने अप्रस्तुतप्रशसा अलकार को समझा ही नही, वे 'प्रशसा' का प्रचलित अर्थ ले बैठे, इनके लक्षण है —

अप्रस्तुतै प्रसंसिए, प्रस्तुत लीने नाम। (मतिराम)
प्रस्तुत लीन्हे होत जहं, अप्रस्तुत परसंस। (भूषण)

काव्यप्रकाश[1] तथा साहित्यदर्पण[2] मे यह अलकार वहा माना गया है जहा अप्रस्तुत से प्रस्तुत का ज्ञान हो, चन्द्रालोक के लक्षण का भी यही भाव है—**अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुतानुगा**, और कुवलयानन्द[3] की शब्दावली मे भी कोई अन्तर नही। सस्कृत लक्षणो से यह स्पष्ट है कि इस अलकार के नाम मे 'प्रशसा' का अर्थ 'कथन' अथवा 'वर्णन'

(१) अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।१०।९८।
(२) अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद् गम्यते .....।१०।७७।
(३) अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्सा यत्र प्रस्तुताश्रया।६६।

मात्र है, 'कीर्तिगान' नही। मतिराम तथा भूषण इस रहस्य को न समझ पाये, मतिराम के उदाहरण मे उनकी प्रशसा-मात्र है जो उपस्थित नही (=अप्रस्तुत) है ——

ते धनि जे ब्रजराज लखे, गृह-काज करै अरु लाज संभारै।१७४।

व्याजस्तुति के विषय मे भी आचार्य एकमत नही रहे। जयदेव[1] ने निन्दा और स्तुति के द्वारा क्रमश स्तुति तथा निन्दा मे इस अलकार की स्थिति मानी, अप्पयदीक्षित ने इसको भिन्नविषया भी माना और वैधर्म्य के द्वारा भी——इस प्रकार निन्दा मे स्तुति, स्तुति मे निन्दा, स्तुति मे (दूसरे की) स्तुति, और निन्दा मे (दूसरे की) निन्दा, ये ४ प्रकार के उदाहरण बनने लगे। जसवतसिह ने व्याजस्तुति तथा व्याजनिन्दा के दो भेद किये है और उदाहरण प्रथम तथा चतुर्थ रूपो के दिये है, दूलह ने अलकार का नाम 'व्याजोक्ति' रखा और प्रथम तीन भेदो को 'व्याजस्तुति' कहा तथा अतिम को 'व्याजनिन्दा', पद्माकर ने भी यही किया है। मतिराम ने भी दो भेद किये और प्रथम भेद के साथ प्रथम दो रूपो के उदाहरण रख दिये, दूसरे भेद के नीचे केवल निन्दा मे निन्दा का। भूषण ने केवल प्रथम दो रूपो का ही वर्णन किया है।

अलंकारों के उदाहरण

इस शैली के लेखको की विशेषता उदाहरणो मे ही है——लक्षण तो, इनके सुविधा रहते हुए भी, अस्पष्ट है, उदाहरण बडे-बडे छन्दो मे एक से अधिक भी है। मतिराम के उदाहरण प्राय कवित्त-सवैयो मे है, दोहो मे प्राय कम ही। जिन अलकारो मे उनका चित्त कम रमा उनके उदाहरण दोहो मे बना डाले है——अल्प, विशेषक, प्रत्यनीक, प्रौढोक्ति ललित, उल्लास, लेस, मुद्रा, उन्मीलित, चित्र तथा गूढोक्ति आदि। दूसरी ओर, कुछ अलकारों के एक से अधिक उदाहरण भी है——अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, परिकर, विशेषोक्ति, अवज्ञा आदि। अवज्ञा के तो ३ उदाहरण है। जहा आवश्यकता से अधिक उदाहरण है वहा एक बात कही जा सकती है कि एक उदाहरण आश्रयदाता से सबध रखता है तथा दूसरा शृगार रस का प्राय कवि का पहिला रचा हुआ है।

जो उदाहरण कवित्त या सवैयो मे दिये गये है उनक पहिले तीन चरणो से अलकार का प्राय सम्बन्ध नही होता, केवल चौथा चरण ही पर्याप्त समझा जा सकता है। इतना ही नही अनावश्यक चरण पाठक को भ्रम मे भी डाल सकते है, यह वर्णनप्रियता आचार्यत्व मे सर्वत्र बाधक है। तृतीय आक्षेप के उदाहरण मे एक कवित्त तथा एक दोहा है, परन्तु केवल दो चरण ही[2] पर्याप्त थे, जितना उनसे स्पष्ट होता है उतना सबको पढकर ग्रहण करने से नही।

ललित-ललाम के स्मृति, भ्रम, सदेह, समासोक्ति, विभावना, परिवृत्ति, अवज्ञा

---

(१) **उक्ति व्याजस्तुति निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः।५।७१।**

(२) **आई ऋतु सुरभि सुहाई प्रीति वाके चित्त,**
ऐसे में चलौ तौ लाल रावरी बड़ाई है।
सोवति न रैन-दिन रोवति रहति बाल,
बूझे ते कहति सुधि मायके की आई है।।१९२।

आदि अलकारो से भी सन्तोष नही होता। स्मृति, भ्रम तथा सन्देह अलकार वही होगे जहा उपमेय-उपमान भाव होगा, मतिराम ने इस रहस्य को न समझा। लक्षण[1] मे तो लिख दिया है कि एक वस्तु को देखकर उसके समान अन्य वस्तु के स्मरण आदि मे ये अलकार होते है, परन्तु उदाहरण मे इस सादृश्य का ध्यान न रखा।

समासोक्ति का लक्षण तो ठीक है परन्तु उदाहरण सदोष है, उसमे मन का मानवीकरण है जिससे किसी अप्रस्तुत वियोगी का सकेत नही मिलता—'वियोगी' शब्द के रख देने से यह कठिनाई और भी बढ जाती है —

कहा कहौं लाल, तलबेली तलफत परयो,
बाल अलबेली को बियोगी मन लाज को।१६३।

प्रथम विभावना मे कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति होती है, कवि का लक्षण ठीक है, परन्तु उदाहरण नही.—

लाजभरी अंखियां विहंसी बलि, बोल कहे बिन उत्तर दीनौ।१९७।

यह चन्द्रालोक के परिणाम अलकार मे दिये गये उदाहरण का छायानुवाद सा जान पडता है —

कान्तेन पृष्टा रहसि, मौनमेवोत्तरं ददौ।५।२२।

परिवृत्ति अलकार क. लक्षण ो न्यूनाधिक का विनिमय है, परन्तु चमत्कार वहा रहता है जहा सबधित व्यक्तियो का स्वय प्रयास हो, इसीलिए विश्वनाथ[2] का उदाहरण जयदेव[3] के उदाहरण से अधिक आकर्षक है। मतिराम के उदाहरण मे प्रयत्न तीसरे ही व्यक्ति का है, विनिमय करने वाले तो चुपचाप देखते रहते है —

गायन कौं बकसी कसाइनि की आयु सब,
गायनि की आयु सो कसाइनि कौ बकसी।

अवज्ञा अलकार मे एक के गुण या दोष से दूसरे को लाभ या हानि न प्राप्त होने का कथन होता है; यह अलकार उल्लास का विपरीत है। मतिराम का लक्षण ठीक है—**"और के गुन दोष ते ओर के गुन दोष जहं न"**। परन्तु उदाहरण वही है जो अर्थान्तरन्यास का भी उदाहरण था—विशेष द्वारा सामान्य का कथन। ध्यान रखना होगा कि अवज्ञा मे सामान्य-विशेष भाव सदा आवश्यक नही है।

कुछ सुन्दर उदाहरण

इस परम्परा के कवियो को वर्णन से विशेष प्रेम था इसलिए इन्होने लक्षण की अपेक्षा उदाहरण मे कौशल अधिक दिखलाया है। रोचक तथा उपयुक्त उदाहरण विषय को स्पष्ट, सुगम तथा ग्राह्य बना देते है, इसलिए उनके महत्त्व की उपेक्षा नही की जा सकती। मतिराम के कुछ उदाहरण बहुत सफल है —

(१) **एक वस्तु लखि आन को, सुमरन-भ्रम-संदेह।८०।**
(२) **दत्वा कटाक्षमेणाक्षी, जग्राह हृदयं मम।**
मया तु हृदयं दत्वा, गृहीतो मदनज्वरः।
(३) **जग्राहैकं शरं मुक्त्वा कटाक्षान् शत्रुयोषिताम्।**

(क) सहोक्ति में 'सह' अथवा उसके पर्यायवाची शब्द के प्रयोग द्वारा चमत्कार-वर्द्धक सयोग दिखलाया जाता है, प्राय एक वस्तु मूर्त होती है दूसरी अमूर्त। मतिराम के उदाहरण में --

संपत्ति के साथ कवि सौधनि बसत, बन
दारिद बसत साथ वैरि-वनितान के।१५८।

वैभव तथा शौर्य की व्यजना तो है ही, सपत्ति (रमणी) के साथ कवियो का सुख-भोग बतलाकर गुणग्राहकता का सुन्दर सकेत है, तथा दारिद्र्य (पुरुष) का शत्रु स्त्रियो के साथ घर बसाकर रहना शत्रुओ की नाक ही काट देता है।

(ख) पर्यायोक्ति अलकार का दूसरा भेद किसी बहाने अपने कार्य की सिद्धि में आता है। शृंगारी कवियो ने इसके उदाहरण म सखियो को चकमा देकर कृष्ण का राधा से मिलना दिखलाया है। मतिराम का भी यही उदाहरण है परन्तु दूसरो से अधिक स्पष्ट तथा सरस --

मनमोहन आय गए तित ही जित खेलत बाल सखी-जन मैं,
तहं आपु ही मूंदे सलोनी के लोचन, चोर-मिचौनी खेलन मैं।
दुरबे कौं गईं सगरी सखियां, मतिराम कहै इतने छन मैं।
मुसकाय के राधिके कंठ लगाय, छिप्यौ कहूं जाय निकुंजन मैं।१८१।

ध्यान रखना होगा कि इस अलकार का सारा सौदर्य वर्णन पर ही निर्भर है,इसलिए इसका उदाहरण बडा ही होगा।

(ग) द्वितीय विषम---लोक मे कारण-कार्य की एकरूपता होती है, विषम इस एकरूपता के स्थान पर विरूपता का कथन करता है, अर्थात् यहा कारण से भिन्न प्रकार के कार्य की उत्पत्ति होती है। ललित-ललाम के उदाहरण मे सुन्दरी नायिका ने एक श्वेत साडी पहिनकर ही सौतो का मुख काला तथा नायक का मुख सुखान्वित कर दिया --

सेत सारी ही सौं सब सौते रंगी स्याम रग,
सेत सारी ही सौं स्याम रंगे लाल रंग मैं।२२५।

(घ) अर्थान्तरन्यास मे सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन होता है। जहा विशेष से सामान्य का समर्थन है वहा वक्ता विशेष कथन को अपने अनुभव का फल भी बना सकता है, ऐसी दशा मे समर्थन बडा गभीर एव प्रभावशाली बन जाता है। परकीया ने उपपति से प्रेम किया और वह जानती थी कि प्रेम के लिए त्याग आवश्यक है, वह त्याग करती गई--उसने लोकलज्जा त्याग दी, घर के कामकाज से मुख मोड लिया, गुरुजनो के भय की भी कोई चिन्ता न की, परिचितो के द्वारा की गई निन्दा को भी अनसुना कर दिया---परन्तु अन्त मे मिला क्या ? क्या उपपति ने उसके प्रेम का मूल्य समझा ? सत्य है अपना-अपना है, और पराया सदा पराया ही --

रावरे नेह कौ लाज तजी अरु गेह के काज सबै बिसराए।
डारि दियौ गुरु लोगन कौ डरु गांव चबाई मैं नाम धराए।
हेत कियौ हम जो तो कहा तुम तो मतिराम सबै बिसराए।
कोऊ अनेक उपाय करौ, कहूं होत है आपने, पीव पराए।२९०।

दूसरों का ऋण

ललित-ललाम विशेष अध्ययन का फल नही जान पडता, कवि ने सस्कृत ग्रन्थ यदि पढे भी हो तो भी उनको सीधा आधार उसने नही बनाया, काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण, चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द की जितनी भी छाया मिलती है वह कवि के पक्ष मे नही जाती--केवल वातावरण का ही परिचय देती है। हा, मतिराम ने अपने से पूर्व के हिन्दी ग्रन्थ अवश्य देखे होगे। प्रसिद्ध लोगो मे केशव तथा जसवन्तसिह ही तो इनसे पहिले है। जसवन्तसिह का प्रभाव हम शैली मे मान सकते है, अलकारो की सख्या तथा क्रम के विषय मे ऊपर कहा जा चुका है यह भी हम दिखला चुके है कि शब्दावली भिन्न होने पर भी जसवतसिह से मतिराम ने लक्षण लिखना सीखा। केशव की छाया अन्य क्षेत्रो मे नही है परन्तु चित्र अलकार केशव की ही शब्दावली मे मतिराम ने लिखा है --

को कहिये सुरतात, को कामी हित 'सुरत-रसु'। (केशव)
सरद-चंद की चांदनी, को कहिए प्रतिकूल ?
सरद-चंद की चांदनी, कोक हिए प्रतिकूल॥ (मतिराम)

'को कहिए' का यह चमत्कार पद्माकर ने भी अपना लिया था --

को कहिए निसि मे दुखी ? कौन नौल तिय-बास ?

मल्याकन

ललित-ललाम अलकार विषय का वर्णन-प्रधान ग्रन्थ है। इसमे काव्य, अलकार या काव्य मे अलकार के स्थान विषय पर विचार नही किया गया। कवि की कोई अपनी मान्यता नही है। शब्दालकारो तथा १५ अन्य अलकारो को इस पुस्तक मे स्थान क्यो नही मिला, इसका कोई साम्प्रदायिक कारण नही है, इसे सयोग-मात्र कहकर ही काम चल सकता है। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि मतिराम को अलकार से विशेष स्नेह नही, वे तो इस बहाने अपने आश्रयदाता को रिझाना चाहते है।

इस पुस्तक के लक्षण दूसरो से प्रभावित होते हुए भी शिथिल है। लक्षण के लिए पूरे दोहे का प्रयोग हुआ है परन्तु अतिम दो चरण बिलकुल व्यर्थ है। मतिराम के उदाहरण अवश्य मनोहर है, उनमे एक प्रकार की सफाई मिलती है जिसका दूसरे कवियो मे अभाव है। यह नही कहा जा सकता कि इन उदाहरणो मे जितना कवित्व है उतना आचार्यत्व भी, क्योकि कुछ उदाहरण शिथिल तथा अनुपयुक्त है। मतिराम के उदाहरण भले ही अलकार का ठीक-ठीक रूप उपस्थित न करते हो, परन्तु उनको याद कर लेने को मन विवश हो जाता है।

भूषण : शिवराज-भूषण

(स० १७३०)

शिवराज भूषण (स १७३०)[1] मे कई विचित्रताए है, जिनमे से मुख्य है उदाहरणो मे वीर भाव के छन्दो को लिखना। यह ग्रन्थ भूषण कवि ने अपने आश्रयदाता तथा उस समय हिन्दू जाति के गौरव महाराज शिवाजी की प्रशसा मे ही लिखा था। आश्रयदाता 'शिवराज' तथा प्रशसक 'भूषण' दोनो के नामो के उचित सयोग से इस ग्रन्थ का नामकरण हुआ है। शिवराजभूषण मे ३८२ छन्द है—दोहे तथा कवित्त या सवैये। प्रारभ मे ३० छन्दो मे गणेश, भवानी तथा सूर्य की स्तुति के अनन्तर राजवश, राजवैभव, तथा कविवश का वर्णन करके प्रतिपाद्य विषय का क्रम चलता है।

सिद्धात

भूषण ने इस ग्रन्थ की रचना क्यो की, इस प्रश्न का उत्तर वे स्वय ही दे देते है कि शिवराज के चरित्र[2] ने उनको इस रचना की प्रेरणा दी अर्थात् इस ग्रथ का उद्देश्य अलकारो का सम्यक् निरूपण नही है प्रत्युत शिवाजी के चरित्र का सकीर्त्तन है। जब तक विश्व मे पचतत्व विद्यमान है तब तक (इस ग्रन्थ के सहारे) शिवाजी का यश प्रकाशित[3] रहेगा। इस ग्रन्थ मे किसी नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन नही है प्रत्युत कवियो मे जिस प्रकार की परम्परा चली आ रही थी उसी का अनुसरण करके भूषण ने इसकी रचना की है।[4]

शिवराजभूषण मे अर्थालकारो के अनन्तर शब्दालकार है, (चित्र अलकार भी है), सकर का विवेचन है, तब अन्त मे 'ग्रन्थालकार-नामावली' दी गई है। इस प्रकार कुल मिलाकर १०५ अलकारो का विवेचन है, उत्तम ग्रन्थो का अनुकरण तो किया ही है कही-कही अपने मत मे भी हिचकिचाहट नही दिखलाई[5]। १०५ की इस सख्या मे अलकारो के भेद भी गिना दिये है, यदि कवि की बात ही मान ले तो ९९ अर्थालकार है, ८ शब्दालकार तथा चित्र और सकर। 'ग्रन्थालकार-नामावली' इस पुस्तक का सबसे हीन भाग है, छन्द

(१) सुभ सत्रहसै तीस पर, बुध सुदि तेरसि मान।
भूषण सिव भूषण कियो, पढ़ियौ सुनौ सुजान। ३८०।

(२) सिव चरित्र लखि यो भयो, कवि भूषण के चित्त।
भांति भांति भूषननि सों, भूषित करौ कवित्त।२९।

(३) पुहुमि, पानि, रवि, ससि, पवन जब लौ रहैं अकास।
सिव सरजा तब लौ जियौ भूषन सुजस प्रकास।३८२।

(४) सुकविन हूं की कछु कृपा, समुझि कविन को पंथ।
भूषण भूषनमय करत, शिवभूषण सुभ ग्रन्थ।३०।

(५) युत चित्र संकर एक सत, भूषन कहे अरु पांच।
लखि चारु ग्रन्थन निज मतो युत सुकवि मानहुं सांच।३७९।

बनाने के लिए भर्ती के शब्दो का योग तथा नामो की तोड-मरोड बहुत खटकती है। 'उपमा-प्रतीप' तथा 'प्रतीप' दोनो की उपस्थिति[1] से दो अलग अलकारो का भ्रम होता है, 'विशेष' का नाम ३ बार आता है--विशेष, विशेषक, तथा सामान्य-विशेष। सूची मे 'अनुगुण' पहिले है तथा 'अतद्गुण' पीछे, परन्तु ग्रन्थ मे ऐसा नही है। सूची मे अनुप्रास अलकार लिखा है, परन्तु पुस्तक मे इसके दोनो भेद अलग-अलग माने गये है।

ग्रथ के प्रारभ मे भूषण लिखते है कि अलकारो मे उपमा को सबसे उत्तम देखकर सब लोग सर्वप्रथम इसी का वर्णन करते है[2]। सस्कृत के आचार्यो ने भी उपमा को सब अलकारो का शिरोरत्न[3] कहकर इसकी महत्ता स्वीकार की है, और प्राय सभी ने अर्थालकारो के आदि मे ही इसका विवेचन किया है। सभव है भूषण का भी आशय उपमा अलकार को सर्वोत्तम मानने से यही है कि उपमा सबसे पुराना अलकार है और अधिकतर अलकार इससे प्रभावित है, उपमा को अनेक अलकारो का मूल मानना कवि का अभीष्ट नही जान पडता।

स्वभावोक्ति अलकार के विषय मे भी आचार्यो ने काफी टीका-टिप्पणी की है, कुछ लोगो ने इसमे अलकारत्व नही भी माना, कुछ ने इसका नाम 'जाति' रखा है। भूषण ने इसके दोनो नाम दिये है--स्वभावोक्ति तथा जाति, परन्तु किसी सिद्धान्त के प्रति झुकाव नही दिखलाई पडता।

मतिराम का ऋण

यदि ललित-ललाम तथा शिवराजभूषण का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो कम से कम एक-चौथाई अलकारो के लक्षण एक ही शब्दावली मे मिलते है। कुछ लक्षण तो भूषण ने अपने भाई मतिराम से ज्यो के त्यो ही ले लिये है। नीचे कुछ ऐसे लक्षण देखिए जिनकी शब्दावली का स्वरूप तथा क्रम उधार लिया हुआ ही नही चुराया हुआ भी है --

(क) जाको बरनन कीजिए, सो उपमेय प्रमान।
जाकी समता दीजिए, ताहि कहत उपमान ॥(मतिराम)
जाको बरनन कीजिए, सो उपमेय प्रमान।
जाकी सरवरि कीजिए, ताहि कहत उपमान ॥ (भूषण)

(ख) जहां एक उपमेय कौ, होत बहुत उपमान।
तहां कहत मालोपमा, कवि मतिराम सुजान ॥(मतिराम)
जहां एक उपमेय के, होत बहुत उपमान।
ताहि कहत मालोपमा, भूषण सुकवि सुजान ॥ (भूषण)

(ग) जहां और संका भए, करत झूठ भ्रम दूरि।
भ्रान्तापह्नुति कहत है, तहां सुकवि मति भूरि ॥ (मतिराम)

(१) उपमा अनन्वै कहि बहुरि, उपमा-प्रतीप प्रतीप ।३७१।

(२) भूषण सब भषननि मे, उपमहि उत्तम चाहि।
याते उपमहि आदि दै, बरनत सकल निबाहि ।३१।

(३) अलंकार-शिरोरत्नं, सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥ (राजशेखर)

संक और को होत ही, जहं भ्रम कीजत दूरि ।
भ्रान्तापह्नुति कहत हैं, तहं भूषन कवि भूरि ।। (भूषण)

(घ) जहां और की संक ते, सांच छपावत बात ।
छेकापह्नुति कहत हैं, तहां बुद्धि अवदात ।। (मतिराम)

जहां और को संक करि, सांच छपावत बात ।
छेकापह्नुति कहत हैं, भूषन कवि अवदात ।। (भूषण)

(ङ) सदृश वाक्य जुग अर्थ को, जहां एक आरोप ।
बरनत तहां निदर्शना, कविजन मति अति चोप ।। (मतिराम)

सदृश वाक्य जुग अर्थ को, करिए एक अरोप ।
भूषन ताहि निदर्सना, कहत बुद्धि दै ओप ।। (भूषण)

(च) जो यौं होय तु होय यौं, जहं संभावन होय ।
संभावन तासौं कहत, विमल ज्ञान मति धोय ।। (मतिराम)

जु यौं होय तो होय इमि, जहं संभावन होय ।
ताहि कहत संभावना, कवि भूषन सब कोय ।। (भूषण)

(छ) औरं के गुन-दोष तें, औरं को गुन-दोष ।
बरनत यौं उल्लास हैं, जे पंडित मति कोष ।। (मतिराम)

एकहि के गुन दोष तें, औरं को गुन दोस ।
बरनत हैं उल्लास सो, सकल सुकवि मति पोस ।। (भूषण)

(ज) जहां आपनौ रंग तजि, लेत और को रंग ।
तद्गुन तहं बरनन करत, जे कवि बुद्धि उतंग (मतिराम)

जहां आपने रंग तजि, गहै और को रंग ।
ताको तद्गुन कहत हैं, भूषन बुद्धि उतग ।। (भूषण)

उपर्युक्त लक्षणो मे यदि कोई परिवर्तन है तो यही कि मतिराम के दोहो मे उनके नाम का वाचक 'मति' शब्द आता है, परन्तु उसके स्थान पर भूषण ने अपना नाम कर दिया है, या कही-कही व्याकरण का कुछ हेर-फेर है । अक्रमातिशयोक्ति, दीपक, व्याजस्तुति, द्वितीय असगति, सम, अधिक, तथा भाविक के लक्षणो मे भी दोनो कवियो मे बहुत थोडा ही अन्तर है । लक्षणो मे प्रभाव का तो फिर कहना ही क्या है ?

नकल करने पर भी भूषण मे वह सफाई नही है जो मतिराम मे है, कारण बहुत से हो सकते है, जिनमे से मुख्य भूषण के काव्य का अक्खडपन है । उल्लेख अलकार के लक्षण मे उल्लेख शब्द तीन बार आकर अरुचिकर बन जाता है --

कै बहुतं, कै एक जहें एक वस्तु को देखि ।
बहु विधि करि उल्लेख हैं, सो उल्लेख उलेख ।।

इसी प्रकार 'भूषण' शब्द का अतिप्रयोग भी पाठक के मन को विचलित कर देता है-- कही यह कवि का नाम है, कही अलकार का, और कही केवल भरती का ।

जयदेव का ऋण

सस्कृत ग्रथो मे से भूषण पर सबसे अधिक प्रभाव जयदेव के चन्द्रालोक का है। भूषण ने कुछ ऐसे अलंकार लिखे है जो चन्द्रालोक मे तो है परन्तु दूसरे समसामयिक ग्रन्थो मे नही है; जैसे प्रतीपोपमा, ललितोपमा, भाविकछवि। प्रतीपोपमा तथा प्रतीप चन्द्रालोक मे अलग-अलग माने गये है, परन्तु हिन्दी के लेखको ने कुवलयानन्द की बात मानकर प्रतीपोपमा को उडा दिया और प्रतीप के कई भेद कर दिये। भूषण ने वर्णन तो इस प्रकार किया है मानो कुवलयानन्द के अनुकूल हो परन्तु नाम प्रतीपोपमा भी दे दिया है[1] (और सूची मे प्रतीप तथा प्रतीपोपमा दो नाम अलग-अलग[2] है), जिसका लक्षण चन्द्रालोक से ही अनूदित है'--

जहं प्रसिद्ध उपमान को, करि बरनत उपमेय।
विख्यातस्योपमानस्य यत्र स्यादुपमेयता॥

ललितोपमा भी चन्द्रालोक का है; भूषण ने लक्षण मे जयदेव का अनुवाद ही दे दिया है.--

जहं समता को दुहुन की, लीलादिक पद होत।
ताहि कहत ललितोपमा, सकल कविन के गोत॥
उपमाने तु लीलादिपदाढ्ये ललितोपमा।

भूषण और भी आगे बढे और 'लीलादिक' पद की व्याख्या भी कर दी--यह बतला दिया कि कौन-कौन से पद 'लीलादिक' के अन्तर्गत रखे जा सकते है --

बहसत, निदरत, हंसत जहं, छवि अनुहरत बखानि।
सत्रु मित्र इमि औरऊ, लीलादिक पद जानि॥५८॥

भाविक अलकार तो सबने लिखा था परन्तु भाविकछवि केवल चन्द्रालोक मे ही मिलता है। भूषण ने अपने लक्षण को जयदेव से अनुवाद करके लिखा है[3], परन्तु उदाहरण मे भेद है--जयदेव ने दूर स्थित नायिका के हृदय मे नायक का निवास बतलाया है, भूषण ने शिवाजी के दूरस्थित सैनिको की सूरत को सूरतनगर मे दिखला दिया है।[4]

अनुमान अलकार जयदेव ने वहा माना है जहा कार्य से कारण का अनुमान किया जावे, भूषण ने यह दो प्रकार का बतलाया है--एक, जहा कार्य से कारण का ज्ञान हो, दो जहा कारण से कार्य का ज्ञान हो। प्रथम भेद का उदाहरण जयदेव के उदाहरण से प्रोत्साहित है.--

(१) **तहं प्रतीप उपमा कहत, भूषन कविता प्रेय।४१।**
(२) **उपमा अनन्वे कहि बहुरि, उपमा प्रतीप प्रतीप।३७१।**
(३) **जहं दूरस्थित वस्तु को, देखत बरनत कोय॥**
देशात्मविप्रकृष्टस्य दर्शनं भाविकच्छविः॥
(४) **त्वं वसन् हृदये तस्याः साक्षात् पंचेषुरीक्ष्यसे।**
रातहु द्यौस दिलीस तकै तुव सैनिक सूरति सूरति घेरी॥

अस्ति किंचिद्, यद् अनया मां विलोक्य स्मितं मनाक् ।३६।
चित्त अनचैन, आंसू उमगत नैन देखि,
बीबी कहें बैन मियां कहियत काहे नै ।
सिवाजी की सक मानि गए हौ सुखाय तुम्हें
जानियत दक्खिन को सूवा करो साहि नै ।।३५०।।

विरोध तथा विरोधाभास भी भूषण ने जयदेव के अनुसार ही दो अलग अलकार माने है, लक्षणो मे ज्यो-का-त्यो अनुवाद है ——

(क) विरोधोऽनुपपत्तिश्चेद् गुणद्रव्यक्रियादिषु ।।
द्रव्य क्रिया गुन में जहां, उपजत काज विरोध ।।
(ख) श्लेषादिभू-विरोधश्चेद् विरोधाभासता मता ।।
जहं विरोध सो जानिये, सांच विरोध न होय ।।[1]

जयदेव ने कारणमाला अलकार के प्रसग मे गुंम्फ शब्द का प्रयोग किया था, फल-स्वरूप कुछ कवियो ने गुम्फ ही इस अलकार का नाम मान लिया, भूषण ने भी इसको गुम्फ ही कहा है ।

शिवराजभूषण के बहुत-से लक्षण भी चन्द्रालोक के लक्षणो से अनुदित है । निम्न-लिखित अलकारो से इस मत की पुष्टि होगी ——

(क) उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः ।।
जहां दुहुन की देखिए, सोभा बनति समान ।।
(ख) सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरंजनः ।।
वस्तुन को भाषत जहां, जनरंजन सहभाव ।।
(ग) विचित्रं चेत् प्रयत्नः स्याद् विपरीतफलप्रदः ।।
जहा करत है जतन, फल चित्त चाहि विपरीत ।।
(घ) प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः ।।
जहं जोरावर सत्रु के, पक्षी पै कर जोर ।।
(ङ) परिणामोऽनयोर्यस्मिन्नभेदः पर्यवस्यति ।।
जहं अभेद कर दुहुन सों, करत और स्वे काम ।।
(च) वाक्ययोरर्थसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ।।
वाक्यन को जुग होत जहं, एकै अरथ समान ।।
(छ) वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना ।।
सदृश वाक्य जुग अर्थ को, करिए एक अरोप ।।

इस प्रकार के दूसरे लक्षणो मे अनुवाद भी है, परन्तु हमने केवल वे प्रसग लिये है जिनमे इतना अधिक अनुकरण है कि छायामात्र कहकर भी सन्तोष नही किया जा सकता ।

(१) भूषण का लक्षण अधूरा है, इसमें आभास के आधार पर विचार ही नहीं किया गया, परन्तु उदाहरण श्लेष पर ही आश्रित है ।

शब्दालकार, चित्र तथा सकर

भूषण ने शब्दालंकारो का भी विवेचन किया है, अर्थालकारो के अनन्तर उन्होने शब्दालकारो का नया प्रसग उठाया है[1]। अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र का वर्णन है। अनुप्रास के दो भेद छेक तथा लाट है, छेकानुप्रास के ८ उदाहरण है, और लाटानुप्रास का केवल एक--उपभेदो की चर्चा नही है, छेक के भीतर ही वृत्त्यनुप्रास भी समा गया है। लक्षण उपयुक्त नही है। यमक का लक्षण है--**"भिन्न अरथ फिरि-फिरि जहां, ओई अच्छर वृन्द"**, परन्तु उदाहरण मे ज्ञात होता है कि अर्थहीन पदो की आवृत्ति मे भी भूषण यमक अलकार मानते थे। पुनरुक्तवदाभास को भूषण ने यो ही चलता कर दिया है। ध्यान रखना होगा कि कुवलयानन्द मे शब्दालकार नही है, चन्द्रालोक मे कुछ का वर्णन है परन्तु पुनरुक्तिवदाभास वहा भी नही है। काव्यप्रकाशकार ने इसको श द का भी माना है तथा शब्दार्थ उभय का भी, साहित्यदर्पण मे इसको इतना महत्व मिला कि इसका विवेचन सबसे पहिले किया गया। भूषण का लक्षण साहित्यदर्पण से ही प्रभावित जान पडता है --

भासति है पुनरुक्ति सी, नहिं निदान पुनरुक्ति ।३६५।
आपाततो यदर्थस्य, पौनरुक्त्यन्यावभासनम् ।१०।२।

भूषण के प्रथम चरण तथा विश्वनाथ के द्वितीय चरणमे साम्य देखिए --
"भासति है पुनरुक्ति-सी", और **"पौनरुक्त्यावभासनम्"**।

चित्र का लक्षण नही दिया, और केवल एक भेद कामधेनु का नाम लेकर अन्य का सकेत भर कर दिया है। भूषण ने कामधेनु भेद को ही क्यो मुख्य माना, यह कहना कठिन है, प्राय कवियो ने पद्मबन्ध, खड्गबन्ध आदि को मुख्य स्थान दिया है।

अपनी श्रेणी के दूसरे कवियो के समान भूषण भी सकर का यथार्थ स्वरूप न समझते थे, **"भूषण एक कवित्त मे भूषण होत अनेक"** द्वारा तो लक्षण दिया गया है और सकर और ससृष्टि का भेद नही बतलाया गया। उदाहरणो मे अलकार तिलतन्दुलन्याय से मिले हुए है, नीरक्षीर-न्याय से नही, इसलिए भूषण के उदाहरण सकर के न होकर ससृष्टि के है।

अर्थालकार

शिवराजभूषण मे अर्थालकार ही मुख्य है, परन्तु ग्रन्थ का आकार बडा होते हुए भी विवेच्यमान अलकारो की सख्या अधिक नही है। समसामयिक ग्रन्थो की अपेक्षा इसमे युक्ति, प्रतिषेध, मुद्रा, विधि, अल्प, ललित, प्रस्तुताकुर, सार, कारकदीपक, विकस्वर, सूक्ष्म, रत्नावली, गूढोत्तर, गूढोक्ति तथा विवृतोक्ति--ये १५ अलकार कम है। जान पडता है कि भूषण ने कुवलयानन्द को नही देखा, अन्यथा प्रस्तुताकुर जैसे अलकार को वे न भूलते। भूषण की सूची का मेल चन्द्रालोक से ही अधिक है, परन्तु जो सार तथा विकस्वर चन्द्रालोक मे है, वे यहा न आ सके। अल्प, कारकदीपक, गूढोक्ति, प्रस्तुताकुर, प्रतिषेध, मुद्रा, युक्ति,

(१) **अब शब्दालंकार ये, कहियत मति अनुसार ।३५२।**

रत्नावली, ललित, विधि तथा विवृतोक्ति--ये ११ अलकार ऐसे है जो न चन्द्रालोक मे है न शिवराजभूषण मे, परन्तु कुवलयानन्द के प्रभाव से हिन्दी के अन्य ग्रन्थो मे इनको स्थान मिला है।

अप्रस्तुतप्रशसा तथा अतिशयोक्ति के पूरे भेद भूषण ने नही लिखे। यह भी चन्द्रालोक का ही प्रभाव होगा। जयदेव ने अप्रस्तुतप्रशसा का जो लक्षण दिया था, भूषण ने उसका अनुवाद मात्र कर दिया है (जो सदोष है), और उदाहरणो मे केवल कार्यकारण निबन्धना का वर्णन कर दिया है, चन्द्रालोककार के अभिप्राय को समझने का यहा प्रयत्न नही है। सम्बन्धातिशयोक्ति तथा असम्बन्धातिशयोक्ति को न लिखना किसी सिद्धान्त का प्रतिपादक नही माना जा सकता।

ध्यान दो और अर्थालकारो पर जाता है--मालोपमा तथा सामान्यविशेष। मालोपमा तो मतिराम से ही गई होगी, आश्चर्य यह है कि रसनोपमा भी क्यो न ले ली--शायद जयदेव का प्रभाव हो। सामान्यविशेष ही एकमात्र नया अलकार लगता है, परन्तु लक्षण तथा उदाहरण से जान पडता है कि यह अप्रस्तुतप्रशसा का ही एक भेद, 'विशेष-निबन्धना' कहा जा सकता है --

कहिबे जहं सामान्य है, कहे जु तहां विशेष। (मतिराम)
सामान्यं वा विशेषतः। (साहित्यदर्पणः)

यद्यपि लक्षण स्पष्ट नही है फिर भी इस लक्षण का अर्थ यह होगा कि जहा सामान्य के अभिप्राय से विशेष का कथन किया जाय--रघुवशियो का वर्णन करते हुए कहा जाय कि राम ने अमुक-अमुक महान् कार्य किये, रघुवशी सामान्य है तथा राम विशेष। यदि इस अलकार का यही लक्षण है तो यह कार्य लक्षणा शब्दशक्ति से भी हो सकता है इसलिए यह अलकार व्यर्थ है। उदाहरण से कुछ भी स्पष्ट नही होता।

अलकारो के उदाहरण

यदि लक्षणो पर विचार न करे तो भूषण का कवित्व प्रशसनीय है, जितने मधुर उदाहरण मतिराम ने बनाये थे उतने ही अथवा उनसे भी अधिक ओजस्वी उदाहरण भूषण के है। यदि उदाहरणो की उपयुक्तता पर विचार करेंगे तो निराशा ही होगी। भूषण का वह कवित्त जो मालोपमा का उदाहरण है और जिसके कारण भूषण भूषण बने थे उसका भी अन्तिम चरण सदोष है, क्योकि 'तेज तम अस पर'[1] कहने से यह अर्थ है कि 'तेज तम के एक अश पर ही विजयी है' और यह कथन शिवाजी का प्रशसक न रहकर म्लेच्छवश का प्रशसक हो जावेगा। इसी प्रकार उपमा के उदाहरण मे औरगजेब की हीनता प्रदर्शित करते हुए भी भूषण उसको कृष्ण की उपमा दे गये है ----

मिलतहिं कुरुख चकत्ता को निरखि कीन्हों
सरजा, सुरेस ज्यों दुचित ब्रजराज को ॥३४॥

भ्रम अलकार का भूषण ने लक्षण लिखा है कि अन्य बात मे अन्य बात का भ्रम ही

(१) **तेज-तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर, त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज है।**

भ्रम अलकार है। वे यह कहना भूल गये कि यह अलकार सादृश्यमूलक है अत भ्रम का आधार रूप-सौन्दर्य है और उपमेय-उपमान भाव पर इसकी स्थिति निर्भर है। उदाहरण मे शत्रु-स्त्रिया दूसरे नवाबो की दुर्गति की बात सुनकार अपने पति की सुरक्षा मे भ्रम करने लगती है (छद सख्या ७७)।

प्रत्यनीक अलकार का लक्षण है प्रबल शत्रु पर बस न चलने के कारण उसके पक्षवालो पर अत्याचार करना। भूषण का प्रथम उदाहरण उपयुक्त है, उसमे शिवाजी का कुछ बिगाड़ने मे असमर्थ आलमगीर अपने राज्य के हिन्दुओ को तग करता है। परन्तु दूसरे उदाहरण (छन्द २५९) मे शिवाजी की कुछ हिन्दू राजाओ पर विजय का वर्णन है। यदि यह मान लिया जाय कि यहा प्रत्यनीक अलकार का आधार है औरगजेब से न लडकर उसके सहायक हिन्दू राजाओ पर शिवाजी का आक्रमण, तो भी इसमे आश्रयदाता शिवाजी की प्रशसा नही प्रत्युत निन्दा होती है और वास्तविक चढाई आदि के वर्णन से अपेक्षित चमत्कार की क्षति होती है क्योकि प्रत्यनीक मे वास्तविक युद्ध न होकर चमत्कारपूर्ण आक्रमण का कथन होता है।

शिवराजभूषण के कुछ उदाहरण निश्चय ही सुन्दर है, उनमे रस की विशेषता के साथ-साथ विषय का स्पष्टीकरण भी है --

(क) परिसख्या--शिवाजी की सफल प्रशसा भी है --

कप कदली मैं, वारि-बुंद बदली मैं, सिवराव अदली के राज मैं यों राजनीति है।

(ख) विषम अलकार के सम्बन्ध मे कोपाग्नि से सुरक्षा का साधन है मुख मे तिनका दबाना .--

साहि-तनै तव कोप-कृसानु तें बैरि गये सब पानिप वारे।
एक अचंभव होत बड़ो तिन ओठ गहे अरि जात न जारे ॥१८२॥

(ग) सहोक्ति--

नैनन तें नीर धीर छूटयो एक संग, छूटचो
सुख-रुचि मुख-रुचि त्यों ही बिन रंग ही।

(घ) रूपाकातिशयोक्ति--

कनक-लतानि इंदु, इंदु माहि अरविद, झरै अरविंदन तें बुंद मकरंद के।
(कनकलता=कामिनी, इन्दु=मुख, अरविन्द=नेत्र, मकरद=अश्रुबिन्दु)

(ङ) उपमा--

ग्रीषम के भानु सो खुमान को प्रताप देखि तारे सम तारे गये मूंदि तुरकन के॥

(च) काव्यार्थपत्ति--शिवाजी ने अपने पराक्रम से दिल्ली को तहस-नहस कर दिया तो यवनो की बेगमे उनको समझाती है कि शिवाजी से वैर मत करो। उसने दिल्ली तक को मसल दिया है तुम उसके सामने क्या चीज हो --

सयन मैं साहन की सुंदरी सिखावै ऐसे,
सरजा सौ बैर जनि करौ महाबली है।

जाहि देत दंड सब डरिकै अखंड सोई
दिल्ली दलमली तौ तिहारी कहा चली है ॥

(छ) चचलातिशयोक्ति--शिवाजी के आतक का वर्णन --

'आयो, आयो' सुनत ही, सिव सरजा तुव नांव ।
वैरि-नारि दृग-जलन सौं, बूड़ि जाति अरि-गांव ॥

(ज) अपन्हुति--शिवाजी के आतक से भयभीत शत्रु-नारिया वर्षा को भी शिवा की सेना समझ लेती ह --

चमकती चपला न, फेरत फिरंगै भट,
इन्द्र को न चाप, रूप बैरख समाज को ।
धाए धुरवा न, छाए धूरि के पटल, मेघ
गाजिबो न बाजिबो है दुन्दुभि दराज को ।
भौंसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहैं
पिय भजौ, देखि उदौ पावस के साज को ।
घन की घटा न, गज-घटनि सनाह साज,
भूषन भनत आयो सेन सिवराज को ॥

मूल्याकन

वीर रस से ओतप्रोत कवि भूषण जिस उद्देश्य से शिवराजभूषण लिखने बैठे थे निश्चय ही उसमे उनको सफलता मिली है--इस पुस्तक मे शिवाजी का यश सर्वत्र फूटा पडता है। भूषण कवि थे आचार्य नही, और कवि होकर वे कलियुगी राजाओ के विलासी गुणो से सतुष्ट न रह सकते थे इसलिए वाणी को उस स्त्रैण वातावरण से निकालने मे ही उनका गौरव[1] है, उसको सजाकर लम्पट वातावरण मे नचाना उनको न सुहाया, उनकी सरस्वती आभूषणो के प्रति जागरूक नही है और यद्यपि वह सामयिक उपहारो की अवहेलना नही कर पाई फिर भी उनसे अपने शरीर को सजाने की कला उसमे न मिलेगी। भूषण के लक्षण निर्दोष नही है, और उनके कुछ ही उदाहरण उपयुक्त है। "वास्तव मे भूषण अलकारो के भारी आचार्य न होकर काव्योत्कर्ष मे महान है, आचार्यत्व मे मतिराम की विशेषता है।"[2]

---

(१) **भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन पाय नसानी ।**
पुन्य चरित्र सिवा सरजा-सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥
(२) **भूषण-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ४४**

कुलपति मिश्र : रस-रहस्य

(स० १७२७)

जयपुराधीश महाराज रामसिंह के आश्रय मे "रस–रहस्य" नामक ग्रथ की रचना स. १७२७ मे [1] आगरानिवासी[2] प कुलपति मिश्र ने की । रस-रहस्य मे मगलाचरण के अनन्तर राजवर्णन, सभावर्णन, काव्यवर्णन, काव्यप्रयोजन, काव्य के कारण तथा भेद आदि है । फिर रसलक्षण है, जिसमे लेखक ने अभिनवगुप्ताचार्य के मत का नामपूर्वक उल्लेख किया है । अन्त मे दोष, गुण तथा अलकार का निरूपण है । इस प्रकार 'रस-रहस्य' काव्यशास्त्र का पूर्ण ग्रथ बन जाता है, अवश्य ही इसमे साहित्य-दर्पण के समान दृश्य काव्य की विस्तृत विवेचना नही की गई ।

रस-रहस्य तथा काव्य-प्रकाश

ग्रथ के अन्त मे उपसहार करते हुए कुलपति मिश्र ने कहा है कि मम्मट ने कविता के जितने साजो [3] का वर्णन किया है उन सब का कथन इस ग्रथ मे भाषा के माध्यम से किया गया है । इस कथन मे 'साज' शब्द के दो अर्थ हो सकते है––(क) अलकार, (ख) अग । कुलपति का अभिप्राय यह हो सकता है कि इस ग्रथ मे अलकार-निरूपण उन्होने मम्मट के काव्य-प्रकाश के आधार पर किया है , अलकारो की सख्या तथा क्रम आदि की दृष्टि से यह कथन ठीक भी जान पडता है । ओर कुलपति का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि उनके ग्रथ मे काव्यप्रकाश के आधार पर काव्यागो का निरूपण है, यह कथन भी सत्य से दूर नही है––काव्यप्रकाश के ही अनुसार रसरहस्य मे काव्य के 'प्रयोजन-कारण-स्वरूप' के द्वारा ही विषय का प्रारम्भ होता है और अर्थालकारो के साथ ग्रथ की परिसमाप्ति हो जाती है ।

उपर्युक्त कथन को पहिले अर्थ[4] मे लेना अधिक उचित है । क्योकि अलकार-विषय को दृष्टि मे रखकर दोनो आचार्यो मे अधिक भेद नही जान पडता । दूसरे अर्थ मे भेद भी है । काव्यप्रकाश दस उल्लासो का ग्रथ है, रस-रहस्य केवल ८ वृत्तातो का, काव्य-प्रकाश मे शब्दालकार के लिए नवम उल्लास अलग लिखा गया है, रस-रहस्य मे नही, काव्यप्रकाश मे अलकार दोष भी दिये हुए है, रस-रहस्य मे नही , काव्यप्रकाश के प्रथम ६

(१) **संवत् सत्रह सौ बरस, अरु बीते सत्ताईस ।**
कातिक वदि एकादशी, बार वरनि बानीस ।।

(२) **बसत आगरे आगरे, गुनियन की जहं रास ।।**

(३) **जिते साज है कवित के, मम्मट कहे बखानि ।**
ते सब भाषा मे कहे, रस-रहस्य ने आनि ।।

(४) **साज (= अलंकार) का अन्यत्र भी प्रसंग है:––**
प्रथम शब्द यातै कहै, प्रथम शब्द के साज ।।

उल्लासों की सामग्री को रस-रहस्य के केवल ५ वृत्तांतों में रख दिया गया है। काव्य-प्रकाश का अनुकरण रस-रहस्य में मिलता अवश्य है, परन्तु यह उसका अनुवाद नहीं है, और न मम्मट की हर एक बात को कुलपति ने ज्यों-का-त्यों मान ही लिया है।

कुलपति के काव्यसिद्धान्त

पुस्तक के नाम से जान पड़ता है कि कुलपति ने रस-रहस्य की रचना रस-विवेचन के उद्देश्य से की होगी, परन्तु सत्य यह नहीं है—'रस-रहस्य' में रस-विवेचन मात्र के स्थान पर काव्यशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन है। और क्योंकि उन काव्यांगों में मुख्य या आधार-भूत रस ही है, इसलिए प्राधान्य की दृष्टि से रखकर इस पुस्तक का नाम 'रस-रहस्य' रख दिया गया है। कहने का अभिप्राय यह कि कुलपति मिश्र काव्य में रस को ही मुख्य स्थान देते हैं—वे रस-सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इस निष्कर्ष का समर्थन इस बात से भी होता है कि कुलपति ने मम्मट के काव्यप्रकाश को अनुकरणीय समझा है। साथ ही ध्यान रखना होगा कि रस को काव्य में मुख्यता देकर उसका निरूपण पहिले है और अलंकार का सबसे अन्त में केवल एक अध्याय में, और सभी अंगों का विवेचन करने के उपरान्त सबसे अन्त में, मानो उपेक्षा की भावना से, कुलपति ने लिखा है कि अब अलंकार—विषय शेष है उसका विवेचन भी सुन लीजिए——

अब अवसर सुनिये बहुत अलंकार सिरमौर।.[1]

ध्यान दो शब्दों पर जाता है, 'बहुत', 'सिरमौर'। 'अलंकार सिरमौर' यदि एक समस्त पद बन जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि "अलंकारवादियों द्वारा स्वीकृत अनेक अलंकारों में से केवल मुख्य-मुख्य अलंकारों का विवेचन सुनिए"——मम्मट के आधार पर कुलपति ने केवल अत्यावश्यक अलंकारों का ही विवेचन किया है। 'बहुत' शब्द वाक्यालंकार में भी प्रयुक्त हो सकता है, 'अलंकार-सिरमौर' का विशेषण भी हो सकता है, और पूरे पद "बहुत अलंकार सिरमौर" का यह अर्थ भी लेना असंगत नहीं कि "बहुत से अलंकारों में से सिरमौर अलंकारों का विवेचन"। अस्तु, सभी दृष्टियों से कुलपति रसवादी ठहरते हैं।

शब्दालंकार विषय का विवेचन करते हुए कुलपति ने लिखा है——

जमक, चित्र, अरु श्लेष मे, रस को नाहि हुलास।
याते याके स्वल्प ही, बरने भेद प्रकाश ॥४४॥

विवेच्यमान ६ शब्दालंकारों में से वक्रोक्ति, अनुप्रास, तथा पुनरुक्तवदाभास में तो आचार्य ने मौन द्वारा रसत्व को स्वीकार किया है परन्तु यमक, चित्र तथा श्लेष में रस का हुलास भी नहीं माना। प्रश्न यह है कि अलंकारों में रस की गंध (हुलास) से क्या अभिप्राय है। काव्य में, रसवादी दृष्टिकोण से, अलंकार की स्थिति तो 'अस्थिरा' है, जो काव्य है उसमें उसका प्राण रस तो होगा ही, अलंकार नहीं भी हो सकता——अलंकार

(१) **तुलना कीजिए :——**
गुणविवेचने कृतेऽलङ्काराः प्राप्तावसरा इति सम्प्रति . (काव्यप्रकाश)
अथावसरप्राप्तानलङ्कारानाह। (साहित्यदर्पण)

काव्याग होते हुए भी काव्य का आवश्यक अग नही है। ऐसा काव्य या काव्याभास भी हो सकता है जिसमे अलकार तो हो परन्तु रस का गध भी न हो। अर्थालकार तथा शब्दालकार मे से शब्दालकार मे रसहीनता का अधिक भय है क्योकि शब्द का चमत्कार बिलकुल बाहरी है। शब्दालकार मे भी वक्रोक्ति तथा पुनरुक्तवदाभास तो उक्ति पर निर्भर है, अनुप्रास गुण का सहायक होकर रस का स्थिर सहायक बन सकता है, परन्तु शेष तीन अलकारो का उपयोग रस, व्यग्य तथा उक्ति के लिए नही हो पाता। चित्र को कष्टकाव्य[1] कहकर मम्मट ने भी इसका सक्षिप्त ही वर्णन किया था, यमक का महत्त्व धीरे-धीरे कम होता गया है और 'प्राच्य' आचार्य जहा इसमे पूरा अध्याय लगा देते थे वहा नव्य रसवादी आचार्य इसका दिङ्मात्र ही परिचय दिया करते है, श्लेष मे यहा कुलपति का अभिप्राय 'शब्दश्लेष' का ही है अर्थश्लेष का नही--अर्थश्लेष मे रस का निषेध उन्होने नही किया। रसवादी आचार्य अलकार को इस दृष्टि से भी देखते थे कि वह रसप्रकर्षक है या नही,और यदि वह रसप्रकर्षक न होता था तो उसको प्रोत्साहन न देते थे, कविराज विश्वनाथ ने प्रहेलिका का इसी आधार पर खडन किया था--

रसस्य परिपन्थित्वात् नालङ्कारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा .....॥

[प्रहेलिका अलकार (रस प्रकर्षक) नही है, क्योकि यह रस का बाधक है, इसमे उक्ति की विचित्रता ही रहती है (रस का लेश नही)।]

कुलपति की अलकार-विषयक मान्यताए तीन है--(१) अलकार रसोत्कर्ष का विधायक होना चाहिए, (२) अलकार कथन की प्रणाली (उक्ति-भेद) का ही नाम है, (३) उपमा अलकार की शिरोमणि (सिर-मोर) है। पहिली मान्यता का प्रत्यक्ष कथन नही मिलता, परन्तु, जैसा कि ऊपर स्पष्ट हो चुका है, कुलपति के मत मे कुछ अलकारो मे रस का सपर्क रहता है कुछ मे नही, जिनमे रस की गध नही पाई जाती उन यमक, चित्र तथा अल्प शब्दालकारो का उन्होने स्वल्प ही वर्णन किया है। दूसरी मान्यता का सकेत वक्रोक्ति अलकार के प्रसग मे इस दोहे मे मिलता है --

उक्ति-भेद ते होत है, अलंकार यह जानि।
वक्र उक्ति याते कही, द्वै विधि प्रथम बखानि॥

उक्ति के सबध मे यह कथन किसी भी अर्थ मे कवि की अपनी सृज नही है। काव्य-मात्र का शास्त्र तथा इतिहास से व्यवच्छेदक धर्म उक्ति ही है--शास्त्र मे शब्द प्रधान होता है, इतिहास मे अर्थ प्रधान, परन्तु काव्य मे उक्ति की ही विशेषता होती है,[2] राजशेखर ने इसीलिए उक्ति-विशेष को ही काव्य[3] कहा है। उक्ति दो प्रकार की हो

---

(१) **सन्निवेशविशेषेण यत्र न्यस्ता वर्णाः.....तच्चित्रं काव्यम्। कष्टं काव्यमेतदिति दिङ्मात्रं प्रदर्श्यते। (काव्यप्रकाश)**

(२) **तेषु उक्तिप्रधानं काव्यम्। .... शब्दप्रधानं शास्त्रम्। अर्थप्रधानं इतिहास :।**

(३) **उक्ति विशेषः काव्यम्।** (भोज)

सकती है—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति[1]। जो लोग स्वभावोक्ति को अलंकार नहीं मानते उनके मत में स्वभावोक्ति में काव्यत्व भी नहीं है, अर्थात् 'काव्य' और 'अलंकार' एक ही अर्थ में व्यवहृत हुए। भोज ने 'अलंकार' तथा 'उक्ति' का समान अर्थ में प्रयोग किया है[2]—**'त्रिविधः खल्वलंकारवर्गः वक्रोक्तिः, स्वभावोक्तिः, रसोक्तिरिति।'** कुलपति ने उक्ति को अलंकार का समानार्थक माना और उक्ति का प्राण वक्रता को, इसीलिए 'वक्रोक्ति' का विवेचन सर्वप्रथम है। भामह ने 'वक्रोक्ति' को 'अलंकार' का समानार्थक बना दिया था, परन्तु आगे चलकर 'वक्रोक्ति' के दो अर्थ हो गये—अलंकारमात्र, तथा अलंकारविशेष, कुलपति ने उस रहस्य को नहीं समझा और व्यापक अर्थ में लेकर **'वक्रोक्ति'** का प्रसंग चलाया, परन्तु उसकी व्याख्या संकीर्णतम (शब्दालंकारमात्र) अर्थ में की। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके मत में अलंकार का अस्तित्व तो उक्ति के कारण है परन्तु महत्त्व रस पर निर्भर है—यह भी संभव है कि 'रस' तथा 'उक्ति' को ये एक ही चमत्कार-मात्र अर्थ में समझते रहे हों।

उपमा अलंकार की 'गिर-मौर' है, यह कथन राजशेखर का अनुवाद-सा जान पड़ता है—'शिरोरत्न'[3] के स्थान पर 'सिरमौर' का व्यवहार। 'उपमा' से अभिप्राय उपमामूलक (साम्यमूलक) समस्त अलंकारों का भी है, और उपमा अलंकार का भी। अलंकारों में उपमामूलक अलंकार मुख्य है, और उपमामूलक अलंकारों के आधार उपमान तथा उपमेय हैं—इसलिए उपमान तथा उपमेय अलंकारों के प्राण हुए।[4] उपमा अलंकार अखिल अलंकारों का प्राण या आधार नहीं है, वह तो केवल शिरोमणि है—

सो उपमा सिरमौर।

शब्दालंकार

काव्य के लक्षण में 'शब्द' प्रथम[5] है, 'अर्थ' तदनन्तर, अतएव शब्दालंकार का विवेचन भी प्रथम किया गया है—

प्रथम शब्द, यातें कहें प्रथम शब्द के साज।

मम्मट ने शब्दालंकार के प्रथम विवेचन का कारण नहीं बतलाया, परन्तु नागे-

(१) **भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिः वक्रोक्तिश्च वाङ्मयम्। (दण्डी)**

(२) **ऑल दीज थ्री आर काइंड्स ऑफ उक्ति एण्ड भोज मीन्स बाइ उक्ति 'पोइटिक एक्सप्रैशन' व्हिच ही कालस बाइ दि नेम अलंकार औल्सो। फौर टु भोज गुणाज एण्ड रसाज औल्सो आर अलंकार; दस उक्ति मीन्स अलंकार, दि ब्यूटिफुल पोइटिक एक्सप्रैशन एज ए व्होल। (११६) डा. राघवन : भोजस् शृंगार-प्रकाश**

(३) **अलंकारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।**
उपमा कविवंशस्य मातेवेति मतिर्मम॥ (राजशेखर)

(४) **उपमा अरु उपमय हैं, अलंकार के प्राण।**

(५) **तत्रानलङ्कृती पुनः क्वापीति काव्यलक्षणे ऽलंकारस्योक्तत्वाच्च काव्यलक्षणे ऽर्थापेक्षया शब्दस्य प्राथम्येन तदलंकारस्यावसरसंगत्या प्रथमं वक्तुमुचितत्वम्..।**
(नागेश्वरी टीका)

श्वरी मे इसकी कल्पना की गई है, कुलपति ने उसी मत को स्वीकृतिपूर्वक लिख दिया है। वक्रोक्ति का सर्वप्रथम कथन क्यों है, इसका कारण न तो काव्यप्रकाश मे है, न टीका मे, रसरहस्य मे अवश्य है, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

प्रस्तुत पुस्तक मे वक्रोक्ति (श्लेष तथा काकु), अनुप्रास, जमक, श्लेष (८ प्रकार), चित्र, तथा पुनरुक्तवदाभास—इन ६ शब्दालकारो का विवेचन है। वक्रोक्ति के लक्षण तथा काकुवक्रोक्ति के उदाहरण मे काव्य-प्रकाश की छाया है। इस अलकार का प्राण—'अन्येन योज्यते' है, इसके अभाव मे चमत्कार वक्रोक्ति का न होकर गुणीभूतव्यङग्य का हो जायगा। कुलपति का लक्षण —

कहै बात औरै कछू, अर्थ करै कछु और ।४।

सदोष है, इसमे मम्मट के **'अन्यथाऽन्येन योज्यते'**[1] की उपेक्षा हो गई है। लक्षण सदोष हो, परन्तु उदाहरण उपयुक्त है। कुलपति ने अनुवाद मे शिथिलता कर दी, अथवा उसने मम्मट का अनुकरण करते हुए विश्वनाथ के लक्षण का अनुवाद कर दिया, साहित्यदर्पण के

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यम्, अन्यथा योजयेद् यदि।
अन्यः . . . . ॥

लक्षण मे यदि तृतीय चरण मे स्थित 'अन्य' को अन्वय के लिए न भी लिया जाय तो भी काम चल जायगा, अध्याहार द्वारा—**यदि (अन्यः) अन्यस्य अन्यार्थकं वाक्यम् अन्यथा योजयेत्**। कुलपति ने छन्द की शक्ति को परिसीमित देखकर विश्वनाथ का सा ही प्रयत्न किया है, जो हिन्दी भाषा की प्रवृत्ति के अनुकूल नही, कुलपति अपने लक्षण का अन्वय इस प्रकार करते—(कोई) कछु बात कहै, (किन्तु) और कोई कछु औरै अर्थ करै। परन्तु इस अन्वय के लिए पाठ निम्नलिखित होता —

कहै बात कछु, औरै अर्थ करै कछु और।

काकु-वक्रोक्ति का उदाहरण —

क्यों हूं कै बितायै यह बासर बिसासी अब,
पावस हू आयो आली प्रीतम न आइ हैं।

काव्यप्रकाश के **"अलिकुल-कोकिल-ललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ"** की ही छाया मे लिखा गया है।

अनुप्रास के रस-रहस्य मे छेक, तथा वृत्ति दो भेद काव्यप्रकाश के अनुसार, वर्ण-साम्य के आधार पर, देकर फिर लाटानुप्रास (शब्दसाम्य के आधार पर) दिया गया है। जमक का लक्षण पूर्वार्द्ध मे मम्मट का अनुकरण दिखाता है, उत्तरार्द्ध स्वतन्त्र है —

अर्थ होय भिन्नै, जहां शब्द एक अनुहार ॥
अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुति : ॥

अन्वय इस प्रकार होगा—

'जहां शब्द एक अनुहार (होंय) (यदि) अर्थ होय (तौ) भिन्नै (होय)।

---

(१) **यदुक्तं अन्यथा वाक्यं, अन्यथा अन्येन योज्यते ॥७८॥**

श्लेष का प्रकरण मम्मट के सूत्र मे अग्रसर है, मम्मट ने सूत्र मे 'अष्टधा' तो कह दिया है, परन्तु वर्ण पद-लिंग भाषा प्रकृति-प्रत्यय-विभक्ति वचन के भेद कारिका (व्याख्या) मे ही स्पष्ट किये है। कुलपति का भेदक्रम न मम्मट के अनुसार है, न विश्वनाथ के अनुसार, कदाचित् छन्द की सुविधा से ही रखा हुआ है।

चित्र अलकार मे ८ भेद है—पदगर्भ, गोमूत्रिका, शातधेनु, रगवरन। पुनरुक्तावदाभास केवल शब्द का ही है, मम्मट के समान शब्दनिष्ठ तथा शब्दार्थोभयनिष्ठ नही।

इस प्रकार शब्दालकार प्रकरण मे अलकारो की सख्या तथा क्रम मम्मट के अनुसार है; भेदो मे भेद है—लाटानुप्रास के उतने उपभेद नही है, श्लेष का नवम भेद कुलपति ने नही लिखा, पुनरुक्तावदाभास उभयनिष्ठ नही है। यमक, श्लेष, तथा श्लेष का विषय रसरहस्य मे सक्षिप्त है, कारण का उल्लेख ऊपर हो चुका है—चित्र की तो, कष्टकाव्य कहकर, मम्मट ने भी उपेक्षा कर दी थी।

अर्थालकार

यद्यपि कुलपति ने मम्मट का आदर्श अपने समक्ष रखा था, और शब्दालकार-प्रकरण मे वे उससे विभ्रष्ट नही हुए फिर भी अर्थालकार-प्रकरण मे तीन तथ्यो पर विचलन लक्षित होता है। (१) अधिक, एकावली, सामान्य, विशेष, समृष्टि तथा सकर रस-रहस्य मे है ही नही। (२) मम्मट के क्रम को अन्यत्र स्वीकार करते हुए भी प्रतिवस्तूपमा, प्रतीप, भ्रातिमान् तथा स्मरण को काव्यप्रकाश के क्रमानुकूल नही लिखा, (३) मम्मट के 'ससन्देह', तथा 'परिवृत्ति' कुलपति के 'सदेह' तथा 'विनिमय' है—'ससन्देह' को विश्वनाथ ने 'सदेह' बना दिया था, और 'विनिमय' नाम के बीज काव्यप्रकाश[1] तथा साहित्यदर्पण[2] दोनो के लक्षणो मे मिलते है।

उपमा-चक्र

ऊपर सकेत किया जा चुका है कि कुलपति अलकारो मे उपमा को शिरोरत्न मानते थे, और इसीलिए अर्थालकार का प्रकरण प्रारभ करने ही[3] उन्होने 'अलकार के प्रान' उपमान और उपमेय का वर्णन कर दिया है। फिर उपमा का लक्षण है—

शब्द अर्थ समता कहै, दोउन की जेहि ठौर।
नहि कलपित उपमान जहं, सो उपमा सिरमौर॥

मम्मट, विश्वनाथ, तथा जयदेव के लक्षण निम्नलिखित है—

(क) साधर्म्यम् उपमा भेदे। (काव्यप्रकाश)
(ख) साम्यं वाच्यम् अवैधर्म्यम् वाक्यैक्य उपमा द्वयोः। (साहित्यदर्पण)
(ग) उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः। (चन्द्रालोक)

---

(१) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः॥११३॥
(२) परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्॥१०५॥
(३) तुलना कीजिए : —उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालङ्कारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा। (अलंकार-सर्वस्व)

संस्कृत के इन आचार्यों से स्वतन्त्र कुलपति का मत है। उनके लक्षण मे, विश्लेषण करने पर, निम्नलिखित तथ्यो का महत्व प्रतिपादित मिलता है --

(१) शब्द तथा अर्थ दोनों से समता का कथन।

(२) उपमान अकल्पित।

शब्द तथा अर्थ दोनो के द्वारा समता से क्या अभिप्राय है ? समता का प्रतिपादन दो प्रकार से हो सकता है—केवल अर्थ से, तथा शब्द अर्थ दोनों से (केवल शब्द द्वारा समता का प्रतिपादन सभव नही)। अर्थ-मात्र-प्रतिपादित समता व्यग्य है, वाच्य नही, जैसा कि रूपक आदि मे होता है। अत वाच्य समता (वाचक शब्द द्वारा कथित समता, जो उपमा के प्रसग मे अभीष्ट है) शब्द तथा अर्थ दोनो से एक पद एव प्रतिपादित होनी चाहिए। विश्वनाथ ने इसी सत्य का आग्रह 'साम्य वाच्यम्' द्वारा किया है, और वृत्ति मे **'रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्'** लिखकर वाच्यत्व के आग्रह को स्पष्ट कर दिया है। कुलपति का प्रतिपादन सरल तथा सहजबोधगम्य है, उनका लक्षण मम्मट के लक्षण से अधिक वैज्ञानिक है, यहा रूपक से उपमा सहज ही भिन्न लक्षित हो गई।

'अकल्पित उपमान' पद उपमा को उत्प्रेक्षा से अलग करता है। 'चन्द्र-सा सुन्दर मुख' इस वाक्य मे चन्द्र उपमान सामान्य धर्म सुन्दरता के लिए जगत्प्रसिद्ध है, अत एव पाठक चन्द्र के समान मुख के सौदर्य की सहज कल्पना कर सकता है। परन्तु एक और उदाहरण लीजिए, 'मुख पर नेत्र ऐसे सुन्दर लगते है जैसे चन्द्र मे दो कमल'। यहा उपमान है 'चन्द्र मे दो कमल', यह असभव या कल्पित है, यहा अलकार उपमा न होकर उत्प्रेक्षा हुआ। कल्पना या सभावना उत्प्रेक्षा का विषय है, उपमा का नही। मम्मट ने उत्प्रेक्षा का लक्षण इसीलिए, उपमा से व्यवच्छेदन करते हुए, **'संभावनमथोत्प्रेक्षा'** किया था।

कुलपतिकृत उपमा का लक्षण मननशीलता का परिचायक है, और अपने आप मे पूर्ण भी है। रस-रहस्य मे श्रौती, आर्थी, पूर्णा तथा लुप्ता उपमा का वर्णन है। लुप्ता त्रिलुप्ता तक है; त्रिलुप्ता के उदाहरण मे 'मृगनैनी' का वर्णन काव्यप्रकाश की **'स्मरशरविसराचितान्तरा मृगनयना'** से प्रभावित है। मम्मट ने मालोपमा, तथा रशनोपमा की चर्चा चलाई है, परन्तु वे इन भेदोपभेदो के पक्ष मे नही है ' **इत्यादिका रशनोपमा च न लक्षिता एवंविधवैचित्र्यसहस्रसंभवात्, उक्तभेदानतिक्रमाच्च।**'[1] विश्वनाथ न इन भेदो का स्वतन्त्र वर्णन किया है; कुलपति विश्वनाथ से सहमत है। साहित्यदर्पण के समान ही रसरहस्य मे उपमा का एक भद एक-देश-विवर्त्तिनी स्वीकार किया गया है, लक्षण यह है —

एक देश उपमा जहां, अंग मुख्य उपमान।
कछूक पैये शब्द ते, कछू अर्थ ते जान॥

यह लक्षण विश्वनाथ के लक्षण का अनुवाद सा लगता है, फिर भी विश्वनाथ के

---

(१) **...तेषां परस्परगुणने इयत्ताया वक्तुमशक्यत्वादिति भावः। ननु वैचित्र्यसहस्रसम्भवे ते सर्वेऽपि भेदा अवश्यं वक्तव्याः अन्यथा न्यूनत्वं दोष इत्यत आह पूर्वोक्तोपमाप्रभेदेषु यथासम्भवमेतेषामन्तर्भावान्न न्यूनतेति भावः। (नागेश्वरी)**

'वाच्यत्वगम्यत्वे भवेतां यत्र साम्यस्य' की अपेक्षा **'कछूक पैये शब्द ते, अछू अर्थ तें जान'** अधिक बोधगम्य है।

अनन्वय आदि

अनन्वय तथा उपमेयोपमा के अनन्तर प्रतिवस्तूपमा है। उसका लक्षण है.—

समतासूचक पद जहां, रहैं एक, द्वै भांति।
सो है प्रतिवस्तूपमा, पद-समूह की कान्ति॥

इसमें "पद-समूह की कान्ति" साहित्यदर्पण के **"वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः"** का छायानुवाद है, और "रहैं एक, द्वै भाति" काव्यप्रकाश के **"सामान्यस्य द्विरेकस्य.....स्थितिः"** का। मम्मट का लक्षण स्पष्ट है—**"यत्र एकस्य सामान्यस्य वाक्यद्वये द्विः स्थितिः"**, परन्तु उसमें उन दो वाक्यो का पारस्परिक सबध नही बतलाया गया, विश्वनाथ ने उसको **"वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः"** के द्वारा स्पष्ट किया था। कुलपति ने साहित्यदर्पण से अधिक लाभ नही उठाया, उनका 'काति' ही 'गम्यसाम्य' का बोधक माना जा सकता है—परन्तु 'पदसमूह' 'वाक्यद्वय' का समानार्थक नही है।

प्रतीप

मम्मट ने प्रतीप के दो भेद किये—उपमान का आक्षेप, तथा उपमान की तिरस्कार-निबधना उपमेयता[1]। कुलपति ने भी 'निरादर कीजिये,' तथा 'कीजे उपमेव' ये दो भेद दिये हैं, परन्तु इन भेदो मे पूर्व प्रतीप का लक्षण 'जह लघुता उपमान की' भी लिख दिया है, जो जयदेव के **'प्रतीपमुपमानस्य हीनत्वमुपमेयतः'** का ही अनुवाद है। प्रथम भेद के ३ उपभेद है, जिनके क्रमश उदाहरण है —

(क) कैसे रति समता लहत रानी राधिका की.....
(ख) करौ न गुमान कटाक्षन कौ, कवि काम के बानन ऐसे बखानैं।
(ग) चंदन शीतलता करन, गर्व करैं जनि चित्त।
तो सम है सज्जन वचन, सबको पोषत नित्त॥

द्वितीय उपभेद, किसी न किसी रूप से, साहित्यदर्पण मे भी स्वीकार किया गया है कुवलयानन्द के ५ भेदो मे से ४ भेद यहा आ जाते है, केवल कैमर्थ्य[2] वाला नही है। उदाहरणो मे भाषा-भूषण का प्रभाव नही है—यह कहना कठिन है।

उत्प्रेक्षा तथा रूपक

काव्यप्रकाश मे उत्प्रेक्षा के लक्षण मे 'सभावना'[3] शब्द का प्रयोग है, साहित्य-दर्पण[4] मे भी इसी का अनुकरण है, इस 'सभावना' का अर्थ स्पष्ट नही किया गया।

---

(१) **आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।**
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम्॥
(२) **प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते।**
(३) **सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।**
(४) **भवेत् सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।**

कुलपति ने 'सभावना' के स्थान पर व्याख्यात्मक शब्दावली का व्यवहार किया है :—

संशय[1] में जो सांच सो, तेहि विधि को, उपमान ।
अधिक होय उपमेय ते, सो उत्प्रेक्षा जान ॥३४॥

इस लक्षण के दो अंग हैं—

(क) संशय मे निश्चितप्रायत्व (सांच-सो)
(ख) उपमान उपमेय से अधिक

प्रथम अग 'सशय मे निश्चितप्रायत्व' काव्य-प्रकाश तथा साहित्यदर्पण की टीकाओ मे **'उत्कटकोटिकः सन्देहः'**[2] या **'उत्कटकोटिकः संशयः'**[3] द्वारा अभिहित है। द्वितीय अग यद्यपि सभी लक्षणो मे गम्य रहा है, तथापि प्रत्यक्ष कथन द्वारा ही चन्द्रालोकगत प्रतीपोपमा[4] से उत्प्रेक्षा को पृथक् करता है—कुलपति का यह प्रयत्न व्यावहारिक तथा मौलिक है, 'इन्दु मानो मुख है' इस कथन मे सभी उपकरण प्रस्तुत रहने पर भी अलकार उत्प्रेक्षा नही है ।

सदेह के उपरान्त रूपक अलकार का विषय है। रूपक का लक्षण आधार-ग्रथ से स्वतन्त्र है। मम्मट ने उपमानोपमेय के अभेद[5] को, तथा विश्वनाथ ने निरपह्नव विषय मे रूपितारोप[6] को रूपक बताया था। कुलपति ने साहित्यदर्पण के उपमा के लक्षण[7] तथा वृत्ति[8] से लाभ उठाकर यह लक्षण बनाया है —

उपमा अरु उपमेय को, भेद परै नहि जान ।
समता व्यंग रहे जहां, रूपक ताहि बखान ॥

इस लक्षण के दो ही अग है—(क) उपमानोपमेय का अभेद (यह मम्मट का ऋण है), (ख) व्यङ्ग्य समता (यह साहित्यदर्पण का वृत्ति से आया है)। 'समता व्यग' का कथन इस आचार्य की प्रौढता का सूचक है ।

रूपक के चार भेद साग, शुद्ध, परम्परित, तथा मालारूपक बतलाये गये है ।

(१) तुलना कीजिए :—
उत्कटैककोटिकः संशयः सम्भावनम्। संशये हि कोटिद्वयं वर्त्तते। यथा "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" इत्यत्र एका कोटिः स्थाणुः, अपरा च कोटिः पुरुषः। यस्मिन् संशये कोटिद्वयमध्ये एकस्याः कोटेः उत्कटत्वं (निश्चितप्रायत्वं न तु निश्चयः) तादृशः संशयः संभावनमुच्यते यथा प्रायेण पुरुषोऽयं भवेदिति सादृश्याद् उपमेयस्य वर्णनीयस्य उपमानत्वेन सम्भावना उत्प्रेक्षा—इत्यर्थः ॥ (टिप्पणी)

(२) नागेश्वरी

(३) भट्टाचार्य श्री महेश्वर तर्कालंकार की विज्ञप्रिया टीका।

(४) इन्दुर्मुखमिवेत्यादौ स्यात् प्रतीपोपमा तदा ।१४।

(५) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।

(६) रूपकं रूपितरोपो विषये निरपह्नवे ।

(७) साम्यं वाच्यं अवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ।

(८) रूपकादिषु साम्यस्य व्यंग्यत्वम् ।

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति के भेद मम्मट के ही अनुसार है, परन्तु लक्षण देते हुए काव्य-प्रकाश के अध्यवसान[1] तथा साहित्यदर्पण के अध्यवसाय[2] शब्दो को बचा दिया गया है। लक्षण है —

अति अभेद जिय राखि जहं, नहि कहिये उपमेव।
उपमानै कहिये जहां, अतिशय उक्ति सो भेव॥
कहिये औरै भांति पुनि, जो यों तो यों होय।
आगे पीछे बरनिये, कारन कारज सोय॥

भेदो के नाम अलग अलग नही है। प्रथम भेद (भेदऽप्यभेद) जहा मन मे अति अभेद रखकर केवल उपमान का कथन, उपमेय का नही—रूपकातिशयोक्ति है। द्वितीय भेद प्रस्तुत का और ही भाति मे 'वर्णन' **'प्रस्तुतस्य यदन्यत्वम्'** का अनुवाद (अभेदे भेदः) है। तृतीय भेद **'जो यो तो यों होय'** मे **'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्'** की **'सम्बन्धेऽसम्बन्धः'** छाया है। चतुर्थ भेद **'आगे पाछे बरनिये'** मे **'पौर्वापर्यविपर्ययः'** की छाया मिलती है। मम्मट ने चार भेद किये थे, विश्वनाथ ने पाच, जयदेव ने ६ तथा अप्पयदीक्षित ने इस अलकार के आठ भेद माने है।

अन्य अर्थालकार

कुलपति मिश्र ने अर्थालकारो मे सामान्यत मम्मट् का ही अनुकरण ठीक समझा है। सामान्य अलकारो मे मतभेद को कोई स्थान भी नही था। अलकार-दोष तथा संकर-ससृष्टि को न जाने क्यो कुलपति ने नही लिखा। क्रम सर्वत्र काव्यप्रकाश के अनुसार नही है।

लक्षण

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि कुलपति मुख्य तथा बडे अलकारो के प्रति सावधान थे और उनके प्रसग मे सर्वत्र साहित्य-दर्पण से इनको सहायता मिली है। मम्मट के जिन लक्षणो से भिन्न लक्षण बनाये है वे मम्मट की अपेक्षा सरल तथा अधिक व्यावहारिक है, ऐसे लक्षण लेखक की प्रतिभा तथा आचार्यत्व के सूचक है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति का प्रसग यथास्थान आ चुका है, किसी किसी लक्षण मे तो मौलिक सूझ भी है। इन लक्षणो की दृष्टि से कुलपति का हिन्दी आचार्यो मे ऊचा स्थान माना जायगा।

उदाहरण

अलकारो के उदाहरण लक्षणो मे ठीक ही बैठ जाते है, और उदाहरण अनूदित नही है, दूसरो की छाया भी कम ही स्थलो पर है। प्राय उदाहरणो के लिए बडे छदो का उपयोग किया गया है, जिनके एक चरण मे ही वे पूरे हो जाते है —

(१) निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
(२) सिद्धत्वेऽध्यवसायस्य .....।

(क) सूर हर्‌यौ तेज कछू वासौ न बसाय, मीत
वाके जान कमलनि की दीपित हरत हैं। (प्रत्यनीक)
(ख) लपटानी हिये चित आई हैं राधिका,
देखत ही घन दामिनी के। (स्मरण)

मम्मट् ने सारे उदाहरण सस्कृत भाषा के ही नही बनाये थे, कुलपति ने भी ब्रज-भाषा से इतर उदाहरण बनाये है, परिणाम का उदाहरण मिश्रित भाषा (फारसीनिष्ठ खडी बोली) लेखता का है —

हूं वे मुशताक तेरी सूरत का नूर देख,
दिल भरि पूरि रहै कहने जवाब सों।
मिहर का तालिब फकीर है मिहरवान
चातक ज्यों जीवता है स्वाति वारा आब सों।
तू तो है अयानी यह खूबी का खजाना तिसे
खोलि क्यों न दीजे सेर कीजिए सबाब सों।
देर की न ताब जान होत है कबाब बोल
हयाती का आब बोलो मुख महताब सों॥

मूल्याकन

हिन्दी के मध्यकालीन आचार्य मुख्यत कवि थे, अत. उनकी प्रतिभा का चमत्कार वर्णनात्मक सरस उदाहरण प्रस्तुत कर देने मे है, केवल एक दो मे ही शुद्ध आचार्यत्व के चिन्ह मिलते है। कुलपति मिश्र इन्ही अपवादो मे है, वे आचार्य अधिक है, कवि कम— उनकी प्रतिभा लक्षणो मे जितनी प्रस्फुटित हुई है उतनी उदाहरणो मे नही; उदाहरणो मे सरसता को दृष्टि मे रखे तो उनका स्थान बहुत पीछे आता है।

आचार्य दो प्रकार के हो सकते है। एक तो वे जो सम्प्रदाय के जन्मदाता हो, वर्गीकरण की प्रणाली निकाले, नये अलकारो की उद्‌भावना करे, या लक्षणो द्वारा पुराने अलकारो के क्षेत्र मे सकोच-विस्तार पर जोर दे। ऐसा आचार्य बडा प्रतिभाशाली होगा, उसमे खडन-मडन की विशेष शक्ति होनी चाहिए, वह दूसरो के मत को तो भली भाति समझता ही होगा, व्यक्तिगत स्थापनाओ मे उसका अटूट विश्वास होता है। केशव ऐसे ही आचार्य है।

आचार्यो की एक दूसरी श्रेणी भी है। इसमे दूसरो का निर्भ्रान्त ज्ञान अर्जन करके उसे पाठको के लिए सहज तथा सुबोध बनाने की क्षमता होनी चाहिए। हिन्दी के अधिकाश आचार्य इसी पद के अभिलाषी थे। कुलपति मिश्र का इस वर्ग मे बहुत ऊचा स्थान है; मुख्य मुख्य अलकारो के लक्षण जितने स्पष्ट वे दे सके उतने अन्य आचार्य नही, प्रायः वे सस्कृत आचार्यों मे पीछे नही रहे, उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक आदि के लक्षणो मे यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। लक्षण-विषयक प्रतिभा की दृष्टि से वे अपने वर्ग मे सर्वोपरि है। यदि विराम-चिन्हो का ध्यान रखा जाय, और उचित अध्याहार कर लिया जाय तो उनके लक्षण आज भी लाभदायक सिद्ध हो सकते है।

कुलपति मिश्र रस-सम्प्रदाय के आचार्य हैं, उन पर मम्मट का प्रभाव अधिक है, परन्तु वे काव्यप्रकाश तक ही सीमित नही रहे[१], सहज तथा व्यावहारिक समझ कर दूसरो मे भी वे बहुत कुछ ले लेते थे, उनकी मान्यताओ मे उनकी प्रतिभा[२] का कुछ आभास मिल सकता है।

(१) "आपने अपने ग्रंथ में काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण के मतों पर विचार किया है।" (मिश्रबन्धु-विनोद, ii)

(२) "रीतिकाल के कवियों मे ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनका 'रस-रहस्य' मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद है।" (रामचन्द्र शुक्ल)

देवकवि : भावविलास

(स० १७४६)

प्रसिद्ध कवि देव या देवदत्त ने काव्यशास्त्र पर दो ग्रन्थ लिखे हैं—'भावविलास', तथा 'शब्दरसायन'। 'भावविलास' उनकी इस विषय की सर्वप्रथम कृति है, जो उनका काव्य-क्षेत्र मे प्रथम पदन्यास भी है। अन्त प्रमाण से ज्ञात होता है कि 'भावविलास' का प्रणयन देव कवि ने अल्पायु[1] मे ही किया था, उस समय (१६ वर्ष की आयु मे) कवि ने सस्कृत भाषा का समुचित ज्ञान न प्राप्त किया होगा। अत भावना के आवेग मे, केशव की प्रेरणा से, कवि ने 'भावविलास' की रचना की। इस पुस्तक मे भरत[2] का नाम उसी श्रद्धा से लिया गया है जिससे कि भारती का, कवि ने भरत आदि का अध्ययन न किया था।

भावविलास का विषय

भावविलास पाच विलासो का ग्रन्थ है, जिसमे 'सब नायकादि-नायक-सहित, अलकार वर्णन[3] किया गया है। कवि की रुचि नायक-नायिका मे जितनी है, उतनी अलकार मे नही, अलकार तो अतिम विलास मे ही स्थान पा सके है। देव का प्रयत्न नायिका नायक आदि की सम्पूर्णता (सब) का है, इसलिए अलकार-विषय का विस्तार नही हो सका।

केशव के समान देव ने भी आदि मे अलकारो के नाम गिना दिये है, तदनन्तर उनका 'वर्णन' किया है। देव के समय तक अलकारो की सख्या एक शत से आगे पहुच चुकी थी, परन्तु इन्होने इस पुस्तक मे केवल ३९ का ही वर्णन किया है। कारण दो हो सकते है। या तो देवकवि अलकारो की सख्या कम से कम करने के पक्ष मे थे. जिसके विपरीत प्रवृत्ति उनके प्रौढ ग्रन्थ 'शब्दरसायन' मे मिलती है—यदि सिद्धान्त मानकर भावविलास मे केवल ३९ अलकार माने होते तो आगे भी तथैव प्रवृत्ति उपलब्ध होती। या यह सम्भव है कि १६ वर्ष तक देवकवि का अध्ययन कम ही था, इसलिए केशव आदि के प्रभाव तक ही इनका विस्तार रहा। यह कहा जा सकता है कि भावविलास के समय देवकवि के जो विश्वास थे उनमे प्रौढता के साथ पर्याप्त सुधार हो गया, अत इस ग्रन्थ मे अलकार सख्या कम रही परन्तु आगे चलकर बढ गई। यदि ऐसा माना जाय तो भी निष्कर्ष यही है कि भावविलास भावावेग की पुस्तक है स्थिरता की रचना नही; १६ वर्ष की आयु इसी ओर सकेत करती है और 'कढी देव-मुख देवता, भावविलास सहर्ष' (सहर्ष=हृदय के उल्लास-स्वरूप देव के मुख से स्वत एव देवी सरस्वती भावविलास के रूप मे अवतरित हुई) का भी यही अभिप्राय है।

(१) शुभ सत्रह सै छयालसि, चढ़त सोरही वर्ष ।
कढ़ी देव मुख देवता, भावविलास सहर्ष ॥

(२) भुवन-मात भारती सुमिरि, भरतादिक ध्याये ।

(३) सब नायिकादि-नायक-सहित, अलंकार वर्णन रच्यौ ॥

देवकवि ने ३९ अलकार गिनाये है---स्वभावोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, संशय, अनन्वय, रूपक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति वक्रोक्ति, पर्यायोक्ति, सहोक्ति, विशेषोक्ति, व्यतिरेक, विभावना, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, उदात्त, दीपक, अपन्हुति, श्लेष. अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशसा, व्याजस्तुति, आवृत्तिदीपक, निदर्शना, विरोध, परिवृत्ति, हेतु, रसवत्, ऊर्जस्वल, सूक्ष्म, प्रेम, क्रम, समाहित, तुल्ययोगिता, लेश, भाविक, सकीर्ण, आशिष । परन्तु इसका यह अर्थ नही कि वे केवल इतने ही अलकारो को जानते थे, या शेष अलकारो का वे इन्ही ३९ मे अन्तर्निवेश कर सकते थे, और ये अलकार महत्त्व की दृष्टि से भी छाटे हुए नही है। प्रत्युत कारण यह है कि देव ने इन अलकारो को ही मुख्य[1] अलकार समझा है और शेष को वे (भूल से) इनके भेदमात्र समझ बैठे है---जो कोई उन अनन्त[2] भेदो को जानना चाहे वह अन्य ग्रन्थो को पढ सकता है।

अलकारविषयक सिद्धान्त

अलकारो की सख्या गिनाते हुए देवकवि ने लिखा है ---

अलंकार मुख्य उनतालीस है देव कहै,
येई पुराननि मुनि मतनि मे पाइये ।
आधुनिक कविन के संमत अनेक और
इनहीं के भेद और विविध बताइए ॥

ध्यान देने की पहली बात तो यह है कि इन ३९ अलकारो मे रसवत्, ऊर्जस्वल, प्रम (प्रेयस्) तथा आशिष जैसे अलकार भी आ गये है---जो महत्त्व की दृष्टि से नगण्य है। दूसरी बात यह है कि देव इन अलकारो को मुख्य मानते है, और शेष को इन के ही भेद-प्रभेद, यह सर्वथा उचित नही है---प्रतीप, दृष्टान्त, कारणमाला, परिसख्या, प्रत्यनीक आदि अनेक अलकार ऐसे है जिनको यहा स्थान नही मिला, और जो इन ३९ अलकारो से नितान्त भिन्न भी है। तीसरी बात यह है कि यद्यपि 'पुराननि मुनि' से सस्कृत के पुराने आचार्यो का अभिप्राय है फिर भी यह आवश्यक नही कि देवकवि ने इनका अध्ययन किया हो। वे हिन्दी के पुराने आचार्य केशव[3] आदि से ही प्रभावित थे। इस समय तक देवकवि ने सस्कृत के आचार्यो का अध्ययन न किया था, उनके समक्ष हिन्दी आचार्य ही थे। जिनमे से केशव को उन्होने अनुकरणीय समझा, और अन्य विशेषत. समकालीनो से दूर हटते रहे।

केशव ने केवल ३७ अलकार स्वीकार किये है, परन्तु उनके विवेचन मे इतने भेदो प्रभेद आ गये है कि पाठक को कोई शिकायत नही रहती। देव, केशव का अनुकरण करते हुए भी, इस सूक्ष्मता को हृदयगम न कर सके। उनके यहा ३९ का अर्थ ३९ ही है। फलत सौदर्य की अनेक विधिया भावविलास मे अविवेच्य रह गई है । सख्या की न्यूनता के साथ-

(१) अलंकार मुख्य उनतालीस है देव कहै ..... ।
(२) अलंकार ये मुख्य है, इनके भेद अनन्त ।
आन ग्रन्थ के पंथ लखि, जानि लेहु मतिमन्त ॥
(३) सम्भव है केशव के अनुयायी और भी कुछ आचार्य देव से पूर्व हुए हों जिनके विषय मे आज इतिहास मौन है ।

साथ अन्तर्भाव भी आवश्यक है, जिसके अभाव मे शिथिलता ही रहती है, पूर्णता नही आ पाती।

देवकवि ने शब्दालकार तथा अर्थालकार का भेद नही किया। वस्तुत शब्दालकार का विषय इस पुस्तक मे रखा ही नही गया। अनुप्रास है ही नही––वह अनुप्रास जो रीतियुग का प्राण था, और जिसके बिना देवकवि का एक भी छन्द मन को आकृष्ट न कर सकेगा। श्लेष तथा वक्रोक्ति अर्थालकारो के बीच रखे है। अर्थालकारो के भी भेदोपभेद नही दिये गये––यह भी एक विचित्रता है।

इस बालप्रयत्न मे सिद्धान्तो की खोज व्यर्थ है, फिर भी भावविलास के निम्नलिखित वाक्य कवि की प्रवृत्ति तथा झुकाव के द्योतक है ––

(क) सुकवि जाति वर्णन करत, कहत सुनत अभिराम।

(ख) सुसमासोक्ति सो जानिये, अलंकार सिरमौर।

(ग) सु वक्रोक्ति सु बरनिये, उत्तम काव्य सुभाइ।

जाति या स्वभावोक्ति अलकार कहने-सुनने मे बडा अभिराम लगता है, इस कथन मे सिद्धान्त तो नही है परन्तु उस मत के बीज है जिसका प्रतिपादन 'शब्दरसायन' मे किया गया है, देव ने मानो उन आचार्यो का विरोध किया है जो स्वाभावोक्ति को अलकार ही नही मानते, केशव के प्रभाव से इस अलकार का भावविलास मे वर्णन भी सर्वप्रथम ही है। समासोक्ति अलकारो का शिरोरत्न नही है, क्योकि अलकारो की माता तो उपमा है; समासोक्ति का उतना महत्व कहा? परन्तु साहित्यिक सौन्दर्य उक्ति (दे कुलपति का प्रकरण) पर निर्भर है, उक्ति या तो स्वभावोक्ति होगी या वक्रोक्ति। वक्रतागर्भित प्रत्येक उक्ति वक्रोक्ति है जिसके अन्तर्गत समासोक्ति भी आ जावेगी, इसमे सन्देह नही कि समासोक्ति का सौदर्य बडा मनोहर होता है––देव ने इसी अर्थ मे इसको 'सिरमौर' कहा है कि व्यवहार का समारोप[1] काव्यसौदर्य की परम उच्च[2] कोटि है। देव मे वक्रोक्ति व्यग्य का ही दूसरा नाम है, अलकार की दृष्टि से भी, व्यापक अर्थ मे, यह सौदर्य का प्राण है, भामह ने इसीलिए कहा था कि वक्रोक्ति से अर्थ मे विशेष शोभा आ जाती है, इसके बिना कौन सा अलकार रह सकता है ––

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

(काव्यालंकार, २, ६५)

देव के ये समस्त कथन 'उक्तियो' मे ही सम्बद्ध है, मानो वे उक्ति को ही काव्य-सान्दर्य का प्राण मानते हो।

अलकारो के लक्षण

बालक देव अलकारो के स्वरूप को समझते भले ही हो, उनके ठीक-ठीक लक्षण उनकी

---

(१) व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनि।

(२) ध्वनिकार के मत में वाच्यार्थ में उतना स्वाद नहीं आता जितना कि प्रतीयमान अर्थ में।

सामर्थ्य से बाहर का काम था, संस्कृत के आचार्यों का तो प्रश्न ही नहीं आता अपने अनुकरणीय आचार्य केशव को भी वे यथार्थ रूप में उस समय तक समझ न पाये थे। फलतः भावविलास में अलंकारों के लक्षण अपूर्ण तथा संदिग्ध हैं। यदि प्रमुख अलंकारों के लक्षणों की परीक्षा की जाती है, तब भी आलोचक को निराशा ही होती है। उपमा के वर्णन में देवकवि लिखते हैं —

नून गुनहि जहँ अधिक गुन, कहिये बरनि समान[1]।
अलंकार उपमा कहत, ताही सुमति स-मान॥

यह लक्षण या तो उपमामूलक सभी अलंकारों पर लागू हो जायगा, या अलंकार-मात्र के लिए यह अनुपयुक्त है, यहाँ न तो चमत्कारी साम्य का संकेत है और न आधारभूत चार अंगों का। उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का परस्पर भेद यहाँ स्पष्ट नहीं हो पाता। यदि इस वर्णन को लक्षण मान लें तो 'यह गाय, हमारी गाय के समान है' इस वाक्य में भी उपमा मानी जायगी, वाग्भट्ट ने इसी लिए तो चमत्कार युक्त साम्य[2] को उपमा बतलाया था। इस लक्षण का स्वाभाविक फल यह हुआ कि उपमा का उदाहरण वस्तुतः उत्प्रेक्षा के लिए उपयुक्त था, 'मनो' शब्द का प्रयोग संभावना का ही सूचक है —

ओछे उरोजनि पै हँसि कें, कसि के पहिरी गहरी रंग बोरी।
पैरि सिवार सरोज सनाल, चढ़ी मनो इन्द्रबधूनि की जोरी॥

उत्प्रेक्षा का उदाहरण अपने कर्तव्य में उतना सफल नहीं है —

मेरे मन आवति मुनिन मन मोहिबे को, मोहनी के मन्त्र हैं री मोहनी की बतिया।

रूपक अलंकार का लक्षण भी उतना ही शिथिल है। लेखक ने उपमावाचक शब्दों को गिनाकर यह बतलाया है कि जहाँ ये शब्द न हों वहाँ रूपक माना जायगा —

सम, समान, जैसे, जनो, जिमि, ज्यों, मानो, तूल
ओर सरिस कविदेव ए, पद उपमा के मूल॥
जहँ उपमा मैं ये न पद, सोई रूपक जानु॥

यहाँ दो तथ्य और लक्षित होते हैं। प्रथम तो यह कि देवकवि उपमा और उत्प्रेक्षा का उस समय तक अंतर न जानते थे, अन्यथा 'जनो' और 'मनो' को 'उपमा के मूल' 'पद' क्यों बतलाते। द्वितीय यह कि वाचक के लोप में रूपक नहीं रह जाता, लुप्तोपमा बनती है—यह भी उनको स्पष्ट नहीं है। दण्डी का लक्षण इतना सूक्ष्म है कि उनको सुनकर कोई भी कवि देव के समान बहक सकता है—**उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते (काव्यादर्श, २, ६६) ; 'तिरोभूतभेदा तिरोहितः ..... विद्यमानोपि सादृश्यातिशयप्रदर्शनाय कविना निह्नुतः भेदः प्रस्तुताप्रस्तुतयोः वैधर्म्यं यत्र, तादृशी उपमेव साधर्म्यमेव रूपकम्'** (पंडित रंगाचार्य शास्त्री विरचिता प्रभाख्या व्याख्या)। देवकवि कृत रूपक का यह लक्षण पाश्चात्य[3] काव्यशास्त्रियों का सा बन गया है।

---

(१) केशव के लक्षण "रूप, शील, गुण होय सम, जो क्यों हूं अनुसार" में चमत्कारयुक्त साम्य का कथन 'क्योंहू' से किया गया है।

(२) चमत्कारि साम्यमुपमा। (काव्यानुशासनम्, तृतीयोऽध्यायः)।

(३) मेटाफर इज ए कन्डेन्स्ड सिमिली।

देवकवि ने समासोक्ति का वर्णन **"कछु वस्तु चाहै कहौ, ता सम बरनै और"** द्वारा किया है, इस लक्षण मे अप्र तुतप्रशसा तथा प्रस्तुताकुर भी समा सकते है, यह केशवकृत अन्योक्ति के लक्षण **"औरह प्रति जु बखानिये, कछू और की बात"** से किस बात मे भिन्न है ? सहोक्ति का चमत्कार केशव[1] भी भूल बैठे, देवकवि ने इसको साथ-साथ[2] गुणो का वर्णन-मात्र समझ लिया। उदाहरण अवश्य ही केशव और देव दोनो ने ही उपयुक्त तथा रोचक रखे है —

बार बुद्धि बारन के साथ ही बढी है वीर,
कुचनि के साथ ही सकुच उर आई है। (केशव)
काम के तीर समेत समीर, सरीर मे लागत पीर बढ़ावै। (देव)

अपन्हुति का लक्षण केशव ने लिखा था —

मन की बात दुराय मुख, औरै कहिये बात।
कहत अपन्हुति सकल कवि, ताहि बुद्धि अवदात॥

इस प्रसग मे भगवान् दीन की टीका मे 'नोट' देख लेना भी आवश्यक है—"इस अलकार मे मन की बात छिपाकर बहाने के लिए कोई और बात कही जाती है, अत· दोनो मे समता होना जरूरी है। यह समता श्लिष्ट विशेषणो द्वारा ही आ सकती है, अतः इस अलकार का बडा भारी सहायक श्लेष अलकार है" (प्रियाप्रकाश, ग्यारहवा प्रभाव)। देवकवि ने लक्षण मे ही इस व्याख्या का सार रख दिया है —

मन को आथ छिपाइए, औरे अर्थ प्रकास।
श्लेष वचन काकु-स्वरनि, कहत, अपन्हुति तास॥

परन्तु यहा काकुस्वर की सहायता नही ली जा सकती, अन्यथा अलकार अपन्हुति न होकर काकूक्ति हो जायगा। देवकवि के उदाहरण मे यही हो गया है —

लोग ससी को सराहत री सब, तोहू लगै सखी सांचेहू सीरौ॥

यहा अप्रस्तुत-प्रस्तुत भाव तो है ही नही, इसलिए मन का अर्थ छिपाने पर भी छेकापन्हुति[3] अलकार न माना जायगा।

अप्रस्तुतप्रशसा को रीतिकाल के अधिकतर कवि समझ नही पाये, बेचारे देव भी ऐसे ही रहे; उन्होने 'अप्रस्तुतप्रशसा' मे 'प्रशसा' का अर्थ 'महिमा-गान' समझा और अप्रस्तुतप्रशसा तथा व्याजस्तुति मे मित्रता खोज निकाली। दोनो के लक्षण है —

जहां सु अप्रस्तुति अस्तुति, निंदा की अचान।
निन्दै और सराहिये, सो व्याजस्तुति जान॥

(जहाँ दूसरे की स्तुति द्वारा प्रस्तुत की निन्दा हो वहाँ अप्रस्तुतप्रशसा, और जहाँ

---

(१) **हानि-वृद्धि, शुभ-अशुभ कछु, कहिये गूढ़ प्रकास।**
होय, सहोक्ति सु, साथ ही बरणत केशवदास॥ (कविप्रिया, १२, २०)

(२) **सो सहोक्ति जहं सहितगुन, कीजे सहित बखानि॥**

(३) **छेकापन्हुति रन्यस्य, शंकातस्तथ्यनिह्नवे।**
प्रजल्पन् मत्पदे लग्नः, कान्तः किं ? नहि, नूपुरः॥ (कुवलयानन्द)

दूसरे की निन्दा द्वारा प्रस्तुत की प्रशसा हो वहाँ व्याजस्तुति) । ये लक्षण तो अशुद्ध है ही, उदाहरण भी सदोष है —

सबतें सब भाति भली हिरनी, निसिवासर पास रहै पिय के ।

यहाँ हिरनी (अप्रस्तुत) की स्तुति द्वारा प्रस्तुत की (अपनी) निन्दा गोपियां कर रही है। अन्यत्र —

कूबरी सी अति सूधी बधू को मिल्यौ वर देव ज् स्याम सौ सूधौ ।

इस उदाहरण मे कुब्जा तथा श्याम को सीधा (विपरीत लक्षणा से, वक्र) बताकर अपने सीधेपन की प्रशसा है। लक्षण और उदाहरण दोनो ही सदोष अथवा अशुद्ध है।

अलकारो के उदाहरण

भावविलास मे, लक्षणो के समान ही, देव कवि के अधिकतर उदाहरण सदोष है; सामान्यत उनमे चमत्कार का अभाव है, कुछ उदाहरण ऐसे है जो लक्षणो पर ठीक नही घटते। अधिकतर स्थलो पर कवि ने अलकारो का स्वरूप समझा नही, अत उदाहरण भी अनुपयुक्त रहे । उपमेयोपमा मे दो वस्तुएं परस्पर मे उपमान और उपमेय हुआ करती है, परन्तु चमत्कार का मूल प्रथम वाक्य को उपमा का बनाना है और द्वितीय वाक्य मे उपमान उपमेय मे स्थान-विनिमय कर देना है। देवकवि का एक उदाहरण तो सुन्दर है —

पूरनमासी सी तू उजरी अरु तोसी उजारी है पूरनमासी ।

परन्तु आगे के चरणो मे प्रथम वाक्य प्रतीप-वाक्य है और दूसरा उपमा-वाक्य, यह दोष है —

तेरी सी बेनी है स्याम अमा अरु, तेरीयो बेनी है स्याम अमा-सी ।
तेरो सो आनन चंद लसै, तुअ आनन मे सखि चंद समा सी ॥

अनन्वय का अलकारत्व भी चमत्कार पर निर्भर है, यदि मुख-सा मुख, कान-से कान और अधर-से-अधर कह दिया जाय तो सौन्दर्य क्या रहा ? अद्वितीयत्व की व्यजना के बिना देव कवि के उदाहरण नीरस हो गये है —

केस-से केस, लसै मुख-सो मुख,
नैन-से नैन रहे रंग सो छकि ।

पर्यायोक्ति अलकार मे किसी बात को भङ्ग्यन्तर से कहा जाता है। अधिकतर उदाहरणो मे सखी नायक-नायिका को मिलने का अवसर देने के लिए किसी व्याज से खिसक जाती है। देव कवि का उदाहरण हास्यास्पद बन गया है —

भेंटि तो लेहु भटू उठि स्याम कों आजु ही की निसि आये है ओऊ ।
हौ अपने दृग मूंदति हौ धरि, धाइ के आज मिलौ तुम दोऊ ॥

सखी कह रही है कि यही अवसर है आज तुम दोनो गले मिल लो, मै तब तक अपनी आँखे बन्द कर लेती हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि वृद्धा माता रूठे हुए बच्चो को मेल करने के लिए फुसला रही हो—मैने आँखे बद कर ली, मेरी रानी बेटी अभी अपने भैया के गले लगती है, रानी बेटी, राऽऽनी .।

देव कवि के उदाहरणो मे सरसता अवश्य है, वे मधुर है, मनोहर है। ऊर्जस्वल का

उदाहरण लोकोक्ति बन गया है और रसवत् मे कोमलता का ऐश्वर्य है —

छांडि दै मान री, मान कह्यौ, कहुं भान कौ तेजु कृसानु पै रैहे। (ऊर्जस्वल)
आज् को आयौ समीर सखी री, सरोज कँपाइ, करेजो कँपायन ॥ (रसवत्)

भावविलास मे परिवृत्ति अलकार का लक्षण तो सदोष है, परन्तु उदाहरण सरस है, विशेषत अतिम चरण मे तो स्वाभाविक विनिमय बडा प्रभावशाली है, 'हीन-पीन', 'जात-आवत', तथा 'बैठत-उठत' का आदान-प्रदान कितना सुन्दर है —

हीन होत कटि-तट, पीन होत जघन,
राघन सोच लोचन ज्यों नाचत सरोज है।
जाति लरिकाई तरुनाई तन आवत सु,
बैठत मनोज देव उठत उरोज है॥

आचार्यत्व

'भावविलास' देवकवि का बालप्रयत्न है, इसमे भावना का अतिरेक तथा हृदय की कोमलता तो मिलती है, परन्तु मस्तिष्क की प्रौढता नही। दूसरे आचार्य बालाना सुख-बोधाय या काव्यरसिको के लिए लिखा करते थे; देवकवि ने 'सहर्ष' लिखा है। अस्तु, इस कृति से देवकवि के विषय मे कोई अनुमान नही लगाया जा सकता। यह पुस्तक किसी भी अर्थ मे पूर्ण नही है। इसमे शब्दालकार नही है, अर्थालकारो मे भी अनेक महत्वपूर्ण छूट गये है, जिन अर्थालकारो को स्थान नही मिला उनका अन्तर्भाव भी अन्यत्र नही है, उत्प्रेक्षा जैसे अलकार के भी भेद नही दिये, अलकारो का क्रम किसी व्यवस्था का सूचक नही है। लक्षण अपूर्ण एव अशुद्ध है, तथा उदाहरण अनुपयुक्त। कदाचित् कवि ने उस समय तक सस्कृत के आचार्यो का अध्ययन नही किया था।

केशव ने कविप्रिया के तीसरे प्रभाव मे यह लिखा था कि मै कविप्रिया की रचना इसलिए कर रहा हूँ कि बाला तथा बालक भी वर्णन के अगाध पथ को पहिचान ले।[1] किशोर देवदत्त ने इस कथन पर विश्वास कर लिया और हर्ष की तरग मे 'भाव-विलास' की रचना कर डाली, मानो कोई तेज विद्यार्थी अपने क्लास नोट्स को फिर से लिखकर अपने नाम से एक आलोचनात्मक पुस्तक छपवा रहा हो।

केशव का प्रभाव अलकारो के नाम और लक्षण दोनो ही मे है। पक्ष मे एक ही बात है कि प्रौढ़ केशव की तुलना मे किशोर देव के उदाहरण अधिक कोमल, चचल तथा सरस है।

---

(१) समझै बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध।
कविप्रिया केशव करी, छमियो कवि अपराध॥

देवकवि : काव्य-रसायन

(स० १७६०)

भाव-विलास लिखने के लगभग १८ वर्ष उपरान्त देव कवि ने काव्यशास्त्र सबधी दूसरा ग्रथ 'शब्द-रसायन' या 'काव्यरसायन' लिखा, जो प्रथम ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक सविस्तर तथा प्रौढ है। अब तक देव ने भाषा, प्राकृत तथा सस्कृत के ग्रथो का अध्ययन कर लिया था और बडे-बडे आचार्यो की सगति[1] से भी लाभ उठाया था। अत काव्य-रसायन अपने विषय का प्रौढ ग्रथ बन गया है। इस ग्रथ मे एकादश प्रकाश है। अष्टम प्रकाश मे शब्दालकार तथा नवम प्रकाश मे अर्थालकार लिखने के बाद देवकवि ने दशम तथा एकादश प्रकाशो मे छन्द का वर्णन किया है। इस प्रकार विषय-वस्तु की दृष्टि से काव्य-रसायन समकालीन अनेक ग्रथो से अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण है। यदि दोष-विषय का भी समावेश हो जाता तो वस्तुत यह पुस्तक अपने विषय की पूर्ण रचना बन जाती।

इस ग्रथ के दोनो नाम प्रसिद्ध है। उपलब्ध प्रति मे 'काव्यरसायन'[2] नाम भी है, तथा 'शब्दरसायन'[3] भी। 'काव्यरसायन' नाम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, शब्द और अर्थ[4] का सम्पृक्त सौन्दर्य ही 'काव्य' शब्द से अभिहित किया जाता है, अत तद्विषयक ग्रन्थ मे केवल 'शब्द' शब्द के स्थान पर शब्दार्थ-सार 'काव्य' नाम अधिक समीचीन है, काव्य का सार रस है, अत 'काव्य' तथा 'रस' के अयन का नाम 'काव्य-रसायन' होना ही चाहिये। 'शब्द-रसायन' नाम विषय-बोध मे उतना समर्थ नही, शब्दार्थ-रसायन के स्थान पर शब्द-रसायन 'अर्थ' की अकारण ही अवहेलना कर देता है।

सामान्य सिद्धान्त

काव्य-रसायन लिखते-लिखते देवदत्त आचार्य बन गये थे, और काव्य-सबधी सिद्धातो का प्रतिपादन भी करने लगे थे। ग्रन्थ मे यह तो बतलाया ही है कि इसमे भाषा, प्राकृत तथा सस्कृत ग्रन्थो के साथ-साथ सगति से भी लाभ उठाया गया है। ससार मे और सब (उच्च कुल, सुन्दर प्रासाद, अपार धन, वृक्षारोपण, सरोवर-खनन, कूप-निर्माण आदि स्थायित्व वाली) वस्तुएं भगुर[5] है, अमर है केवल यश, जो रस के मूर्त रूप[6] भव्य काव्य

(१) **भाषा, प्राकृत, संस्कृत, देखि महाकवि पंथ ॥**
(२) **देवदत्त कवि रस रच्यौ, काव्य-रसायन ग्रन्थ ॥**
(३) **शब्द-रसायन नाम यह, शब्द-अर्थ रस-सार ।**
(४) **काव्य सार शब्दार्थ को, रस तिहि काव्यसार ।**
(५) **रहत न घर-वर, धाम, धन, तरुवर, सरवर, कूप ।**
जस-सरीर जग में अमर भव्य काव्य रस-रूप ॥
(६) **तुलना कीजिए :—जयन्ति ते सुकृतिनो, रससिद्धाः कवीश्वराः ।**
नास्ति येषांयशः काये, जरामरणजं भयम् ॥

पर निर्भर है। काव्य शब्द और अर्थ के अपूर्व सयोग[१] का नाम है। काव्य में समन्तात् सारभूत[२] (आ+सार), मुख्य[३] या भव्यता (उत्तमता) का आधार[४] रस ही है।

रस ब्रह्मानन्द सहोदर (हरि[५] जस[६] रस आनन्द, जस=समान, सहोदर) है, इसकी निष्पत्ति भाव[७] पर निर्भर है[८], जब तक सत्त्वोद्रेक[९] न होगा तब तक ब्रह्मानन्द सहोदर रस की निष्पत्ति नही हो सकती। अलकार मे रस-सार काव्य मे उत्कर्ष[१०] आता है[११]। भाव-प्रवणता, (अनुकूल) छन्दोयोजना, तथा उत्कर्षविधायक अलकारो से काव्य मे सरसता आती है, और वह सर्वांगपूर्ण अत समर्थ[१२] बन जाता है—वस्तुत ऐसे काव्य का रचयिता समर्थ कवि है।

देव कवि के मत मे भाषा (मानुष भाषा) के पाँच अग है—रस, भाव, नायिका, छद तथा अलकार, इनके कारण ही कविता रचयिता तथा श्रोता को आनन्द प्रदान करती है[१३], इन अगो मे मुख्य अग रस है। रस तथा भाव पृथक् वस्तुएँ नही है, और नायक-नायिका रस के आलम्बन है, अत रस, भाव तथा नायिका को तीन स्वतत्र अग नही माना जा सकता, देवकवि का अभिप्राय यह जान पडता है कि रस-परिपाक, भाव-योजना तथा नायिकाभेद कविकर्म के तीन अनिवार्य अग है, इनसे सुपरिचित होकर ही वह भाषा का कवि हो सकता है। छन्द, तथा अलकार भी कविकर्म की दृष्टि से ही काव्याग है। सस्कृत मे रसरूप आत्मा के अतिरिक्त दोष, गुण, अलकार तथा रीति काव्य के अग

(१) **काव्य सार शब्दार्थ को।**

(२) **रस तिहि काव्यासार।**

(३) **मानुष भाषा मुख्य रस।**

(४) **भव्य काव्य रस-रूप।**

(५) **केशव ने 'उत्तम मध्यम अधम कवि, उत्तम** हरि-रस लीन' (कविप्रिया, **चौथा प्रभाव, २) लिखा है; देवकवि का अभिप्राय तथैव प्रतीत नहीं होता, वे रस-प्रतिपादन कर रहे है, कवि-भेद नही बता रहे।**

(६) **जब लगि लगि बरसत नहीं, हरिजस रस आनन्द।**

(७) **सो रस बर सत भाव बस।**

(८) **नाना द्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा।**
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह॥ (नाट्यशास्त्रम्, ६ अध्यायः, ३६)

(९) **जब लगि लगि बरसत नहीं, हरिजस रस आनन्द।**

(१०) **अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्.....काव्यस्यात्मभूतं**
रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते। (साहित्यदर्पण)

(११) **सो रस बरसत भाव-बस, अलंकार अधिकार।**

(१२) **भाव, छन्द, भूषण, सरस सो कहि काव्य समर्थ।**

(१३) **मानुष भाषा मुख्य रस, भाव, नायिका, छन्द।**
अलंकार पंचांग ये, कहत सुनत आनन्द॥

माने गये है[1] । देव ने यह देखा कि दोष, गुण तथा रीति पर भाषा-कवि ध्यान देने नही, उनकी रुचि नायिका-भेद, बहु छन्द[2], तथा अलकार वर्णन मे है, अत. इन पाच को उन्होने काव्य-पचाग मान लिया। ये सस्कृत मे नही होते—सस्कृत के आचार्य छन्द विषय को अलग समझते है, प्राकृत भाषाओ मे भी नायिका-भेद तथा छन्द का इतना ध्यान नही है, प्रत्युत राग-ताल का अधिक समावेश है, अत· ये 'भाषा' की ही अगभूत विशेषताएं हुई।

अलकार-विषयक मान्यताएं

केशवदास की शब्दावली मे देव कवि कहते है —

कविता-कामिनि सुखद प्रद, सुबरन, सरस, सुजाति ।
अलंकार पहिरे, अधिक अद्‌भुत रूप लखाति ।।

कविता-कामिनी के विषय मे यह कथन उपर्युक्त काव्य के पचागो से मेल नही खाता, अलकार, छन्द (सुजाति), तथा रस तो यहा माने जा सकते है परन्तु भाव तथा नायिका है या नही, और 'सुबरन' अधिक आ गया है। अनुमान से जान पडता है कि पचाग मे देव कवि की व्यवहार-बुद्धि बलवती थी, और कविता-कामिनी के इस वर्णन मे वे परम्परा मे बह गये है। अस्तु, अलकार को यहा भी उत्कर्षहेतु माना गया है। अलकार जिस रस का उत्कर्ष है, वह रस शब्दार्थात्मक है, अत शब्दालकार भी अनुकूल वर्णयोजना द्वारा रस का सहायक है। इसी अर्थ मे देव ने अनुप्रास और यमक को रस-रीति[3] का परम सहायक बताया है, अनुप्रास को तो रस का ओघ[4] ही मान लिया, क्योंकि वृत्त्यनुकूल वर्णयोजना गुण का आधार है और गुण रस का नित्य धर्म है।

रस-रहित अलकार व्यर्थ है, इसीलिए देव ने चित्र मे अनुराग नही दिखाया[5]। चित्र से यहा अभिप्राय चित्रालकार तथा चित्र काव्य दोनो का है—अधिकतर हिन्दी-आचार्य दोनो को मिला बैठे है। ऐसा चित्र काव्य[6] अर्थहीन[7] होने के कारण मृतक[8] है, उस 'कठिन अर्थ के प्रेत,'[9] से कोई लाभ नही। रसात्मक (पदोच्चय)[10] वाक्य अर्थ-

(१) **वाक्यं रसात्मकं काव्यं, दोषास्तस्यापकर्षकाः ।**
उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः ।। (साहित्यदर्पण)
(२) **रामचन्द्र की चन्द्रिका वर्णत हौ बहु छन्द । (केशव)**
(३) **अनुप्रास अरु यमक कहि, हैं सनाथ रस-रीति ।**
(४) **अनुप्रास रस-पूर ।**
(५) **चित्र कह्यौ संक्षेप ते, है विचित्र विस्तार ।**
(६) **शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् । (काव्यप्रकाश)**
(७) **मृतक कहावै अर्थ बिन । (केशव)**
(८) **मृतक काव्य बिनु अर्थ कौ । (देव)**
(९) **मृतक काव्य बिनु अर्थ को, कठिन अर्थ के प्रेत ।**
(१०) **वाक्यं.....पदोच्चयः । (साहित्यदर्पण)**

सवलित काव्य है, उसको त्यागकर जो व्यक्ति अर्थहीन शब्दचित्राभिमुख[1] होता है, वह उस वायस के समान है जो रसागार दधि, घृत, मधु, पायस आदि पदार्थों को छोडकर नीरस निर्जीव चर्म को अपने दातो से कटकटाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'अर्थ' से देव-कवि का अभिप्राय 'व्यग्यार्थ' है, जिसके अभाव मे काव्य शब्दमात्राश्रित चित्रकाव्य रह जायगा। 'पदार्थ' का श्लिष्टार्थ, तथा 'पायस' 'वायस' का यमक भले ही इस दोहे को चमत्कारपूर्ण बनाकर 'शब्द-चित्र' की अपेक्षा 'पद-अर्थ' के प्रति देव का पक्षपात दिखा सके, परन्तु इस कथन मे कोई विशेष सिद्धात नही दिखाई पडता--निर्जीव चर्म मे यदि 'सूखा चमडा' समझा जाय तो उसका चबाना वायस का स्वभाव नही, यदि 'मास' मात्र ले तो वह भी दधि आदि के समान ही सरस पदार्थ है, यदि दधि आदि मे प्रपानकरसन्याय मे चर्व्यमाण अखण्डस्वरूप रस का सकेत ले तो अर्थहीन मृतक काव्य का चर्वण चाम चबाना माना जा सकता है, परन्तु वायस का अध्याहार क्या इसी आधार पर कर लिया जाय कि वर्णसाम्य होने पर भी स्वर मे कोकिल सरस तथा काक शुष्क-कठोर होता है?

केशवदास की शब्दावली[2] मे देव ने यह स्वीकार किया है कि सरस-काव्य से भगवत्प्रीति[3] उत्पन्न होती है। ऊपर हम 'हरि जस रस आनन्द' का दूसरा अर्थ कर चुके है, वर्त्तमान उद्धरण की छाया मे उस अर्थ मे परिवर्त्तन करने की हमारी कोई इच्छा नही, देव मे विचार-निर्वाह सर्वत्र नही है, यह हम 'पचाग' तथा 'कविता-कामिनी' के प्रसग मे ऊपर देख चुके है। अस्तु, यह सभव है कि देव को 'हरि जस रस आनन्द' का उपर्युक्त अर्थ ही अभीष्ट हो, तथा सरस काव्य से भगवत्प्रीति की उत्पत्ति भी वे मानते हो। काव्य से परमानन्द की प्राप्ति तो होती ही है, भक्ति तथा मोक्षाभिप्रेरणा भी सुलभ है।

भाव-विलास मे देव कवि शब्दालकार को भूल ही बैठे थे, कारण यह कि केवल शब्द-सौदर्य को वे अर्थहीन अत निर्जीव मानते है। फिर भी काव्यरसायन मे शब्दालकार प्रकरण है, और अनुप्रास तथा यमक को तो इतना महत्त्व मिला कि इनसे कवि-परम्परा सनाथ[4] मानी गई--अनुप्रास तो गुणाश्रय होने के कारण रसोघ[5] बतलाया गया। देव कवि मे विचार-निर्वाह नही है। अन्यत्र वे अनुप्रास तथा यमक को चित्र-काव्य के मूल[6] भी कह देते है। या तो अनुप्राम और यमक मे रस-रीति सनाथ नही हो सकती, या ये चित्र-काव्य के मूल नही हो सकते, क्योकि रस-काव्य और चित्र-काव्य का परस्पर मे वही सम्बन्ध है जो दधि आदि सरस पदार्थ और नीरस निर्जीव चर्म का।

अर्थालकारो मे उपमा तथा स्वाभावोक्ति मुख्य है, यह सकेत भाव-विलास मे भी

(१) **सरस वाक्य, पद-अर्थ तजि, शब्द-चित्र समुहात।**
दधि, घृत, मधु, पायस तजत, वायस चाम-चबात॥

(२) **है अति उत्तम ते पुरुषारथ जे परमारथ के पथ सोहें। (कविप्रिया)**

(३) **सरस भाव, रसकाव्य सुनि, उपजत हरि सौ हेत।**

(४) **अनुप्रास अरु यमक कहि, है सनाथ रस-नीति।**

(५) **अनुप्रास रस-पूर।**

(६) **अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र काव्य के मूल।**

प्राप्त था, काव्य-रसायन मे इसका स्पष्ट कथन है --

अलंकार में मुख्य है, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारनि विषै, परगट प्रगट प्रभाव॥

वस्तुत यह कथन सदोष है, उपमा को तो अनेक सादृश्यमूलक अलकारो का आधार माना जा सकता है परन्तु स्वभावोक्ति को नही। अतएव देव ने अपने इस कथन मे सुधार किया है --

सकल अलंकारनि विषै, उपमा अंग लखाहि।

यह कथन भी सुधारापेक्षी है। उपमा अग नही, अगी होना है। अस्तु, उपमा की महत्ता सभी आलकारिको ने स्वीकार की है। चित्रमीमासाकार के मत मे विभिन्न भूमिका-भेदो को प्राप्त करने वाली शैलूषी के समान एक उपमा ही, काव्य-रग मे नृत्य करती हुई, वेत्ताओ के चित्त का रजन करती है --

उपमैका शैलूषी संप्राप्ता, चित्रभूमिकाभेदान्।
रंजयति काव्यरंगे, नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥

अलकारो की सख्या

भावविलास मे ३९ अलकार मुख्य माने गये थे, परन्तु काव्यरसायन मे ४० अलकार मुख्य है तथा ३० अलकार अमुख्य या गौण। परन्तु अर्थालकार ४० + ३० = ७० ही हो, ऐसी बात नही, मुख्य तथा गौण के मिश्रण से अनन्त भेद हो सकते है, इन वाच्य (प्रकट) तथा व्यग्य (गुप्त) अलकारो को तद्वेत्ता जानते है --

मुख्य गौन विधि भेद करि, है अर्थालंकार।
मुख्य कहौ चालीस विधि, गौन सुतीस प्रकार॥
मुख्य, गौन के भेद मिलि, मिश्रित होत अनन्त।
गुप्त प्रकट सब काव्य मे, समुझत है मतिमन्त॥

भावविलास के ३९ अलकारो मे से ३२ लेकर उनमे ८ नये जोड दिये है, और मुख्य अलकारो की सख्या ४० हो गई है। भावविलास के परित्यक्त ७ अलकारो मे से उपमेयोपमा तथा अनन्वय उपमा के भेद बन गये है, भाविक, सकीर्ण तथा आशिष गौण कहलाये है, एव समाहित तथा अर्थान्तरन्यास को छोड ही दिया है। उल्लेख, समाधि, दृष्टात, विरोधाभास, असभव, असगति, परिकर तथा तद्गुण मुख्य अलकार काव्य-रसायन मे भावविलास से अधिक है। ये आठो नये मुख्य अलकार चन्द्रालोक मे वर्णित है, काव्य-प्रकाश मे उल्लेख तथा असभव और साहित्यदर्पण मे विरोधाभास तथा असभव नही मिलते। अत ये आठ अलकार काव्यप्रकाश या साहित्यदर्पण की अपेक्षा चन्द्रालोक के प्रभाव से आगत माने जाये तो अधिक मान्य प्रतीत होगा।

गौण अलकार ३० है, सब कुवलयानन्द मे पाये जाने वाले। फिर भी प्रतीप, परिणाम, प्रतिवस्तूपमा, विनोक्ति, परिसख्या तथा काव्यलिग का उल्लेख नही है। देव के नये अलकार गुणवत्, लेख तथा प्रत्युक्ति है। गुणवत् रसवत् का ही अनुकरण है इसको अनुप्रास का ही एक भेद माना जा सकता है, उससे भिन्न सौदर्य यहाँ दृष्टिगोचर नही होता।

लेख मे कोई अलकारत्व नही। प्रत्युक्ति उत्तर या प्रश्नोत्तर का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार देव कवि के नये अलकार किसी प्रौढता का परिचय नही देते।

अलकारो के मुख्य तथा गौण भेद किसी विशेष आधार पर आश्रित नही जान पडते। भावविलास के सब अलकार यहाँ मुख्य हो तथा नवागतो को गौण कह दिया हो—ऐसी भी बात नही। भामह, दण्डी आदि के अलकारो को मुख्य तथा मम्मट, विश्वनाथ आदि के अतिरिक्त अलकारो को गौण मानना भी लक्षित नही होता। सस्कृत के किसी भी आचार्य के अलकारो की सख्या ४० या ४०+३०=७० नही है, यह तो देव की अपनी सूझ है। मुख्य-गौण भेद के तीन प्रधान आधार जान पडते है। (१) एक ही आधार के दो अलकारो मे से एक को मुख्य तथा दूसरे को गौण कह दिया है, जैसे तद्गुण मुख्य अलकार है, अतद्गुण गौण, दीपक मुख्य है, मालादीपक गौण। (२) अनुकरणीय को मुख्य तथा अनुकरण को गौण नाम मिला—रसवत् मुख्य है, उसका अनुकरण गुणवत् गौण। (३) प्राचीन परम्परा, विशेषत दण्डी-केशव, के अलकार मुख्य है, चन्द्रालोक और विशेषत कुवलयानन्द के नवजात अलकार गौण। देव कवि ने जहा सरसता अधिक देखी होगी वहा मुख्यता मान ली होगी, अन्यत्र गौणता रह गई।

अलकारो के लक्षण

काव्य-रसायन मे अलकारो के लक्षण दोहा छन्द मे है। प्राय एक दोहे मे एक अलकार का लक्षण लिखकर पश्चात् उस अलकार के अनेक भेदो के उदाहरण कवित्त आदि मे है, अन्त मे 'इति दीपक', 'इति सकल जाति रूपक आदि लिख दिया है, अलकार-भेदो के लक्षण नही दिये, उदाहरण दे दिये है, अत पाठक अधकार मे रह जाता है। यत्र-तत्र कई अलकारो के लक्षण एक साथ और फिर उदाहरण एक साथ है।

सामान्यत अलकारो मे इतनी सामर्थ्य नही कि रूप का चित्र खिच सके, कही-कही तो नाम के अतिरिक्त और कुछ हाथ नही लगता। समासोक्ति तथा पर्यायोक्ति के लक्षण एक ही दोहे मे इस प्रकार है —

समासोक्ति कछु वस्तु लखि, कहिये ता सम और।
पर्यायोक्ति सु चाहि कछु, और कहै कछु और॥

'समासोक्ति मे किसी वस्तु को देखकर उसके समान किसी दूसरी वस्तु का वर्णन किया जाता है,' यदि इस लक्षण को ठीक माने तो मुख को देखकर चन्द्र का (निन्दात्मक) वर्णन समासोक्ति कहलावेगा। 'कुछ चाहते हुए कुछ और कहना' भी पर्यायोक्ति नही है। काव्यरसायन के ये लक्षण भावविलास के लक्षणो से भी हीन है। उपमा तथा सादृश्यमूलक समस्त अलकारो का प्रकरण समाप्त हो जाता है, परन्तु पाठक उपमा के चार अगो से परिचित ही नही हो पाता।

जयदेव ने अलकार-विवेचन मे स्मृति, भ्रान्ति तथा सदेह[1] के अलग लक्षण नही दिये, इनको लक्षणवाचक समझ लिया है। देव कवि के भी कुछ लक्षण इसी प्रकार के है —

(१) स्यात् स्मृति-भ्रान्ति-सन्देहैस्तदेवालंकृतित्रयम्।

हेतु सहेतु, समै सहज भाव सहोक्ति सुजानि ।
सूक्षम सूक्षम चेष्टा, लेस खुलत छिपि जानि ॥

सक्षिप्त लक्षण ही नही, कही-कही तो वे स्पष्ट '**लक्षण नाम प्रमाण**' को स्वीकार करने दिखाई पडते है,(इसी प्रवृत्ति का फल था कि आगे चलकर कविराजा मुरारिदान ने समस्त अलकारो के नाम ही लक्षण सिद्ध कर लिये) ––

(क) दृष्टान्तालंकार सो लक्षन नाम प्रमान ।
(ख) जहां अर्थ संभव नहीं, ताहि असम्भव भाखि ।
(ग) गूढ़ उक्ति के गूढ़ ।
(घ) सुमिरन सुमृति, सुभ्रान्ति भ्रम, बिन निश्चय सन्देह ।
निश्चय बिन संदेह ये, जानि नाम ते लेह ॥

भावविलास तथा काव्यरसायन के मुख्य अलकार प्राय एक होते हुए भी दोनो पुस्तको के लक्षण एक ही नही है, उनकी शब्दावली तो अलग है ही, साराश भी एक नही है । यह कहना कठिन है कि लक्षणो की दृष्टि से देव कवि किस पुस्तक मे कम सफल है, सामान्यत काव्यरसायन मे प्रौढता है, भले ही सरसता तथा स्पष्टता न हो ।

अलकारो के उदाहरण

काव्य-रसायन मे अलकारो के उदाहरण प्राय बडे छन्दो मे है, तथा रूपक के उदाहरण के अतिरिक्त शेष सब नये बनाये है––भावविलास मे नही लिये । प्राय एक भेद का एक ही उदाहरण बनाया है; परन्तु कुछ प्रसगो (यथा आक्षेप) मे सयम नही रहा । एक ही छन्द मे एक से अधिक अलकारो के उदाहरण भी है, यथा स्मृति, भ्रान्ति, सन्देह तथा निश्चय के एक ही मत्तगयद सवैये मे, या विकल्प, सकीर्ण, भाविक तथा आशिष के एक मे, या विधि, निषेध, अत्युक्ति तथा प्रत्युक्ति के एक सवैये मे ही ।

अलकार के उदाहरण उपयुक्त कम है, मनोहर अधिक । सौदर्य उस अलकार का न भी हो परन्तु यमक तथा अनुप्रास की आभा देखने योग्य होती है ––

(क) खेल मे खेलत खेल नये-नये, नाहीं मे नाह सों नेह जनावै ।
राधिका सी रमनीय रमा, रति कौन लगै, रति कौन कहावै ॥
(उदाहरण अर्थापत्ति का है, परन्तु चमत्कार अनुप्रास मे है)

(ख) ह्यां तें उहां अति नीके, रहौ, पति नीके रहौ, पतिनी के रहौ किनि ।
(आशिष के उदाहरण मे यमक बाजी मार ले जाता है)

(ग) देव छिदी छतियां न छिदी उचकी कुचकोर चकोर-चखी की ।
(असगति का सौदर्य अनुप्रास तथा यमक की आभा मे छिप गया है)

काव्यरसायन के कुछ उदाहरण दोहो मे भी है, जिन पर भाषाभूषण की आवश्यकता से अधिक छाप है । सभव है जिस प्रकार एक उदाहरण चेतचन्द्रिका से आया है उसी प्रकार कुछ भाषाभूषण से भी ले लिये हो, परन्तु नामपूर्वक उल्लेख अवश्य करना चाहिए था, दो दोहे तो साक्षात् जसवतसिह के है ही .––

है परिकर आसय लिए, जहाँ विसेसन होय ।
ससि-वदनी यह नायिका, ताप हरति है जोय ॥
तद्गुन तजि गुन आपनो, संगति को गुन लेय ।
बेसर मोती अधर मिलि, पद्मराग छवि देय ॥

भावविलास के समान काव्यरसायन के उदाहरण रमणीय है, उनमे काव्यगुण है भले ही वे अलकार को स्पष्ट न कर पाते हो। निम्नलिखित पक्तियो का सौदर्य देखिए --

(क) हौं ही भुलानी की भूले सबै कहैं ग्रीषम मैं सरदागम माई।
(ख) इंदु उदै उदयो उरधाम सुकाम जग्यो संग जामिनि जागे।
(ग) चन्द्रिका मन्दिर चन्द्रमुखी मिलि सारद सिंधु मैं पारद बिंद सौ।
(घ) जोबन आयो न, पाप लग्यौ, कहि देव रहैं गुरु लोग रिसोहैं॥

शब्दालकार

भावविलास मे शब्दालकार नही थे, परन्तु काव्यरसायन का अष्टम प्रकाश इसी विषय मे लगा है। शब्दालकार ४ है--अनुप्रास, यमक, सिहावलोकन तथा चित्र। काव्य मे अर्थ (व्यग्यार्थ) की महत्ता के कारण अर्थालकार का भी विशेष स्थान है, शब्दालकार वाला काव्य चित्रकाव्य[1] है, इसमे विचित्र अक्षर और वर्ण होते है--समर्थ अर्थ[2] की उपलब्धि नही होती। अनुप्रास तथा यमक चित्रकाव्य के मूल[3] है, इसलिए सर्वप्रथम इन्ही का वर्णन है।

अनुप्रास के भेद नही दिये, परन्तु इसको रस से भरा-पूरा[4] माना है--देव कवि के समस्त काव्य मे अनुप्रास के सौदर्य की ओर पाठक का ध्यान अवश्य जाता है। तदनन्तर यमक है। ऊपर कहा जा चुका है कि अनुप्रास तथा यमक को देव ने शब्द-सौदर्य-जन्य रम्यता का प्राण कहा है, अत यहाँ यमक के १२ भेदो का वर्णन है[5]। सिहावलोकन यमक का ही एक रूप है, देव ने इसका लक्षण नही दिया, परन्तु दास के अनुसार छन्द के चरणान्त का अक्षर यदि दूसरे चरणारम्भ मे यमक बनावे तो उस सौदर्य को सिहावलोकन कहते है। यमक के उदाहरणो मे निरर्थक शब्दो की पूरी खिलवाड है --

जोबन-जोतिन की मधुराई सों, जोबन जोतिन की मधुराई।
सोधन-सोधन कोधन धाई सों, सोधन-सोधन को न सुधाई।

यही निरर्थक शब्द-जंजाल देव के काव्य का प्राण है और इसी से वे कवि-परम्परा को सनाथ मानते है। फिर भी, आश्चर्य यह है कि, वे किसी आदर्श की लहर मे शब्द-चित्र को सूखे चर्म के समान निर्जीव एव नीरस कह बैठे।

शब्दालकारो के अन्त मे चित्र है। केशव ने इसको पूरा एक प्रभाव दिया था, देव को भी

(१) अलंकार जे शब्द के, ते कहि काव्य सुचित्र।
(२) अर्थ समर्थ न पाइयत, अक्षर बरन विचित्र।
(३) अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र-काव्य के मूल।
(४) अनुप्रास रस-पूर।
(५) याते द्वादस रीति रस, कवि बरनत करि प्रीति।

कज़मी स्वीकार्य न थी, लम्बे-चौडे वर्णन के उपरान्त भी वे कुछ खिन्न मन से कहते है कि चित्र का विस्तार तो बहुत अधिक है परन्तु मैंने सक्षेप मे ही इसकी चर्चा[1] की है, क्योकि 'शब्द-रसायन' नामक पुस्तक मे रसपूर्ण शब्द तथा अर्थ को ही स्थान मिलना चाहिए। वस्तुत देव के मत मे शब्दालकार तथा चित्रकाव्य एक ही वस्तु है। शेष ३ अलकारो मे से अनुप्रास तथा यमक तो चित्र के आधार या अग है एव सिंहावलोकन यमक का ही एक रूप है। अत अनुप्रास-यमक-विशिष्ट चित्र ही एकमात्र शब्दालकार है, परन्तु है यह अर्थ-हीन मृतक काव्य ही। क्या इसी हेतु देव कवि ने भावविलास मे शब्दालकार की उपेक्षा कर दी थी ?

उपमा-चक्र

काव्य-रसायन मे उपमा के २० भेद है, जिनमे से कुछ भेद नये से भी जात पडते है, अधिकतर भेद ऐसे है जिनका अन्तर्भाव अन्यत्र हो सकता है। एक ओर तो स्मृति, भ्रान्ति सन्देह, निश्चय, असम्भव, उल्लेख, तथा स्वभावोक्ति स्वतत्र अलकार है, दूसरी ओर स्मरणोपमा, भ्रमोपमा, सन्देहोपमा, निश्चयोपमा, असभवोपमा, उल्लेखोपमा, तथा स्वभावोपमा उपमा के भेद भी है। देवकवि ने अर्थालकारो मे किसी व्यवस्था का ध्यान नही रखा और भेदोपभेद न देने की जो कमी भावविलास मे रह गयी थी उसका बदला काव्यरसायन मे चुका लिया गया। उपमा के अनेक भेदो मे प्रभाव केशव और अन्ततो-गत्वा दण्डी का है। सदेहोपमा, तर्कोपमा, उचितोपमा, नियमोपमा, अधिकोपमा, अमा-नोपमा, निश्चयोपमा, असभावोपमा, प्रतिकारोपमा, मालोपमा, उपमेयोपमा, सकीर्ण भावोपमा क्रमश केशव की सशयोपमा, हेतूपमा, भूषणोपमा, नियमोपमा, गुणाधिकोपमा, अतिशयोपमा, निर्णयोपमा, असभावितोपमा, विरोधोपमा, मालोपमा, परम्परोपमा, तथा सकीर्णोपमा है। सकलवाक्योपमा, सर्वांगोपमा, स्वभावोपमा, सम्यक् योगोपमा, एकदेशोपमा, अनन्वयोपमा आदि भेद भी केशव से ही आये हुए प्रतीत होते है। देवकवि ने नाम मे यत्किंचित् परिवर्तन द्वारा जो मौलिकता का प्रयत्न किया है, वही उलझन का कारण है, यदि प्रत्येक भेद का लक्षण दिया जाता तो कदाचित् समस्या कुछ सुलझ जाती।

आचार्य देव

रीतिकालीन साहित्यिको मे देवकवि का नाम बडा ऊचा समझा जाता है, क्योकि जितनी पुस्तके इन्होने लिखी थी उतनी किसी दूसरे ने नही, और इनमे विविधता है, प्रतिभा है—१६ वर्ष की आयु मे ही इधर-उधर की सुनकर एक पुस्तक लिख देना कम चतुरता की बात नही। कुछ दिन हुए देव को रीतिकाल का सबसे बडा कवि समझा जाता था और उनके भक्त बिहारी को ताल ठोक कर ललकारते थे। अब यह निर्णीत-सा है कि देव मे जितनी चतुरता है उतनी प्रतिभा नही, अवश्य ही वे पुस्तक-निर्माता के रूप मे रीतिकाल के प्रसग से सदा याद किये जायेगे।

(१) **शब्द रसायन नाम यह, शब्द अर्थ रस सार।**
चित्र कह्यौ संक्षेप तें, है विचित्र विस्तार॥

देव की प्रथम रचना भावविलास थी, वह भी १६ वर्ष की आयु मे लिखी हुई, तब क्यो न देव को रीतिकाल का सबसे प्रतिभाशाली आचार्य मान ले, विशेषत जब कि उन्होने काव्यशास्त्र पर एक और भी पुस्तक लिखी है--पहिली से अधिक पूर्ण, अधिक प्रौढ ? सर्वांग या अनेकांग निरूपको मे देव का नाम भी है ही, उन्होने छन्द पर भी लिखा है, और मुनि (सस्कृति के पुराने आचार्य)तो केशव और देव को ही आकृष्ट कर सके है। अलकारो का मुख्य तथा गौण मे वर्गीकरण, तथा इनके अतिरिक्त अलकारो को वाच्य (प्रकट) तथा व्यग्य (गुप्त) वर्गो मे रखने का सकेत देव मे ही है। अनुप्रास तथा यमक को एक ओर रसरीति का आधार तथा दूसरी ओर चित्र का मूल देव कवि ने ही बतलाया है। व्यग्यार्थयुक्त काव्य को सरस पदार्थ, तथा शब्द-चमत्कार-विशिष्ट चित्रकाव्य को नीरस निर्जीव वायस द्वारा भक्ष्यमाण चर्मखण्ड कहकर देव कुछ लोगो को अपना समर्थक बना ही सकते है।

परन्तु देवकवि का आचार्यत्व उनके कवित्व मे भी शिथिल है। जितनी उलझन उनमे है उतनी किसी दूसरे मे शायद नही। वे एक कृति मे भी अपनी विचार-धारा का निर्विरोध निर्वाह नही कर पाये, कारण यह प्रतीत होता है कि उनकी कोई विचार-धारा नही--जैसा कुछ कही देखा उसको कुछ बदलकर अपना कहकर चलना किया ऊपर दिखाया जा चुका है कि अनुप्रास तथा यमक के विषय मे उनका क्या मत है यह स्पष्ट नही है--कम से कम दो मत तो है ही, परस्पर मे विरोधी। काव्य के अगो मे वे किस-किस को गिनते है--इसके भी काव्यरसायन मे तीन सिद्धात है। अस्तु, सिद्धात-प्रतिपादन की दृष्टि से देव कवि असफल है, या उनमे सिद्धातविषयक शोध व्यर्थ है।

देव पर किसका प्रभाव था, यह कहना भी कठिन है। नाम लेने के कारण उन पर सस्कृत के पुराने आचार्यो का प्रभाव जान पडता है, रस की बारम्बार चर्चा करने से वे विश्वनाथ के सम्प्रदाय मे सम्बद्ध प्रतीत होते है, गौण अलकार तथा अन्य वाच्य एव व्यग्य भेदोपभेदो मे उनको अप्पयदीक्षित के साथियो मे रखने की इच्छा होती है। फिर भी यह निर्विवाद-सा है कि देवकवि केशवदास के प्रच्छन्न शिष्य थे, भावविलास के प्रसग मे यह सकेत किया है कि उसके रचनाकाल तक इस कवि ने सस्कृत के आचार्यो का अध्ययन न किया था, अत केशव को पढकर इसने अपनी पुस्तक लिख दी। काव्यरसायन तक देव का स्वभाव समन्वय का बन गया था--सब ठीक कहते है, सभी सिद्धातो को लिख देना चाहिये। नव्य आचार्यो का प्रभाव रस-नाम के जप मे है, या अलकारो की सख्या बढाने मे। प्राच्य आचार्यो मे उपमा, आक्षेप तथा चित्र के प्रसग देव ने समोद स्वीकार कर लिये। कविता का एक लक्षण केशव के अनुकरण मे ही आया है। देव कवि पर भामह, दण्डी आदि का सीधा प्रभाव उतना नही, जितना केशव के माध्यम से, वे सस्कृत के आचार्यो से अनुप्रभावित है, परन्तु केशव मे अधिक मात्रा मे अनुप्रेरित।

यदि आचार्य के रूप मे देव को देखा जाय तो निराशा ही होती है, न उनके लक्षण स्पष्ट है और न उदाहरण उपयुक्त। लक्षणो मे जितनी आशा रीतिकाल के दूसरे आचार्यो से थी, उतनी देव से नही की जा सकती। उदाहरणो की चर्चा भी ऊपर हो चुकी है। यह

जान लेना कठिन है कि छन्द का कौन-सा चरण किस विषय का उदाहरण है। अवश्य अनुप्रास तथा यमक की छटा सर्वत्र मन को मोह लेती है। देवकवि रसवादी आचार्य नही, रसिक कवि थे, इसीलिए भावविलास को काव्यरसायन से अधिक रमणीय कहा जा सकता है; प्रथम प्रयास, अल्पायु आदि को ध्यान मे रखकर। देवकवि की चतुरता मे सन्देह नही, वे अपने को सब कुछ दिखा सकते थे, उनके पास गभीर विचार तथा विवेचन का अवकाश न था, इसलिए लगे हाथ सब कुछ लिखते चले गये। सामान्य दृष्टिपात से देव प्रतिभाशाली मालूम पडते है, परन्तु गम्भीरता की कसौटी पर चमककर वे आचार्य के पद को प्रत्याशित सफलता से प्राप्त नही कर पाते।

श्रीधर कवि : भाषाभूषण

(१७६७ वि०)

प्रयागवासी ओझा श्रीधर[1] मुरलीधर कवि ने नवाब मुसल्लेहखान[2] के आश्रय मे 'भाषा-भूषण' नामक पुस्तक की रचना सवत् १७६७ मे[3] की । एक दिन नवाब ने अपनी सभा के कवि श्रीधर से कहा कि सस्कृत मे भरत आदि की रीति पर जो काव्यशास्त्र है उसमे लेकर अलकार-विषय का उसी सस्कृतवाली[4] प्रणाली पर भाषा म वर्णन करो। नवाब के सकेत मे श्रीधर कवि ने १५० दोहो मे 'भाषा-भूषण' लिखा। स० १८०८ की हस्त-लिखित लिपि काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय मे प्राप्य है। पुस्तक के अन्त मे ८२ दोहो मे कवि ने नायिका-भेद तथा रसादि का सक्षिप्त वर्णन कर दिया है, परन्तु यह भाग पुस्तक का अग प्रतीत नही होता क्योकि इसको पृथक रूप मे 'काव्यप्रकाश' नाम भी दे दिया गया है।

'भाषा भूषण' मे केवल अलकार-विषय है, और इसका आधार सस्कृत के 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' ग्रन्थ है। दोहे के पूर्वार्द्ध मे अलकार का लक्षण है और उत्तरार्ध मे उसी का उदाहरण[5]। कुवलयानन्द के समान ही कवि उपमा से अलकारो को प्रारम्भ करता है। वर्णन साधारण है, उदाहरणो मे भी कोई विशेषता नही।

दो उदाहरण देखिए --

सो विभावना हेतु विन कारज कौ उद्योत।
बिन जावक चरनन जिते, अरुन कमल दल गोत॥
दोसहु मे गुन देखिये, वहै अवज्ञा चारु।
विपति भली सुमिरौ जहां, हरि के चरन उदारु॥

(१) श्रीधर ओझा विप्रवर, मुरलीधर जस नाम।
तीरथराज प्रयाग में, सुबस बस्यौ रविधाम॥
(२) नवल नबाब मुशल्लेहखान
बहादुर सिन्धु सता सुदली है।
जाकी सभा कवि राजै कलाधर
मंगलमय सुख साज थली है॥
(३) सत्रह सै सत सठ लिख्यो, संवत् जेठ प्रमानि।
(४) तामे कह्यो कवि श्रीधर सों,
भरतादिक रीति जु बात बली है।
भासहि मैं भनि भूषन सो,
सुरभास ज्यों भूसन भांति भली है॥
(५) लच्छन आधे दोहरा, उदाहरन पुनि आधु।

रसिक सुमति : अलंकार-चन्द्रोदय

(१७८५ वि०)

ईश्वरदास के पुत्र आगरा-निवासी उपाध्याय[1] रसिक सुमति ने सवत् १७८५[2] (या १७८६[3]) मे 'अलकार-चन्द्रोदय की रचना की––सभवत यह पुस्तक सवत् १७८५ मे प्रारम्भ होकर एक वर्ष उतरान्त म १७८६ मे पूरी हो सकी। उस शताब्दी मे आगरा के कुलपति मिश्र, सूरतिमिश्र आदि कई रीति-कवि रसिक सुमति से पूर्व प्रसिद्ध हो चुके थे , जिस टोले[4] मे कुलपति मिश्र का घर था उसी मे रसिक सुमति रहते थे, अत कविता-काल मे लगभग ६० वर्ष का अन्तर होने पर भी रसिक जी कुलपति से सामान्यत प्रभावित है––अपने निवास का परिचय देते हुए ये कुलपति के गौरव से उत्फुल्ल जान पडते है।

'अलकार-चन्द्रोदय' मे १८७ दोहे है, १८० दोहो मे अर्थालकार तथा शेष मे अकस्मात् शब्दालकार का वर्णन कर दिया है। शब्दालकार मे वृत्ति, छेक तथा लाट अनुप्राम की चर्चा है।

मगलाचरण के अनन्तर कवि ने बतलाया है कि "काव्य मे वैचित्र्य[5] का नाम अलकार है, यह शब्द और अर्थ दो प्रकार का होता है और प्रत्येक प्रकार मे इसके विविध भेद है।" यद्यपि इस लक्षण मे शब्द का कथन पहिले तथा अर्थ का पीछे है, तो भी 'चन्द्रोदय' मे, कदाचित् प्राधान्य को दृष्टि मे रखकर, प्रथम तथा मुख्य वर्णन अर्थालकार का ही है। शरदागम सभव[6] चन्द्रालोक से कुवलय के आनन्द का जन्म होता है, परन्तु उसकी प्रतिष्ठा चन्द्रिका[7] के बिना सभव नही––वैद्यनाथ की 'अलकार-चन्द्रिका' से ही हिन्दी के गोपा तथा रसिक सुमति को अपनी पुस्तको के नाम सूझे होगे।

रसिक सुमति पर विषय-वर्णन मे अपने प्रतिवेशी कुलपति आदि मिश्रो का प्रभाव नही है,––उनसे इनको केवल प्रेरणा मिली है। वैद्यनाथ का भी कोई प्रभाव लक्षित नही होता। 'चन्द्रोदय' का मूलाधार तो 'कुवलयानन्द' है, प्रसगत 'चन्द्रोलोक' तथा 'भाषा-

(१) **सो आगरे आगरे बसतु, उपाध्या विख्यात ।**
(२) **सर वसु रिसि ससि लिखि लखौ, संवत सावन मास ।**
(३) **रस वसु रिसि रु ससि संवतहि सावन मास ।**
(४) **टोले मथुरियनि के तपन-तनया निकट अवदात ।**
(५) **सबद अरथ की चित्रता, विविधि भांति की होइ ।**
अलंकार तासों कहत, रसिक विबुध सब कोइ ॥
(६) **चन्द्रालोको विजयतां शरदागम-संभवः ।**
हृद्यः कुवलयानन्दो यत् प्रसादादभूदयम् ॥१७२॥ (कुवलयानन्द)
(७) **असौ कुवलयानन्द श्चन्द्रालोकोत्थितोऽपि सन् ।**
प्रतिष्ठां लभते नैव विनालंकारचन्द्रिकाम् । (अलंकार चन्द्रिका)

भूषण' भी क्रमश लक्षण एव उदाहरण मे सहायक रहे है। लक्षण लिखते समय 'चन्द्रालोक' सामने न था, प्रत्येत 'कुवलयानन्द'[1] से 'चन्द्रालोक' के लक्षणो को लेकर इस कवि ने हिन्दी मे उनका छायानुवाद, और कही-कही, कायानुवाद कर दिया है --

दीपक--वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः ।
मदेन भाति कलभः, प्रतापेन महीपतिः ॥४८॥
दीपक वर्ण्य अवर्ण्य की, एक कृपा जो सोय ।
गज मद सौं, नृप तेज सौ, जग मे भूषित होय ॥

सहोक्ति--सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः ।
दिगन्तमगमत्तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह ॥५८॥
सो सहोक्ति तजि हेतु फल, औरनि कौ सहभाउ ।
सुजस संग परताप तुव, नांखि गयौ दरियाउ ॥

प्रथम उदाहरण मे लक्षण तथा उदाहरण दोनो का अनुवाद है, परन्तु दूसरे मे लक्षण पर मूल की छाया ही है--अनुवाद नही ।

'अलकार-चन्द्रोदय' 'भाषाभूषण' का नवावतार मात्र नही है, कई स्थलो पर कवि ने स्वतन्त्रता का सुन्दर परिचय दिया है। अर्थालकारो का क्रम स्वतन्त्र है, उपमा के मालोपमा तथा रसनोपमा भेद भी इस पुस्तक मे है, यहा अन्तिम अर्थालकार प्रत्यनीक है, और सबसे बडी बात यह है कि प्रत्येक भेद के लक्षण-उदाहरण के लिए एक स्वतन्त्र दोहे के उपयोग से इस पुस्तक का महत्व 'भाषाभूषण' से भी अधिक सिद्ध हो गया है। अधिक पुस्तको की छाया के विना भी अपने वर्ग मे इस रचना का स्वतन्त्र महत्त्व है।

---

(१) **रसिक कुवलयानन्द लखि, अलि-मन हरस बढ़ाइ ।**
अलंकार-चन्द्रोदयहिं, बरनतु हिय हुलसाइ ॥

रघुनाथ : रसिक मोहन

(स० १७१६)

काशी नृपति की सभा मे कवि रघुनाथबदीजन ने सवत्[1] १७१६ मे 'रसिकमोहन' नामक अलकार-ग्रन्थ की रचना की। काशी नरेश ने इनको चौरा नामक ग्रामदिया था जिसकी स्थिति वाराणसी से एक योजन[2] और पचकोशी से एक कोस दूर पर बतलाई गई है। इस पुस्तक का उद्देश्य अलकार-वर्णन के अतिरिक्त आश्रयदाता राजा की विशद गुण-गाथा[3] भी है।

'रसिक-मोहन' की प्रथम विशेषता तो यह है कि "इसमे अलकारो के उदाहरण मे जो पद्य आए है उनके प्राय सब चरण प्रस्तुत अलकार के सुन्दर और स्पष्ट उदाहरण होते है"[4]। दूसरी विशेषता यह है कि रघुनाथ ने अन्य दरबारी कवियो के समान अलकारो के उदाहरण केवल शृ गार रस से ही नही बनाये और न भूषण के समान वीर रस मे ही लिये है--मतिराम आदि के समान आश्रयदाता का वर्णन मात्र भी नही किया, इस कवि का लक्ष्य इसके सामने स्पष्ट था अलकार-विवेचन, बीच-बीच मे युग की प्रवृत्ति के अनुकूल और आश्रयदाता की रुचि के अनुसार कही शृगार है, कही वीर है तो कही प्रशसा मात्र ही है।

'रसिक-मोहन' मे ४८२ छन्द है--लक्षण के लिए दोहा और उदाहरण के लिए कवित्त या सवैया। विवेचन केवल अलकार-विषय का है। पुस्तक का विभाजन 'मन्त्रो' मे है और प्रत्येक मन्त्र के अन्त मे 'श्रीकवि रघुनाथबदीजन काशीवासी विरचिते काव्य-रसिक मोहने अलकार नाम कथन प्रथमो मन्त्र' आदि लिख दिया है। केशव के समान रघुनाथ ने पुस्तक प्रारम्भ करते ही विवेच्य अलकारो की सूची दे दी है। सामान्यत कुवलयानन्द का लक्षणो मे प्रभाव है। उपमा के रसबोपमा आदि भेद नही है, परन्तु 'चन्द्रालोक' की 'स्तबकोपमा' अवश्य है। पूर्वरूप तथा अतद्गुण आदि को भी स्थान नही मिला, हिन्दी के अधिकतर आचार्यो के समान रघुनाथ ने भी 'गूढोत्तर' को 'उत्तर' तथा 'चित्रोत्तर' को 'चित्र' नाम से ही पुकारा है, और 'व्याजोक्ति' नाम के दो अलकार मान लिये है, अन्युक्ति के प्रसग मे 'प्रेमान्युक्ति' का भी वर्णन है।

रघुनाथ कवि के उदाहरण ध्यान आकृष्ट करते है, अलकारो की स्पष्टता के साथ-साथ कवित्व के लिए भी उनका अपना महत्त्व है। कवि की प्रतिभा कुछ कवित्तो से झलक सकेगी --

(१) संवत् सत्रह सै अधिक, बरस छानबे पाय।
(२) योजन भरि वाराणसी, पंचकोस यक कोस।
उत्तर दिसि दक्षिण लसै, सुरसरि आपु परोस॥
(३) बिच बिच काशी नृपति के, कहे विसद गुन गाथ।
(४) हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २८७।

देखि गति त्रासन ते सासन न मानै सखी,
कहिबे कों चहत कहत गरो परि जाय ।
कौन भांति उनको संदेसौ आवै रघुनाथ,
आइवे को मो पै न उपाव कछू करि जाय ।।
विरह-विथा की बात, लिख्यौ जब चाहे तब,
ऐसी दसा होति आंच आखरि मे भरि जाय ।
हरि जाय चेत चित, सूखि स्याही झरि जाय,
बरि जाय कागद कलम डंक जरि जाय ।।११२।।

यह कवित्त सम्बन्धातिशयोक्ति अलकार के 'योग मे अयोग' प्रदर्शन का है, यद्यपि सामान्यत इस वर्णन का प्राण अत्युक्ति ही है फिर भी इसका कवित्व निस्सदिग्ध है । इसी प्रकार सेनापति की शैली पर श्लेष का निम्नलिखित चमत्कार देखा जा सकता है --

भरे तनसुख सिरी साफ सोहै रघुनाथ,
अतलस रही गज-गति मै बखान है ।
झिलमिली बन्दी की बिराजै पांति न्यारी नीकी,
काकनी निहारी औ रुमाल सुभ ठान है ।।
गाढ़े कुच की है मेही कमर अलक परी,
औरऊ चिकन पट के तो सुख दान है ।
तुम तो सुजान बलि गई चलि देखौ साज,
आनु बनी बनिता बजाज की दुकान है ।।१९३।।

गोविंद कवि : कर्णाभरण

(स० १७९७)

स. १७९७ वि मे गोविद कवि ने 'कर्णाभरण' नाम की एक छोटी सी पुस्तक लिखी जो आगे चलकर भारत जीवन प्रेस काशी मे (स १८९४) मुद्रित हुई। इस पुस्तक के ४६ पृष्ठो मे केवल अलकार विषय का ही विवेचन है। भाषाभूषण के समान यहा भी केवल दोहा छन्द का ही व्यवहार किया गया है। लेखक ने अपनी कृति का परिचय तथा उसका काल इस प्रकार दिया है ––

नग निधि रिषि विधु बरष मैं, सावन सित तिथि संभु ।
कीन्हो सुकवि गुविद जू, करणाभरण अरंभु ॥३३८॥

पुस्तक के नाम, आकार तथा उसकी शैली से जान पडता है कि गोविद कवि ने इसको सद्योपयोगी बनाया है––तत्काल आवश्यकता पडने पर काम आ सकने वाली। केवल अलकार-विषय पर भी दोहो मे पुस्तक लिखने वाले कवि अपनी रचना द्वारा अलकार-ज्ञान का दावा किया करते थे, परन्तु गोविद कवि ने ऐसा नही किया। हा, पुस्तक के नाम से ऐसा भान होता है कि यह सुननेवाले के मन मे याद कर लेने की भी इच्छा उत्पन्न कर देगी। वस्तुत इसकी भाषा इतनी सरल तथा मधुर है कि सीखनेवाले को अलकार-विषय मे अरुचि न होगी। इस गुण मे 'कर्णाभरण' 'भाषाभूषण' से भी आगे है।

'कर्णाभरण' की रचना दोहो मे हुई है, परन्तु 'भाषाभूषण' के समान सर्वत्र ही दोहे के भीतर लक्षण-उदाहरण नही समा पाये, कुछ लक्षणो तथा कुछ उदाहरणो के लिए कवि को स्वतन्त्र दोहे भी लिखने पडे है। इस पुस्तक मे सामान्यत 'चन्द्रालोक' का ही अनुकरण मिलेगा। लेखक ने विषय-प्रतिपादन मे कही-कही नवीनता भी दिखलायी है, परन्तु अधिक नही, और जितनी है भी उसको आचार्य की मौलिकता नही कह सकते। गोविद कवि के उदाहरण मौलिक तथा स्वतत्र है, विशेषोक्ति का उदाहरण देखिए :––

तुव कृपानि पानिपमई, जदपि नरेस दिखाति ।
तऊ प्यास पर-प्रान की, या की नाहिं बुझाति ॥

'कर्णाभरण' नाम की एक अलकार-पुस्तक करनेस ने स १६३७ के लगभग लिखी थी और ऐतिहासिक महत्त्व के कारण वही अधिक प्रसिद्ध है। सभव है गोविद कवि को उस पुरानी रचना का ज्ञान न भी रहा हो।

दूलह : कवि-कुल-कंठाभरण

(स० १८०० वि०)

कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और कवीन्द्र के पुत्र दूलह कवि ने स १८०० वि. के लगभग अपनी एकमात्र पुस्तक 'कवि-कुल-कंठाभरण' लिखी, जिसमे कुवलयानन्द के समान केवल अलकार-विषय का सक्षिप्त[1] विवेचन है। आचार्य केशव के अनुकरण पर दूलह ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि विधाता (पद्मिनी, चित्रिणी, शखिनी तथा हस्तिनी) चार जाति की स्त्रियो को गति, वर्ण तथा यथायोग्य लक्षणो से युक्त बनाकर कृतकृत्य हो जाता है परन्तु समाज मे उन चारो ही जाति की स्त्रियो की शोभा आभूषण के बिना नही है, ठीक इसी प्रकार कवि अपनी कविता को चरण, वर्ण तथा ललित लक्षणो से युक्त बनाकर ही सतुष्ट होता है परन्तु सभाओ मे उस कविता का सम्मान अलकार के बिना नही होता --

चरन, बरन, लच्छन ललित रचि रीझे करतार।
बिन भूषण नाहि भूषई कबिता, बनिता चार ॥२॥

केशव ने इस बात का सकेत भर किया था कि यद्यपि अलकार पर ध्यान न देने से भी अच्छी कविता कवि-कर्म की सफलता सिद्ध करती है परन्तु सभा मे सम्मान अलकार से ही मिलता है[2], दूलह ने इसी बात को स्पष्ट शब्दो मे कह दिया है। काव्य की दो कसौटिया है--आत्मसतोष तथा समाज मे यश, आत्मसतोष तो अपनी कृति से सबको मिलता है परन्तु कृति की सूक्ष्मता तक सभा नही जा सकती, इसलिए सभा मे ख्याति उसी व्यक्ति को मिलेगी जो अपनी कृति को अलकारो से भी सुसज्जित कर लेगा। दूलह के इस मत से किसी का विरोध नही हो सकता, क्योकि ध्वनि तथा गुणीभूत व्यग्य काव्य, सभा या दरबार मे उतना सम्मान नही पा सकते जितना कि अलकारप्रधान चित्रकाव्य--विद्वन्मण्डली या रसिकसमाज का भी विद्वत्स्तर या रसिकस्तर सबके एकत्र होने के कारण गिर जाता है, यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। प्रश्न यह नही है कि काव्य की आत्मा क्या है, या उत्तम काव्य कौन सा है, यहा तो दूलह ने परपरा से ही जो चला आता है उसी को स्वीकार कर लिया है, परन्तु अपने नित्य अनुभव से वे कवियो को दरबार मे सम्मान प्राप्त करने का रहस्य समझा रहे है।

जिस अलकार का इतना महत्त्व है उसके विषय मे अनेक विद्वानो (कवियो) ने बडे विस्तार से विचार किया है। प्रस्तुत पुस्तक उसी विचार-सागर मे प्रवेश करने का एक लघु प्रयत्न है --

१. **थोरे क्रम-क्रम ते कही अलंकार की रीति ।१।**
२. **जदपि सुजाति, सुलक्षणी, सुबरन, सरस, सुवृत्त ।**
भूषण विनु न विराजई, कविता वनिता मित्त ॥ (कविप्रिया ५।१।)

दीरघ मत सत कविन के, अर्थाशय[1] लघुतर्ण ।
कवि दूलह याते कियो, कवि-कुल-कंठाभर्ण ।।३।।

जो व्यक्ति इस पुस्तक को कण्ठ कर लेगा वह सभाओ मे अलकार[2] का अधिकारी तथा ज्ञाता कहलाकर सम्मानित किया जावेगा। दूलह के इस कथन मे हमको उस समय की सभाओ मे रहने वाले 'अलकृती' का सकेत मिलता है—जो व्यक्ति अलकार-युक्त कविता रच सके और अलकारविषय का ज्ञाता भी हो वही 'अलकृती' है, इस युग के अधिकतर साहित्यिक न तो 'आचार्य' (दूलह के शब्दो मे 'सतकवि') थे और न 'कवि' (दूलह के शब्दो मे 'करतार'), उनको दोनो के गुणो मे प्रभावित 'अलकृती' ही कहना अधिक उचित है।

'कठाभरण' मे 'कुवलयानन्द' के समान 'जायापती' 'पारवती-शिव' की ही स्तुति है, अर्थालकार के अतिरिक्त दूसरे विषय का नाम भी नही है, और अलकारो का क्रम तथा उनकी सख्या बिल्कुल 'कुवलयानन्द' के ही समान है—'भाषाभूषण' के समान सख्या मे असावधानी नही है। अत कुवलयानन्द तथा चन्द्रालोक दोनो का नाम लेने पर भी यहा हम मुख्य ऋण कुवलयानन्द का ही मानते है, विषय के अवगाहन से भी इसी मत की पुष्टि होती है। एक बात और, आचार्य जयदेव ने छोटे-से-छोटे तथा प्रचलित छद मे लक्षण उदाहरण देकर छुट्टी पा ली थी, अप्पय दीक्षित ने अलकार-विषय पर ही पुस्तक लिखी और श्लोको के साथ वृत्ति भी जोड दी। कवि दूलह ने 'सक्षेप' का अर्थ 'छोटा छन्द' नही लिया प्रत्युत 'सक्षिप्त कथन' माना है—अत इस पुस्तक के ८१ छदो मे से केवल (प्राय: प्रारभ मे) ८ दोहे है, १ सवैया, तथा शेष सब कवित्त।

अलकारो की सख्या

आचार्य जयदेव नवीन अलकारो की स्वीकृति के पक्ष[3] मे थे, इसलिए अत्युक्ति (५।११६) के निरूपण के अनन्तर उन्होने रसवत् आदि अलकारो की चर्चा की है, उनकी प्रेरणा से अप्पय दीक्षित ने १५ अन्य अलकारो[4] का भी विवेचन कर दिया, दूलहकवि ने भी वैसा ही किया और इस कदम मे 'कुवलयानन्द' को प्रमाण माना —

अरथालकृत शत प्राचीन कहे ते कहे,
आधुनिक सत्तरि-बहत्तरि प्रमाने हैं ।
कहै कवि दूलह सु पंचदस औरौ सुनौ,
औरौ और ग्रंथन सो जे वै ठीक ठाने हैं ।

(१) **तुलना कीजिए :—**
क्व सूर्यप्रभवो वंश: क्व चाल्पविषया मति: ।
तितीर्षु र्दुस्तरं मोहाद् उडुपेनास्मि सागरम् ।। (रघुवंश, १।२।)
(२) **सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय ।४।**
(३) **अलंकारेषु तथ्येषु यद्यनास्था मनीषिणाम् ।**
तदर्वाचीनभेदेषु नाम्नां नाम्नाय इष्यताम् ।। (चन्द्रालोक ।५।१२५)
(४) **एवं पंचदशान्यानप्यलंकारान् विदुर्बुधा: । (कुवलयानन्द, १७१)**

चारि रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्व, समाहित हैं
तीन भाव उदै, संधि, सबलता साने हैं ।
परतच्छ प्रमुख प्रमान आठौ अलंकार
कुवलयानन्द मे बखाने जग जाने हैं ॥७१॥

यहाँ 'प्राचीन' तथा 'आधुनिक' शब्दो पर ध्यान दीजिए । आचार्य जयदेव ने 'अर्वाचीन' कहकर नये अलकारो का कथन किया है, आचार्य अप्पय दीक्षित ने 'प्राचीनो' तथा 'आधुनिको'[1] के मतो को ध्यान मे रखकर अलकार-शत की विवेचना की थी, दूलह ने इन शब्दो का प्रयोग सस्कृत के इसी शास्त्रीय अर्थ मे किया है--'प्राचीन' तथा 'आधुनिक' विशेषण हिन्दी के 'अलकृतियो' के लिए नही प्रयुक्त हुए प्रत्युत सस्कृत-आचार्यो के दो वर्गो की ओर सकेत करते है । अलकार का विवेचन करते समय 'प्राचीन' से अभिप्राय पूर्व-ध्वनि काल के अलकारवादियो से है और 'आधुनिक' से जयदेव आदि का सकेत समझना चाहिए । हम हिन्दी के जसवतसिह आदि को 'प्राचीन' तथा केशव, देव आदि को 'आधुनिक' आचार्यो मे नही ले सकते--इनमे तो 'प्राचीन' आचार्यो का अनुकरण मात्र मिलता है । मिश्रबन्धुओ के इस मत से भी हम सहमत नही हो सकते कि "उनके (दूलह के) समय मे लोग केवल ७० या ७२ अर्थालकार मानते थे दूलह सख्या बढाने के पक्ष मे है"[2] ।

नाम, लक्षण यथा भेद

दूलह मे अलकारो की सख्या तो कुवलयानन्द के अनुसार है ही, विवेचन का क्रम तथा अलकारो के नाम भी उसी के अनुकरण पर है, सर्वत्र हमारे 'अलकृती' को चन्द्रालोक की अपेक्षा कुवलयानन्द के प्रति पक्षपात है । गडबड केवल एक स्थान पर है, 'व्याजोक्ति' नाम दो बार आ गया है । एक बार कुवलयानन्द के व्याजस्तुति तथा व्याजनिन्दा अलकारो को मिलाकर (कवित्त ३४) एक नाम 'व्याजोक्ति' दे दिया गया है--यहा दूलह की अपेक्षा मिश्रबन्धुद्वय की भूल अधिक मालूम देती है, क्योकि दूलह ने 'व्याजोक्ति' शब्द का प्रयोग इस प्रसग मे किया ही नही, टीकाकार महोदयो ने अपनी ओर से इसे जोड दिया है। 'व्याजोक्ति' अलकार दूसरी बार सूक्ष्म तथा पिहित के बाद (कवित्त ६५) कुवलयानन्द के समान ही आता है ।

मिश्रबन्धुद्वय के मत मे दूलह ने ११७ अलकारो के लक्षण और उदाहरण लिखे है (दे कवि-कुल-कठाभरण सटीक, भूमिका, पृ '५), परन्तु दूलह स्वय कहते है कि उन्होने "अरथालकृत शत" तो प्राचीनो के मत मे कहे ह तथा "पचदस औरौ" "कुवलयानन्द मे बखाने" हुए बतलाये है अर्थात् कुल मिलाकर १०० + १५ = ११५ अलकारो का विवेचन है । टीकाकारो ने व्याजनिन्दा का तो नाम छिपा दिया जैसा कि हम ऊपर बतला चुके है, और भाषाभूषण के ही अनुसार उत्तर अलकार के एक भेद 'चित्रोत्तर' को एक स्वतन्त्र

---

(१) **इत्थं शतमलंकारा लक्षयित्वा निदर्शिताः ।**
प्राचामाधुनिकानां च मतान्यालोच्य सर्वतः । (कुवलया., १६९)

(२) **कवि-कुल-कंठाभरण सटीक, पृ. ७१**

अलकार 'चित्र' मान लिया--अस्तु सख्या १०० ही गिना दी, यह भूमिका तथा टीका का आपस में विरोध बडा मनोरजक है।

ऐसा जान पडता है कि दूलह के सामने 'भाषाभूषण' भी था, यद्यपि कही भी इस पुस्तक का सकेत नाम लेकर नही किया। 'उत्तर' अलकार का नाम 'गूढोत्तर', 'विशेष' का 'विशेषक' लिखना तथा 'चित्रोत्तर' को स्वतन्त्र अलकारत्व देना हमारी सभावना को पुष्ट करते है।

हिन्दी अलकृतियो मे अलकारो के लक्षणो की विशेषता नही है, आधार सबका कोई न कोई सस्कृत ग्रन्थ है, यदि कही परिवर्तन मिलता है तो केवल सुगमता को ध्यान मे रखकर किया गया ही। अधिकतर लोगो ने सभी अलकारो के लक्षणो को देने की आवश्यकता भी नही समझी, दूलह भी ऐसे ही आचार्य थे, वे अलकारो का विवेचन नही कर रहे, परिचय करा रहे है। इसलिए उनके कवित्त मे अलकार का नाम, अलकार का उदाहरण और उसका लक्षण तीनो ही मिल जावेगे--मुख्य है नाम, तब उदाहरण को ग्रहण कीजिए, और लक्षण तो यदि सभव हो सका तो दे दिया जायगा (नाम, उदाहरण अथवा लक्ष्य, तथा लक्षण--यह क्रम इन तीनो का सापेक्षिक महत्त्व बतलाता है, न कि वर्ण्य विषय का क्रम)--

जानिबे के हेतु कवि दूलह सुगम कियो,
नाम लच्छ्य लच्छन कवित्त ही सों जानिए।८।

कुछ अलकारो के लक्षण देखिए। परिणाम अलकार मे क्रियासम्बन्ध से विषयी का विषय पर आरोप होता है। यदि क्रियासबध न होगा तो वह परिणाम न होकर रूपक अलकार बन जाएगा--मम्मट ने इस भेद को स्वीकार नही किया इसलिए परिणाम को रूपक से भिन्न अलग अलकार नही माना। आचार्य जयदेव ने विषयी और विषय के अभेद का 'पर्यवसान' कहकर क्रियासम्बन्ध का ही सकेत किया है। टीकाकार अप्पय दीक्षित ने स्पष्ट ही 'क्रियार्थश्चेत्'[1] पद का सबल प्रयोग किया है। भाषाभूषण मे भी "करै क्रिया" पद है, परन्तु दूलह का लक्षण है --

"विषयी विषै ह्वै फुरै जानौ परिणाम" (१४)

इसमे क्रियासबध का कथन नही है, "ह्वै फुरै" से यह सकेत लेना खीचातानी करना है।

जिन अलकारो के कई भेद शास्त्र मे प्रचलित है उन अलकारो के लक्षण दिये ही नही, केवल भेदो की विशेषताओ को समझा दिया है। उपमा अलकार के सबध मे इस 'अलकार के अग' बतला दिये है--उपमान, उपमेय, वाचक, धर्म, विषयी, अवर्ण्य, विषय, वर्ण्य, प्रस्तुत, अप्रस्तुत। परन्तु न तो उपमा का लक्षण है और न उसके भेदो का। अपह्नुति उत्प्रेक्षा तथा अतिशयोक्ति के विषय मे भी यही बात है। अतिशयोक्ति के प्रसग मे दूलह ने सर्वप्रथम रूपकातिशयोक्ति का परिचय करा दिया है उदाहरण देकर भी, फिर सापह्नवा के लिए लिखते है --

(१) 'चेत्' से यह संकेत है कि क्रियार्थ के बिना यह अलंकार नहीं माना जा सकता।

कहै कवि दूलह अपह्नुति गरभ वहै,
सापह्नवा बरण विशेष रचना लही।२०।

इस लक्षण से कुछ भी स्पष्ट नही होता, 'वहै' रूपकातिशयोक्ति के लिए माना जाय तो सब कुछ गडबड हो जायगा। वस्तुत यहा 'वहै' से अभिप्राय 'अतिशयोक्ति' का है परन्तु दूलह ने ऊपर अतिशयोक्ति का तो लक्षण दिया ही नही। इस प्रकार की असावधानी अनेक स्थलो पर मिलती है।

स्मृतिमान्, भ्रान्तिमान् तथा सदेह के लक्षण तो परम्परा से इन अलकारो के नाम[1] ही बतलाया करते थे। सहोक्ति जैसे अलकार मे चमत्कार का ही तो चमत्कार है, जयदेव ने इसीलिए इसके लक्षण मे 'जनरजन' पद का प्रयोग किया था। अप्पय दीक्षित ने इसको ज्यो का त्यो ले लिया है, जसवतसिह ने इसके स्थान पर 'रसमरसाइ' रखा है। परन्तु दूलह कवि लिखते है ––

भासै सहभाव जहां उक्ति सो सहोक्ति आवै,
कोऊ गौनहाई संग हरि के फिरति है।२८।

इस चरण के पूर्वार्द्ध मे 'भासै सहभाव' ही पर जोर है, परन्तु सहभाव का आभास ही तो सहोक्ति नही है, जब तक सहभाव चमत्कारजन्य न होगा तब तक अलकारत्व न आ सकेगा––'भासै' से चमत्कार का सकेत नही माना जा सकता।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि दूलह कवि के कुछ लक्षण बडे स्पष्ट तथा सुगम है, उदाहरण देखिए ––

(क) वर्ण्यन को अथवा अवर्ण्यन को एकै धर्म,
तुल्ययोगिता सो कवि त्रिविध बिचारी है।२३।
(ख) वर्ण्य को अवर्ण्य को धरम एक दीपक है। २४।
(ग) दोऊ वाक्य सम जहाँ धर्म है अरथ एक तहाँ प्रतिवस्तूपमा भनत अमंद है।२५।
(घ) बिंब प्रतिबिंब देखौ तहांई दृष्टांत लेखौ। २५।
(ङ) दोऊ वाक्य अरथ समान वृत्ति निदर्शना।२६।
(च) हेतु बिन कारज की उपज विभावना है। ३६।

तुल्ययोगिता तथा दीपक अलकारो का परस्पर भेद बडा सूक्ष्म है, दूलह कवि के लक्षणो से वह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है ––भाषाभूषण मे यह स्पष्टता थी ही नही। प्रतिवस्तूपमा तथा दृष्टान्त के परस्पर भेद मे भी यही बात है, दूलह ने पहिले यह बतलाया है कि इन अलकारो की समता वाक्यो मे है शब्दो मे नही, दूसरी बात यह है इस वाक्यसाम्य मे धर्म का कथन दो प्रकार की भिन्न शब्दावलियो मे कहा जावेगा, यद्यपि इन वाक्यावलियो का अर्थ एक ही होगा, दृष्टान्त और कुछ नही तुल्ययोगिता मे जहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव दिखलायी पडे वही दृष्टान्त अलकार कह दीजिए। निदर्शना तथा विभावना के लक्षण भी कितने सुगम तथा स्पष्ट है। इन लक्षणो मे कोई नई बात तो नही है, सब कुछ सस्कृत मे था उतना ही स्पष्ट परन्तु भाषाभूषण के दोहो मे वह सफाई न आ पाई थी––सभव है दूलह कवि

(१) **नाम ही तें जानि लीजौ लच्छन के तौर है।** (१५)

की इस सुगम शब्दावली का एक मुख्य कारण कवित्त जैसे बडे छन्द का प्रयोग हो।

उपमा के दो भेद--पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा--सर्वमान्य है। अप्पय दीक्षित ने लुप्ता के ८ उपभेद स्वीकार किये हैं। दूलह ने इन उपभेदो को माना है और "कुवलयानन्द चन्द्रालोक[1]" के मत का प्रमाण रूप मे उल्लेख किया है--कुवलयानन्द मे तो उपमा का यह प्रपच्च है परन्तु चन्द्रालोक मे नही। अतिशयोक्ति के प्रसग मे सम्बन्धातिशयोक्ति तथा असम्बन्धातिशयोक्ति दो अलग भेद न मानकर भाषा-भूषण के अनुसार असम्बन्धा को सम्बन्धा का एक उपभेदमात्र माना है। आवृत्तिदीपक के तीनो भेदो को स्पष्टत अलग-अलग भी कह दिया है--कुवलयानन्द मे नाम अलग-अलग नही बतलाये गये थे (केवल वृत्ति मे स्पष्ट किये गये है)। व्यतिरेक के भी कुवलयानन्द की वृत्ति के अनुसार तीन भेद है। अन्यत्र भी भेदो तथा उपभेदो मे कुवलयानन्द का अनुकरण है और श्लोको के अतिरिक्त वृत्ति मे भी काफी सहायता ली गयी है। वस्तुत दूलह ने कुवलयानन्द का अच्छा अध्ययन किया होगा, वे इसका ऋण भी स्वीकार करते है।

अलंकारों के उदाहरण

अन्य अलकृतियो के समान दूलह की भी प्रतिभा अलकारो के उदाहरणो मे ही देखी जा सकती है, लक्षण तो सबको बने बनाये मिल गये थे--भाषा मे अनुवाद करने मे ही इनकी कला है। दूलह के उदाहरणो मे कुछ विशेषताएं देखने योग्य है --

(क) अधिकतर लोग अलकारो को समझाने के लिए लक्षण तथा उदाहरण देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते है, परन्तु पाठक के सामने एक कठिनाई अलकारो के पारस्परिक अन्तर को समझने मे आती है, प्राय अलग-अलग शब्दावलियो मे उदाहरण होने के कारण उदाहरणो से पारस्परिक अन्तर स्पष्ट नही हो पाता। एक ही अलकार के विभेदो का सूक्ष्म अन्तर तो और भी कठिन बन जाता है। इस सूक्ष्म अन्तर को समझाने का एक मुख्य उपाय है एक ही शब्दावली मे सबके उदाहरण देना। शायद दूलह ने इस रहस्य को समझा था। रूपक अलकार के दो भेद--अभेद तथा तद्रूप--करके फिर प्रत्येक भेद के ३ उपभेद--अधिक, सम तथा न्यून कर दिये है। उदाहरणो मे एक ही शब्दावली उपभेदो के सूक्ष्म अन्तर को आसानी से स्पष्ट कर देती है। अभेद रूपक के उपभेदो के उदाहरण देखिए --

राम अवियोगी तुम, राम तुम यज्ञपाल,
राम तुम लंक के विरोध बिन ही अहै।१३।

यहा "राम तुम" से तो अभेद रूपक का सामान्य उदाहरण बन गया। अब "तुम राम (परन्तु) अवियोगी" से अधिक का उदाहरण मिला--राम महान् थे तुम वही (उनके समान) हो परन्तु राम वियोगी थे तुम अवियोगी हो--उनसे 'अधिक' हो। सम मे "तुम यज्ञपाल राम हो", राम भी यज्ञपाल थे तुम भी यज्ञपाल हो--दोनो मे अभेद है

---

(१) **कुवलयानन्द चन्द्रालोक के मते ते कहीं,**
लुपता ये आठौ आठौ पहर प्रमानिए।९।

तथा समता (बराबरी) है। तीसरे उदाहरण मे यह बतलाया गया है कि राम मे लकाविजय की सामर्थ्य थी तुम मे नही है—अभेद होते हुए भी तुममे न्यूनता है।

(ख) कठाभरण का छन्द कवित्त है जो लक्षण स्पष्ट करने मे तो सहायक है परन्तु उदाहरण मे इसके कारण दोष आ गये है। अगर छोटे छद का प्रयोग होता तो उदाहरण अधिक सयत तथा स्पष्ट होता। बडे छन्द के कारण कठाभरण के उदाहरणो मे दो मुख्य दोष आये है :—

(१) एक छन्द मे एक ही अलकार का लक्षण तथा उदाहरण तो बहुत बडा हो जाता, ओर आधे छन्द मे एक अलकार का तथा शेष आधे मे दूसरे का लक्षण-उदाहरण भी शायद अधिक सुगम न बन पाता। इसलिए दूलह ने एक छद मे पहिले तो दो-तीन अलकारो के लक्षण दे दिये है फिर उनके क्रमश उदाहरण है। यदि एक ही अलकार के भेदो को इस प्रकार एक छद मे रखा जाता तो भी क्षम्य था, परन्तु यहाँ तो परस्पर मे असम्बद्ध अलकार भी इसी प्रकार रखे हुए है (आक्षेप तथा विरोधाभास, विकल्प समुच्चय तथा कारकदीपक, मुद्रा रत्नावली तद्गुण तथा पूर्व रूप आदि)। यह दोष भाषाभूषण मे भी था परन्तु वहाँ अलकार-भेदो के ही साथ ऐसा व्यवहार था और यहाँ स्वतन्त्र तथा दूर-दूर के अलकार भी इसी प्रकार रखे हुए है।

(२) दूसरा दोष है उदाहरणो मे भर्ती के शब्द या वाक्याश। छद के चरण को पूरा करने के लिए कुछ शब्द या कोई वाक्याश ऐसे भी आ जाते है जो पाठक को भ्रान्ति मे डाल सकते है। अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा का उदाहरण देखिए :—

सुधाधरमुखी जो सुधाधर उदित भयो
मेरे जान करत है वसुधा सुधामई ।१८।

यहा 'सुधाधरमुखी' शब्द का प्रयोग व्यर्थ है और पाठक को भुलावे मे डाल देता है। विशेषत इस चरण मे 'सुधा' शब्द को चार बार देखकर वह यह सोचने लगता है कि चमत्कार इस शब्द पर लेखक का अभीष्ट है।

सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा के उदाहरण मे तो पूरा चरणार्द्ध ही व्यर्थ है और युग की हलकी प्रवृत्ति को ही दिखलाता है —

लंक की बिसालता लै उरज उतंग भए,
रग कवि दूलह है तेरे मनसूबे को ।१९।

पर्यस्तापह्नुति के उदाहरण मे भी इसी प्रकार उत्तर-चरणार्द्ध अनावश्यक तथा भ्रामक है :—

है न सुधाधर में सुधा है तो अधर मे
सुकर में सराहौ प्यारी रसना हमारी के ।१६।

(२A) इसी अनावश्यक दोष का एक घातक रूप है उदाहरण को किसी अन्य अलकार का उदाहरण बना देना भरती के कारण। रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण है :—

चारु चंद-मंडल मे विद्रुम विराजै, छन्द
मोतिन के छाजै ते छपाये छपते नहीं ।२०।

इस चरण का पूर्वार्द्ध तो रूपकातिशयोक्ति का उपयुक्त उदाहरण है परन्तु उत्तरार्द्ध मे विशेषोक्ति की गध आती है--प्रयत्न करने पर भी कार्य न होना। दातो को मोती (हीरा) कहना ठीक है और ओष्ठो की लाली विद्रुम के समान होती है, परन्तु मोतियो की छाज मे विद्रुम की कान्ति न छिपना उस चमत्कार को न्यून कर देता है जो रूपकातिशयोक्ति मे अभीष्ट है।

इसी प्रकार अन्योन्य का लक्षण देखिए --

स्याम सों दिपति राधा, राधा सों दिपत स्याम,
स्याम-राधिका सों सोभा आलम तमाम की।४३।

अलकार का चमत्कार पूर्वार्द्ध मे ही स्पष्ट हो जाता है, अत उत्तरार्द्ध व्यर्थ है--यदि श्यामराधिका मे तमाम आलम की शोभा है तो तमाम आलम मे श्यामराधिका की शोभा होनी चाहिए, तभी अन्योन्य का चमत्कार होगा।

(ग) दूलह के कुछ उदाहरण अशक्त या अनुपयुक्त है। प्रथम प्रतीप के उदाहरण मे "कुच से कमनीय बने करि-कुभ" कहने से शास्त्रीय नियमो का भले ही उल्लघन न हो, परन्तु सौदर्य का चमत्कार नही है, ऐसा जान पडता है मानो प्रस्तुत विषय ही करि-कुभ है और कुच वस्तुत अप्रस्तुत है--व्यक्तिविशेष के निर्देश के अभाव मे यह साम्य बडा हास्यास्पद बन गया है। पचम प्रतीप का उदाहरण भी विषय को स्पष्ट नही करता --

राम तन ताके काम काके मन भायो है।१२।

राम और काम मे शारीरिक सौदर्य की भी समानता है, परन्तु जब यह कहा जाता है कि 'जिसके मन मे राम है उसके मनमे काम नही आ सकता,' तो भक्तिभाव की ही व्यजना होती है। यह प्रकट नही होता कि राम और काम के सौन्दर्य की तुलना हो रही है।

परिणाम के उदाहरण इस प्रकार है :--

प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा--कुवलयानन्द
लोचन-कंज बिसाल ते देखति देखौ बाम--भाषाभूषण
नाँध्यौ सिन्धु राम-पद-पंकज प्रभाव ते--कंठाभरण

कज मे देखने की सामर्थ्य नही होती परन्तु उपमेय नेत्र की सामर्थ्य स्वाभाविक है; इधर पकज मे तो समुद्र-लघन की शक्ति होती ही नही "पद" में भी उतनी स्वाभाविक नही--और किसी के पद के प्रभाव से दूसरे का समुद्र पार जाना इस अलकार का चमत्कार भी नही है।

प्रौढोक्ति आदि के उदाहरण मे भी यही अशक्ति देखी जा सकती है।

(घ) उदाहरणो का एक दोष यह भी है कि उदाहरण न देकर परिस्थितियो का सकेत कर दिया जाय। छेकापह्नुति तथा उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा के उदाहरण देखिए। छेकापह्नुति नाम ही चतुराई से बात के छिपाने के कारण पडा है, परन्तु दूलह ने 'सपन कहानि ठानि' 'तथ्य गोपना' मे इसका उदाहरण दिया है --

आन सुनि संका मानि, सपन कहानी ठानि,
वहै छेकापह्नुति जु तथ्य गोपना करै।१७।

वस्तुत यहाँ उदाहरण है नही, उसकी परिस्थितियो का चित्र उपस्थित हो गया है। उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा मे --

चांदनी में बिरले निहारे नभ-तारे, संक,
तारन मे हारन की उक्त-विषया भई।१८।

यहाँ भी परिस्थितियाँ बतलाई है जिनमे यह अलकार हो सकता है--'सक' शब्द और भी खटकता है।

(ङ) चमत्कारहीन उदाहरण सचमुच भार बन जाते है। अतिशयोक्ति के उदाहरणो मे यह बात ध्यान देने की है। दूलह ने अक्रमा तथा अत्यन्ता मे चमत्कार को भुला दिया है --

(१) **अक्रमातिशयोक्ति कारन औ' काजसंग**
जा हित बोलाई दूती ताहि लै पधारी है।
(२) **पीछे ते मनायबे को ललिता सिधारी, पहिले**
ही प्रान-प्यारी तन धारी स्याम सारी है।२२।

जिस रूठे हुए प्रिय को मनाने के लिए दूती को बुलाया था उसे पहिले से ही दूती साथ लेती आयी--यहाँ भावनाओ का चमत्कार अधिक है, अलकार का कम। दूसरे उदाहरण मे भी वर्णन वास्तविक होने के कारण अलकार का चमत्कार नही रहा।

(च) उदाहरणो मे अनुपयुक्त शब्द विशेष का प्रयोग सौदर्य को नष्ट कर देता है। समासोक्ति मे --

राती बनलता गेह साखी सों भिरति है।२८।

'भिरति' क्रिया 'आलिगन' का अर्थ देकर शृगार की व्यजना नही करती--'भिडना' का अर्थ है 'झगडा करना' या 'कुश्ती लडना', 'आलिगन करना' नही (भले ही कुश्ती मे आलिगन भी हो जाता हो)।

दूसरी तुल्ययोगिता का सरस्वतीकण्ठाभरण मे लक्षण है **"हिताहितविषयक समानवृत्तिकत्व"**, दूलह के उदाहरण मे 'समानवृत्त' तो है 'जुदा करै', परन्तु 'हित' तथा 'अहित' नही है --

हार सोतिन जुदा करै निसा मैं निरधारी है।२३।

सवति तो हितु हो नही सकती, मुक्ताहार भी हितु कैसे हो सकता है--प्रिय का आलिगन करते समय छाती पर पडा हुआ हार ही सबसे अधिक अप्रिय लगता है।

(छ) उदाहरणो मे एक और दोष देखिए। असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा मे--

ताही कटि-खीनता को नातो मानि सिह हनै,
तो गति गहैया गज अजब अजूबे को।१९।

चमत्कार दोहरा है--सिह की कटि मे तथा गज की गति मे समानता, और पराजित सिह का गज-वध। यह तो प्रत्यनीक का चमत्कार हो गया, साहित्यदर्पण मे प्रत्यनीक के उदाहरण मे जो श्लोक है मानो यह उसी का छायानुवाद हो --

मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्यम् ।
इभकुम्भौ भिनत्त्यस्याः कुचकुम्भनिभौ हरिः ।[1]

दूलह ने[2] काव्यादर्श के मेल मे यह उदाहरण बनाया होगा। परन्तु उन्होने दो बाते भुला दी—(क) दण्डी ने प्रत्यनीक अलग अलकार नही माना इसलिए वे इस उदाहरण को हेतूत्प्रेक्षा का मान सकते है, (ख) दण्डी के उदाहरण मे 'मन्ये' शब्द के आ जाने से सभावना स्पष्ट हो जाती है,[3] परन्तु दूलह के उदाहरण मे 'सभावना' का कोई चिह्न नही है।

मूल्याकन

कवि-कुल-कठाभरण की अपनी सीमाएं है, परन्तु इसके गुण भी स्पष्ट ही है, उस समय के साहित्यिक वातावरण का हलका-सा चित्र इस पुस्तक के भूमिका-भाग मे भली भाँति स्पष्ट हो सकता है, दूलह के कुछ लक्षण कितने सुगम तथा स्पष्ट है—यह ऊपर दिखलाया जा चुका है, लक्षणो की कुछ विशेषताएं भी ऊपर आ गई है। यहाँ यह कहना भी आवश्यक-सा जान पडता है कि दूलह ने कुवलयानन्द को अपना आधार बडा समझ-बूझकर बनाया था, उस पर बाहरी आचार्यो का प्रभाव अपेक्षाकृत कम ही है। जो नीरसता इस पुस्तक मे दिखायी पडती है उसके दोनो ही कारण है, आचार्यत्व तथा बडा छन्द (शायद एक दूसरे के साधन है)। दूलह मे वह मस्ती भावुकता नही है जिसके कारण पाठक प्रसग-भ्रष्ट हो सके। दूलह की अलग कोई मान्यता नही, वे मूलत अप्पय-दीक्षित से सभी सिद्धातो मे सहमत है। 'अलकृती', 'सतकवि', तथा 'करतार' शब्दो का प्रयोग भी साभिप्राय किया गया है (हम पीछे विचार कर चुके है)।

दूलह के कुछ उदाहरण निश्चय ही बालोपयोगी तथा ललित है। व्यतिरेक, उल्लेख, कारणमाला, सार तथा ललित इसके प्रमाण है। दूसरे उल्लेख का उदाहरण है —

बारि मध्य बान जान्यौ, कोट मे कृशानु जान्यौ,
देत मैं अंगूठी संत जान्यौ सत भाव तें।१४।

दूलह को पुराण से भी प्रेम था, उनके वे उदाहरण जो भेदो या उपभेदो को समझाने के लिए एक ही घटना से लिये गये है, उनकी अपनी देन है (ऊपर भी उल्लेख हो चुका है)। यदि उदाहरण प्रसिद्ध रचनाओ से न लिये जावे तो प्रसिद्ध घटनाओ से तो आने ही चाहिये

---

(१) **'यह सुन्दरी अपनी पतली कमर के कारण मेरी कमर से जीत जाती है'—ऐसा सोच-कर सिह (चिढ़कर) उस नायिका के स्तनो के समान हाथी के कुम्भों को छिन्न-भिन्न कर देता है।**

(२) **मध्यं दिनार्कसंतप्तः सरसीं गाहते गजः।**
मन्ये मार्तण्डगृहाणि पद्मान्युद्धर्तुमुद्यतः ।२२२।

(३) **अत्र केचित् प्रत्यनीकालंकारमुद्भाव्य संकरं ब्रूते ।....परं नैतत् समंजसम्। आचार्यदण्डिना तस्यास्वीकारात् । अपरं चात्र कविना तत्पक्षोद्धरणस्य संभाव-नामात्रेण कल्पितत्वेन प्रतीकारस्य तात्त्विकवर्णनं कवेः नाभिप्रेतम्। (काव्यादर्श, टीकाभाग, पृ० २२७)**

क्योंकि उनमे मन का रंजन अधिक होता है । सार आदि के उदाहरण मनोहर तथा रमणीय हैं --

(क) **सब तें मधुर ऊख, ऊख तें पियूष औ'**
पियूख हू ते मधुर अधर प्रानप्यारी को ।४७। (सार)

(ख) **कढ़ि गयो भान, अंब मांगती हौ सायबान,**
मैन-मद-पोखी तेरी नोखी रीति जानिए ।५५। (ललित)

(ग) **नैनन सों नेह होत, नेह सों मिलाप होत**
रावरो मिलाप सब सुखन समाजै री ।४६। (कारणमाला)

दासकवि : काव्य-निर्णय

(सं० १८०३)

प्रतापगढ़-नरेश राजा पृथ्वीपति सिंह के अनुज हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में कविवर भिखारीदास (उपनाम 'दासकवि') ने 'काव्यनिर्णय' नामक ग्रन्थ की रचना सं० १८०३ में की[1]। दास हिन्दी के अग्रगण्य आचार्यों में हैं। आचार्य केशवदास हिन्दी के आदि तथा सर्वोपरि आचार्य माने जाते हैं, उनका अध्ययन बड़ा विशाल था, परन्तु कुछ बातों में दास केशव से बढ़कर हैं। सम्भव है दास का अध्ययन मात्रा में केशव से न्यून रहा हो, परन्तु वे आचार्य-कर्म में केशव से अधिक सफल हैं--जटिल विषय को भी सरल तथा सुगम रीति से हृदयगम कराने की शक्ति उनमें केशव से अधिक है। 'काव्य-निर्णय' की रचना में दास ने काव्यप्रकाश तथा चन्द्रालोक का ऋण स्वीकार किया है और दूसरे कवियों के प्रति भी कृतज्ञता प्रदर्शित की है, परन्तु इनसे भी अधिक महत्त्व इस तथ्य का है कि दास को भाषा की 'सुरुचि'[2] का ध्यान रहा है--इस गुण में वे समसामयिक आचार्यों से सहज ही आगे बढ़े हुए हैं।

चन्द्रालोक, काव्यप्रकाश आदि तच्छास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़कर दास के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भाषा में उस प्रकार के एक ग्रन्थ की रचना की जावे। यदि जो कुछ संस्कृत के उन ग्रंथों में लिखा है उसी को हिन्दी भाषा में कह दिया जाता तो उनकी रचना अनुवाद[3] मात्र बन जाती, और यदि सर्वत्र मौलिकता का ही आग्रह करते हुए वे चलते तो ग्रन्थ की उत्तमता सन्देहास्पद बनी रहती। अतः दासकवि ने उन ग्रन्थों का आश्रय भी लिया है और यथावश्यकता मौलिकता का समावेश भी किया है--संस्कृत आचार्यों के उन्हीं तथ्यों को स्वीकार किया है जो भाषा की रुचि के अनुकूल थे। जो लोग दास के विचारों से सहमत होंगे उनको तो इस नवीन ग्रन्थ की रचना में आनन्द मिलेगा ही, आश्रयदाता हिन्दूपतिसिंह ने इसका सम्मान किया है, और समकालीन विद्वानों ने भी इसकी प्रशंसा की है, अतः दास कवि का यह ग्रन्थ-रचना-रूप उद्यम व्यर्थ नहीं जा सकता, इसको भविष्य में भी स्थान मिलेगा, यदि भावी विद्वान् इस रचना से प्रभावित होकर इसकी प्रशंसा करेंगे तो दास का परिश्रम सफल हो गया, अन्यथा इस ग्रन्थ-रचना के व्याज

(१) अट्ठारह सै तीन कौ, संवत् आस्विन मास ।
ग्रन्थ काव्यनिरनय रच्यो, विजय दसमि दिन दास ॥

(२) बूझि सुचन्द्रालोक अरु, काव्यप्रकासहु ग्रंथ ।
समझि सुरुचि भाषा कियो, लै औरौ कवि पंथ ॥

(३) वही बात सिगरी कहे, उलथो होत इकंक ।
निज उक्तिहि करि बरनिये, रहै सुकल्पित संक ॥
यातें वुहुं मिश्रित सज्यो, छमिहै कवि अपराध ।

मे राधाकृष्ण का स्मरण तो हो ही गया।[1] जो व्यक्ति भली भाँति समझकर इस काव्य-निर्णय ग्रन्थ को कण्ठय कर लेगा उसकी रचना मे भगवती भारती[2] सदा निवास करेगी --कविता मे उसकी गति हो जायगी ।

काव्यनिर्णय का विषय

काव्यनिर्णय २५ उल्लासो का ग्रन्थ है । प्रथम मे काव्यप्रयोजन आदि, द्वितीय मे शब्दशक्ति, तृतीय मे अलकार, चतुर्थ मे रस, पचम मे अपराग, षष्ठ मे ध्वनि, सप्तम मे गुणीभूतव्यग्य, अष्टम मे अष्टादश तक फिर अलकार, एकोनविशतितम मे गुण-वृत्ति आदि, विशतितम मे शब्दालकार, एकविशति मे चित्र, द्वाविशति मे तुक, त्रयोविशति मे दोष, चतुर्विशति मे दोषोद्धार, तथा पचविशति मे रस-दोष आदि का वर्णन है । इस प्रकार १८ उल्लास तो केवल अलकार विषय मे ही लग गये, ३ उल्लास दोप-विषय मे, ८ रस आदि मे, १ शब्दशक्ति मे, १ गुणादि मे, १ काव्यप्रयोजन आदि मे, और १ उल्लास तुक विषय मे लगा है । तुक का विवेचन दास कवि की मौलिकता है । अलकारविषय का इतना विस्तार तथा ऐसा उल्लासीकरण भी एक विशेषता है । छन्द को दास ने अपनी रचना मे स्थान नही दिया ।

प्रथम उल्लास मे मगलाचरण आदि के अनन्तर काव्य प्रयोजन मे दासकवि ने मौलिकता का आभास दिया है--केवल हिन्दी-कवियो के उदाहरण द्वारा, तथा यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान आदि के स्थान पर साधना, सम्पत्ति, यश एव सुख को काव्यप्रयोजन मानकर । तुलसी और सूर का काव्य काव्यप्रकाश-स्वीकृत प्रयोजनो से अलग है, उसका फल 'सद्य परनिर्वृत्ति' मात्र नही है--दास ने उसका फल 'तपपुञ्ज'[3] (=साधना) माना है । आगे काव्य की कान्तासम्मित-उपदेश प्रवृत्ति को स्वीकार करके काव्यहेतु मे काव्यप्रकाश की वृत्ति का पूरा लाभ उठाकर प्रतिभा, निपुणता तथा अभ्यास इन तीनो को समुदित रूप[4] मे अनिवार्य मानकर दास कवि लिखते है कि जिस प्रकार धुरन्धर[5] (बैल) सूत, तथा चक्र-निपात तीन मे से एक के बिना भी रथ नही चल सकता उसी प्रकार शक्ति, शिक्षा,

---

(१) तातें यह उद्यम अकारथ न जैहै,
सब भांति ठहरैह भलो हौं हूं अनुमानो है ।
आगे के सुकवि रीझिहे तो कविताई,
न त राधिका-कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है ।

(२) ग्रन्थ काव्यनिर्नयहि जो, समुझि करींहगे कंठ ।
सदा बसैगी भारती, ता रसना उपकंठ ॥

(३) एक लहैं तपपुञ्जन्ह के फल, ज्यों तुलसी अरु सूर गोसाईं ।

(४) त्रयः समुदिता न व्यस्तास्तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुः...।
(काव्यप्रकाश, वृत्ति)

(५) एक बिना न चलै रथ जैसे धुरन्धर, सूत की चक्र निपातें ।

निरीक्षण[1] इन तीनो की एकत्र स्थिति मे ही कविता 'मनरोचक' हो सकती है। दास अभ्यास को भूल ही गये है, और शिक्षा के दो भाग कर बैठे है--शिक्षा तथा निरीक्षण।

काव्यलक्षण मे दास पर विश्वनाथ का प्रभाव है, उन्होने रस को काव्य मे अगी (अग) माना है, अलकार, गुण, रीति, (सरूप औ रग)[2] सब को उत्कर्षहेतु, तथा दोषो को अपकर्षक कहा है। दो शब्द विचारणीय है---'अग' तथा 'रग' दोनो पारस्परिक तुक के लिए आये हुए। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यनिर्णयकार ने रस को अग, अलकार को आभूषण, गुण को रूप-रग, तथा दोष को कुरूपता बताया है, गुण-दोष परस्पर-विपरीत ह इसलिए गुण को यदि रूप-रग कहा जाय तो दोष को कुरूपता कहना उचित होगा--विश्वनाथ ने गुण को रस का नित्य धर्म समझ कर उसको शौर्यादिवत् और रीति को अवयवसस्थानविशेष के समान कहा था, उनके मत मे रूप-रग के समान रीति बाह्य विशेषता है। दास कवि का भी यही मत है, उनके सोरठे का अन्वय इस प्रकार होगा--**कविता को अंग रस (है), भूषन गुन, सरूप-औ-रग सकल भूषन हैं, दूषन कुरूपता करै (ह)**। विश्वनाथ और भिखारीदास के क्रम मे भेद अवश्य है, तात्पर्य मे नही। 'अग' का अर्थ 'शरीर' नही, प्रत्युत 'अगी' या आत्मा है, यदि रस अग माना जाय तो अगी कौन होगा, और अगी के बिना क्या किसी का अस्तित्व सभव है? अस्तु, भिखारीदास का इस सोरठे मे 'अग' से तात्पर्य 'अगी' का ही मानना पड़ेगा।

इस उल्लास मे भाषा-लक्षण का प्रसग कवि की अपनी मौलिकता है, उसने भाषा मे मुख्य स्थान ब्रजभाषा को दिया है[3] (अपनी मातृभाषा अवधी का पक्षपात नही किया)। सस्कृत तथा फारसी के मिश्रण द्वारा यह ब्रजभाषा (दो रूपो मे)[4] प्रकट (व्यवहृत) होती होती है, षड्भाषा से अभिप्राय है ब्रजभाषा, मागधी, सस्कृत (अमर), (कदाचित्)। अपभ्रश (नाग?) यवन भाषाए, प्राकृत (सहज) तथा फारसी भी, यत्किंचित् मिश्रण के लिए--कविता[5] मे षड्भाषा इन्ही को समझना चाहिए। ब्रजभाषा से अभिप्राय ब्रज की बोली ही नही है, दूसरे प्रदेशो के कवियो ने भी अपने-अपनी विशेषताओ के दान द्वारा ब्रज-भाषा को एक साहित्यिक सर्वमान्य[6] रूप दे दिया है, वही रूप ब्रजभाषा की कसौटी है, और समर्थ कवि वही है जिसकी भाषा केवल ब्रजबोली ही न हो प्रत्युत विविध मिश्रणो द्वारा

---

(१) **सक्ति कवित्त बनाइवे की जेहि जन्म नक्षत्र मे दीन्हि विधाते।**
काव्य की रीति सिखी सुकवीन्ह सों, देखी सुनी बहु लोक की बाते॥

(२) **रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल।**
गुन सरूप औ रंग, दूषन करै कुरूपता॥

(३) **भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहै सुकवि सब कोइ।**

(४) **मिलै संस्कृत पारसिहु पै, अति प्रगट जु होइ।**

(५) **ब्रज, मागधी, मिलै अमर, नाग जमन-भाषानि।**
सहज, पारसीहू मिले, षट विधि कवित बखानि॥

(६) **ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो,**
ऐसे ऐसे कविन्ह की बानीहू से जानिये।

उदार तथा व्यापक रूप वाली भाषा हो, तुलसी और गग[1] इस भाषा-विषयक विशेषता के कारण भी महान् है।

अलकार-वर्णन

'काव्यनिर्णय' मे अलकार-प्रसग तीन बार आया है। प्रथम तो तृतीय उल्लास मे 'पदार्थनिर्णय' तथा 'रसागवर्णन' के बीच मे 'अलकारमूलवर्णन' के नाम से। द्वितीय बार अष्टम से अष्टादश उल्लासो तक। तथा तृतीय बार २०-२१ वे उल्लासो मे शब्द-चित्र नाम से। यह तो समझ मे आता है कि शब्दालकार के दो उल्लास (२० तथा २१) दास कवि ने पृथक् रख दिये, परन्तु अर्थालकार तथा शब्दालकार के व्यवधान मे गुण-वृत्ति को भरने का अभिप्राय क्या है? और शब्दालकारो के उल्लासो को अर्थालकारो के उल्लासो से बाद मे क्यो रखा गया है? सम्भव है शब्दालकार को शब्दमात्राश्रित जानकर दास ने शब्दप्रसग मे गुण-वृत्ति के साथ ही इनका वर्णन उचित समझा हो, और अर्थालकार को उससे पूर्व अर्थ-प्रसग मे ध्वनि तथा गुणीभूतव्यग्य के साथ स्थान दे दिया हो।

अर्थालकार विषय की दो बार चर्चा बडी अद्‌भुत लगती है। इतना अवश्य ठीक है कि आदि मे विषय सक्षिप्त है, आगे चलकर सविस्तर। तृतीय उल्लास के प्रारम्भ मे लिखा है --

कहूं वचन, कहूं व्यंग मे, परै अलंकृत आइ।
तेहि तें कछु संच्छेप करि, तिन्हहि देत दरसाइ॥

'काव्य मे (अलकार भी एक नित्य सी वस्तु है, ये) अलकार कही वाच्य होते है और कही-कही केवल व्यग्य मात्र (परन्तु इनका अस्तित्व होना प्राय सर्वत्र ही है) अत इन अलकारो की यहाँ कुछ सक्षिप्त चर्चा की जाती है।' काव्य मे दासकवि अलकार को एक विशेष महत्त्व देते थे--इसका काव्यनिर्णय मे अलकार-विषय के इतने विस्तार मे भी समर्थन होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि जिस अलकार का इतना महत्त्व है, उसकी सक्षिप्त ही चर्चा क्यो की? और क्या इसी सक्षेप-दोष के सम्मार्जन के लिए ही आगे इतना विस्तार है?

काव्य-निर्णय की भूमिका मे कवि ने चन्द्रालोक तथा काव्यप्रकाश का ऋण स्वीकार किया है--पहिले चन्द्रालोक का फिर काव्यप्रकाश का। चन्द्रालोक अलकार को काव्य का नित्य अग ही मानता है, इसमे अलकारविषय प्रारम्भिक मयूखो मे है, यहाँ भेदोपभेदो का विस्तार नही है, तथा एक ही छोटे छन्द मे लक्षण और उदाहरण समा गये है। काव्य-निर्णय के तृतीय उल्लास मे भी ये समस्त प्रवृत्तियाँ पाई जाती है--प्रतीप अलकार के ही भेदो का कथन है, प्रतीप, ससृष्टि तथा सकर के ही उदाहरण बडे छन्दो मे है। अत हमारा अनुमान है कि काव्यनिर्णय का तीसरा उल्लास चन्द्रालोक के अनुकरण पर है, भले ही इसमे अनुप्रासादि को स्थान न मिला हो और इसके अलकारो के नाम, भेद एव सख्या चन्द्रालोक के आधार पर न हो। उत्तरार्द्ध मे अलकारो के भेदोपभेद, व्याख्या,

(१) **तुलसी गंग दुऔ भये, सुकविन के सरदार।**
इनकी काव्यन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥

तथा उदाहरण आदि विशेषताएँ उस स्थल को चन्द्रालोक की अपेक्षा काव्यप्रकाश के अधिक निकट ठहरानी है। अस्तु, दो भिन्न-भिन्न आचार्यों के झमेले मे दासकवि को अलकार-विषय की अवैज्ञानिक आवृत्ति कर देनी पडी, यह निष्कर्ष सत्य से अधिक दूर न होने पर भी दोष-मार्जन मे समर्थ नही है।

तृतीय उल्लास

काव्यनिर्णय के इस उल्लास का नाम 'अलकार मूल वर्णन' है, और वर्णन किया गया है मूल या मुख्य-मुख्य अलकारो का, अत इस शीर्षक का अर्थ हुआ 'अलकारो मे जो मूल (मुख्य) है उनका वर्णन', खडी बोली मे यह शीर्षक 'मूल-अलकार-वर्णन' लिखा जाता। यहाँ भेदोपभेदो का तो प्रश्न ही नही आता, छोटे-छोटे अलकारो को भी स्थान न मिल सका। अलकारो की सख्या ४४+२=४६ है--४४ अर्थालकार तथा समृष्टि और सकर, शब्दालकार नही लिखे गये। इस उल्लास मे केवल ५४ छद है, जिनमे ४९ दोहे ही है।

४४ अलकारो के दास ने ११ वर्ग बनाये है। वर्गानुसार अलकारो की नामावली इस प्रकार है --

(१) **उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, प्रतीप, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, तुल्ययोगिता--८**

(२) **उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, स्मरण, भ्रम, सन्देह--५**

(३) **व्यतिरेक, रूपक--२**

(४) **अतिशयोक्ति, उदात्त, अधिक--३**

(५) **अन्योक्ति, व्याजस्तुति, पर्यायोक्ति, आक्षेप--४**

(६) **विरुद्ध, विभावना, विशेषोक्ति--३**

(७) **उल्लास, तद्गुण, मीलित, उन्मीलित--४**

(८) **सम, भाविक, समाधि, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति--६**

(९) **सूक्ष्म, परिकर--२**

(१०) **स्वभावोक्ति, काव्यलिग, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर--४**

(११) **यथासंख्य, एकावली, पर्याय--३**

यह वर्गीकरण यदृच्छया अनुशासित प्रतीत होता है, परन्तु उत्तरार्द्ध मे भी इतने ही वर्ग है--जिससे हम कुछ सिद्धात निकालने को बाध्य होते है (वर्गीकरण पर आगे विचार किया जायगा)।

अलकारो के भेदोपभेद नही है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि उस समय तक, देव कवि के समान, दास कवि को अलकार-भेद का ज्ञान न था, या वह भेदो मे विश्वास न करता हो, क्योकि भेदो के सकेत इस उल्लास मे भी है और आगे तो उनका विस्तार है--सक्षेप के कारण ही उसने इनको स्थान नही दिया। उपमा के प्रसग मे 'यो ही औरौ जानु' द्वारा व्यजना से तथा प्रतीप की चर्चा मे 'पच प्रकार सुफैर' द्वारा स्पष्ट कथन करके दास कवि ने अलकार-भेद का अस्तित्व स्वीकार किया है--यह स्मरणीय है कि समस्त उल्लास मे केवल प्रतीप के ही भेद लिखे गये है, अन्य किसी अलकार के नही। अपह्नुति

के प्रसग मे शुद्धापह्नुति न लिखकर शायद अधिक चमत्कारी मानते हुए छेकापह्नुति के उदाहरण को स्थान दिया है।

अलकारो के लक्षण और उदाहरण दूसरों से प्रभावित है। अनुवाद अधिक सफल नही हुए। एक स्थल देखिए ––

(क) करत अधर-छत, प्रिय ? नहीं सखी, सीत-रितु वाय। (भाषाभूषण)

(ख) वहै अपह्नुति, अधरछत करत, न प्रिय, हिम-वाय। (काव्यनिर्णय)

यद्यपि दोनो लेखको का भाव एक ही है, परन्तु आधार-ग्रथ मे सफाई अधिक है। नायिका ने कहा––'करत अधर-छत', सखी चौकी–'प्रिय ?', नायिका ने सावधान होकर उत्तर दिया––'नही सखी, हिम-वाय'। काव्यनिर्णय मे सखी को बोलने का अवसर ही न मिला और सखी के प्रश्न की आशकामात्र से ही नायिका का अपराधी हृदय 'न प्रिय, हिम-वाय' कह उठा। दूसरा स्थल देखिए निषेधाभास मे ––

(क) नाहं दूती तनोस्तापस्तस्याः कालानलोपमः। (कुवलयानन्द)

(ख) बिरहबरी कौ मैं नहीं कहती लाल संदेस। (काव्यनिर्णय)

मूल मे दूतीकर्म का निषेध करते हुए उसका सुचारु रूप से सपादन है, परन्तु दास ने 'बिरहबरी' पद को आदि मे रखकर उस चमत्कार को ही नष्ट कर दिया है––दूती ने अपने कर्म (पेशे) का तो निषेध नही किया, परन्तु वह अपनी क्रिया (प्रत्यक्ष कार्य) का निषेध कर रही है, सारे कथन से ऐसा भाव ध्वनित होता है कि विरहविह्वलाओ का सन्देश वहन करना उसकी शान के खिलाफ है (वैसे दूतीकर्म उसका व्यवसाय है ही)।

अलकारो के ११ उल्लास

दासकवि ने काव्यनिर्णय के तीसरे उल्लास मे अलकारो के जो ११ वर्ग बनाये थे उन्ही के समानान्तर इस ग्रथ के ११ उल्लासो (८वे से १८वे तक) मे अर्थालकारो का फिर वर्णन है; परन्तु तृतीय उल्लास के एक-एक वर्ग को ही आगे चलकर अलकारो का एक-एक उल्लास नही मिल गया, अलकारो की सख्या तो दोगुनी से भी अधिक हो गई है; अवश्य ही पिछले वर्ग और ये उल्लास समानान्तर है। इस स्थल पर अलकारो का विस्तार से वर्णन है, एक-एक बडे छन्द मे एक-एक अलकार का वर्णन करते हुए दासकवि ने ११ उल्लासो में इस माला को सजाकर अपने कर्त्तव्य[1] का पालन किया है।

इस अलकार-माला मे अर्थालकारो की सख्या तृतीय उल्लास-गत अलकार-सख्या से दोगुनी अर्थात् ४४×२=८८ है, परन्तु दास ने अर्थालकारो[2] की गिनती ८६ ही बतलाई है ––सम्भवत: गूढोक्ति से गूढोत्तर, तथा परिकर से परिकराकुर भिन्न नही माने गये। वर्गानुसार अर्थालंकारो की सख्या निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट की जा सकती है :––

---

(१) बड़े छन्द में, एक ही करि भूषन विस्तार।
करौ घनेरौ धर्म मैं, इक माला सजि चारु॥

(२) भूषन छियासी अर्थ के.....।

अष्टम उल्लास	– उपमा	आदि—	१२
नवम ,,	—उत्प्रेक्षा	,,	—५
दशम ,,	—व्यतिरेक	,,	—३
एकादश ,,	—अतिशयोक्ति	,,	—५
द्वादश ,,	—अन्योक्ति	,,	—६
त्रयोदश ,,	—विरुद्ध	,,	—६
चतुर्दश ,,	—उल्लास	,,	—१४
पंचदश ,,	—सम	,,	—१६
षोडश ,,	—सूक्ष्म	,,	—११
सप्तदश ,,	—स्वभावोक्ति	,,	—१०
अष्टादश ,,	—यथासंख्य	,,	—२

इस प्रकार योग ९० हुआ, परन्तु यथासख्य आदि दो अलकार वाक्य के अलकार है, यद्यपि अर्थ मे भी इनमे एक विशेष सौदर्य[1] आ जाता है, अत उनको अलग करके अर्थालकारो की मूल सख्या ९०—२=८८ रह जाती है। दासकवि ने प्रत्येक वर्ग के साथ सख्या भी दे दी है, इसलिए हमको अपने मन से घटाने बढाने का कोई अधिकार नही।

समस्त अलकारो का वर्णन करके दास ने सख्यासम्बन्धी निम्न पक्तिया लिखी है —

भूषन छियासी अर्थ के, आठ वाक्य के जोर।
त्रि गनि, चारि पुनि, कीजिये अनुप्रास इक ठौर॥
सब्दालंकृत पांच, गनि चित्र काव्य इक पाठ—
इकइस गातादिक सहित, ठीक सतोपरि आठ॥

अर्थालकार ८६, वाक्यालकार प्रमाण आदि ८, (भावोदय आदि) ३, (रसवदादि)[2] ४, अनुप्रास १, शब्दालकार ५, इक्कीस भेदवाला चित्रालकार १, इस प्रकार योग ठीक १०८ हुआ। इस आचार्य को इस १०८ की सख्या मे से जो अलंकार स्वीकार्य थे उनका काव्यनिर्णय मे वर्णन कर दिया है, शेष की सूचना दे दी है, वर्णन ठीक नही समझा गया। अप्पयदीक्षित ने प्राचीनो तथा आधुनिको के मत से १०० अलकारो का वर्णन करके शेष अलकारो की सख्या लगभग इसी प्रकार की शब्दावली मे गिनाई थी —

रसभाव-तदाभास-भावशान्ति-निबंधनाः।
चत्वारो रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि च समाहितम्॥
भावस्य चोदयः सन्धिः शबलत्वमिति त्रय।
अष्टौ प्रमाणालंकाराः प्रत्यक्षप्रमुखाः क्रमात्।
एवं पंचदशान्यानप्यलंकारान् विदुर्बुधाः॥

---

(१) **क्रम, दीपक द्वै रीति के, अलंकार मति चारु।**
अति सुखदायक वाक्य के, जदपि अर्थ सों प्यारु॥

(२) **रसभावादिक होत जहं, जुगल परस्पर अंग।**
तहं अपरांग कहं कोऊ, कोउ भूषन इहि ढंग॥

हम अर्थालकारो की सख्या पर विचार कर रहे थे। योग के अनुसार वे ९० है, २ अर्थ-वाक्य-अलकारो को निकालकर शेष ८८ रह गये, और गूढोत्तर एव परिकराकुर को अलग न माने तो कविकथित ८६ की सख्या सिद्ध हो जाती है, योगसख्या ८६ ही माननी चाहिये, क्योकि परमयोग १०८ है, इस तथ्य को भी ध्यान मे रखना ही पडेगा।

इस रीति मे नवागत अलकारो का वर्गानुकूल विवरण निम्नलिखित है —

उपमा वर्ग — लुप्तोपमा, मालोपमा, प्रतिवस्तूपमा, विकस्वर + ४

उत्प्रेक्षा ,, — ×

व्यतिरेक ,, —उल्लेख + १

अतिशयोक्ति ,, —अल्प, विशेष + २

अन्योक्ति ,, —प्रस्तुतांकुर, समासोक्ति + २

विरुद्ध वर्ग —व्याघात, असंगति, विषम + ३

उल्लास ,, —अवज्ञा, अनुज्ञा, लेश, विचित्र, स्वगुण, अतद्गुण, पूर्वरूप, अनुगुण, सामान्य, विशेषक + १०

सम ,, —प्रहर्षण, विषादन, असंभव, संभावना, समुच्चय, अन्योन्य, विकल्प, प्रतिषेध, विधि, काव्यार्थपत्ति + १०

सूक्ष्म ,, —पिहित, युक्ति, गूढोत्तर, गूढोक्ति, मिथ्याध्यवसित, ललित, विवृतोक्ति, व्याजोक्ति, परिकरांकुर + ९

स्वभावोक्ति ,, —हेतु, प्रमाण, निरुक्ति, लोकोक्ति, छेकोक्ति, प्रत्यनीक + ६

यथासंख्य ,, —दीपक जोड़ा, एकावली तथा पर्याय स्वतंत्र न बनकर भेदमात्र रह गये —१

इन नये अलकारो मे से अधिकतर को चन्द्रालोक-कुवलयानन्द के प्रभाव से आया हुआ माना जा सकता है, परन्तु यह भी ध्यान रखना पडगा कि कदाचित् काव्यप्रकाश के प्रभाव से ही काव्यनिर्णय मे अर्थालकार तथा शब्दालकार के प्रसग अलग-अलग है और हमारे आचार्य ने केवल ८६ (८८ या ९०) अर्थालकारो का ही वर्णन किया है— शेष की यत्र-तत्र चर्चा है।

अर्थालकारो के वर्ग

अर्थालकारो के ये वर्ग, यह व्यवस्था, या यह रीति किस आधार पर आश्रित है यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। यदि किसी मनोवैज्ञानिक आधार को स्वीकार किया होता तो सादृश्यमूलक उपमा, उत्प्रेक्षा तथा व्यतिरेक अलग-अलग वर्गों के नेता न बन गये होते, और उल्लास-वर्ग मे सतरगी लहर न आई होती। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि इस व्यवस्था मे दासकवि ने नितान्त उच्छृखलता से काम लिया है। लगभग प्रत्येक 'उल्लास' के साथ अलकार-सूची का सयोग किसी व्याख्यात्मक निर्देश से हो गया है। यथा —

(१) ....**अलंकार बारह विदित।**

उपमान और उपमेय को, है विकार समुझो सुचित॥ (उपमा आदि उल्लास)

(२) जदपि भिन्न हूहैं तदपि, उत्प्रेक्षहि को गेह ॥
उत्प्रेक्षादिक मैं नहीं, तदपि मिलै अभिराम ॥ (उत्प्रेक्षादि उल्लास)

(३) .....षट् भूषन इक ठौर।
जानि सकल अन्योक्ति मैं, सुनहु सुकवि सिरमौर ॥ (अन्योक्ति आदि उल्लास)

(४) विविध विरुद्ध..... .।
.....विषम समेत छ जानि ॥ (विरुद्धादि उल्लास)

(५) ए होत चतुर्दश भांति के, अलंकार सुनिये सुमति।
सब गुन दोषादि प्रकार गनि, किये एक ही ठौर थिति ॥ (उल्लासादि उल्लास)

(६) उचित अनुचितौ बात मैं, चमत्कार लखि दास।
अरु कछु मुक्तक रीति लखि, कहत एक उल्लास ॥ (समादि उल्लास)

(७) ध्वनि के भेदन में इन्हें, वस्तुव्यंग कै लेखि ॥ (सूक्ष्मादि उल्लास)

(८) ता संगी पहिचानिये, बहुविध हेतु प्रमान। (स्वभावोक्ति आदि उल्लास)

(९) क्रम, दीपक द्वै रीति के, अलंकार मति चारु।
अति सुखदायक वाक्य के, जदपि अर्थ सों प्यारु ॥

अस्तु, ११ मे से ९ वर्गों का आधार लेखक ने स्वयमेव स्पष्ट कर दिया है, भले ही हम उससे पूर्णत सहमत न हो। और जो कुछ व्याख्यात्मक निर्देश उपलब्ध है उनकी सार्थकता भी सन्देहास्पद नही। यह निर्विवाद है कि उपमा के सहयोगी १२ अलकार उपमान-उपमेय के 'विकार' ही है, उत्प्रेक्षा, विरुद्ध आदि के वर्ग निश्चय ही साभिप्राय है। उल्लास-वर्ग तथा सम-वर्ग के विषय मे लेखक ने अपने सकलन को स्वीकार करने मे कोई सकोच नही किया, आठवें उल्लास मे भर्ती मानी जा सकती है, क्योकि फिर एक उल्लास ध्वन्यात्मक अलकारो का, एक स्वभावोक्ति आदि का, और एक रीति के अलकारो का है, अत: यह मानना उचित है कि दास का उल्लासीकरण निर्मूल नही है, उसमे आकार-साम्य तो मनोगत रहता ही है।

उत्प्रेक्षा वर्ग को ही ले लीजिए। प्रथम वर्णन (सक्षिप्त) तथा द्वितीय वर्णन (सविस्तार) दोनों ही मे इस वर्ग के अन्तर्गत पाच अलकार है--उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, स्मरण, भ्रम तथा सन्देह। प्रस्तुत 'मुख' है और अप्रस्तुत 'चन्द्र'। 'मुख मानो चन्द्र है' (उत्प्रेक्षा), 'मुख है, या चन्द्र है' (सन्देह), 'मुख नही, चन्द्र है' (अपन्हुति), 'चन्द्र है' (भ्रम) आदि उदाहरण तत्प्रसग मे क्रमश. वर्द्धमान सौदर्याधिपत्य के ही सूचक है, इसी क्रम के समानान्तर चन्द्र को देखकर मुख की स्मृति (स्मरण), तथा मनोगत सन्देह मे पडकर 'चन्द्र है' यह 'निश्चय' भी रखे जा सकते है। मानसिक प्रतिक्रिया अवश्य भिन्न है, परन्तु प्रत्येक प्रसंग मे बौद्धिक प्रक्रिया समान ही है। ये सभी अलकार उपमामूलक या सादृश्य-मूलक है, फिर भी इनमे सादृश्य सरस है, उपमागत सादृश्य के समान सामान्य वाच्य मात्र नही। सस्कृत आचार्य केशवमिश्र[1] ने कदाचित् इसी चमत्कार से प्रभावित होकर उत्प्रेक्षा को

(१) सर्वालंकारसर्वस्वं कविकीर्त्तिविवर्धिनी।
उत्प्रेक्षा हरति स्वान्तमचिरोढा-स्मितादिव ॥ (अलंकार-शेखर)

'सर्वालकार-सर्वस्व' माना था, तथा नवोढा के स्मित के समान इसके आकर्षण को मनोहर बतलाया था।

अन्योक्ति वर्ग मे विस्तार के साथ ६ अलकार आ जाते है—अन्योक्ति, व्याज-स्तुति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, समासोक्ति, तथा प्रस्तुताकुर। प्रस्तुताकुर, समासोक्ति, तथा अन्योक्ति मे इतना सूक्ष्म अन्तर है कि अलकार-शास्त्र के आचार्य ही उसको साधिकार स्पष्ट कर सकते है। एक के नाम से दूसरे के विषय मे कहना, या एक बात के मिस से दूसरी बात पर सकेत करना ही शेष तीन अलकारो का आधार है। अत बाह्यसाम्य की दृष्टि से ये पाचो सन्निकट ही है। इसी प्रकार दूसरे वर्गों पर सहानुभूतिपूर्ण विचार करने से दास कवि का उल्लासीकरण ठोस आधार पर आश्रित लगने लगता है—उसमे पूरी सचाई है और स्वाभाविक आकार-साम्य है।

अलकारो के लक्षण

दास कवि ने अपने ग्रन्थ मे भाषा की सुरुचि का सर्वत्र ध्यान रखा है, इसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। अलकार-प्रसग मे इस सुरुचि का एक रूप सहज-ग्राह्य लक्षण है, यह आवश्यक नही कि ये लक्षण कसावट मे पूरे उतरे, या लक्षण की अपेक्षा वे वर्णन के अधिक निकट न हो, परन्तु पारिभाषिकता से कुछ अलग रहकर भी वे अपने कर्त्तव्य मे कृतकार्य है। कुछ उदाहरण देखिए —

(क) उपमा अरु उपमेय तें, वाचक धर्म मिटाय।
एकै करि आरोपिये, सो रूपक कविराय॥

(ख) दोऊ प्रस्तुत होत जहं, प्रस्तुत अंकुर लेखि।
समासोक्ति प्रस्तुतहिं तें, अप्रस्तुत अवरेखि॥

(ग) तिहूं लुप्त जहं होत है, केवल ही उपमान।
रूपकातिशय उक्ति तहं, बरनत है मतिमान॥

(घ) शुद्ध, हेतु, पर्यस्त, भ्रम, छेक, कैतवहिं देखि।
वाचक एक नकार है, सब में निश्चय लेखि॥

(ङ) लखि बिम्बा प्रतिबिम्ब गति, उपमेयो उपमान।
लुप्त शब्द वाचक किये, है दृष्टांत सुजान॥

(च) करत जु है उपमान ह्वै, उपमेयहि को काम॥
नहिं दूषन अनुमानिये, है भूषन परिनाम॥

(छ) जहं अत्यन्त सराहिये, अतिशयोक्ति सु कहन्त।

(ज) कहिय लच्छना रीति लै, कछु रचना सों बैन।
मिसु करि कारज साधिबो, परजायोक्ति सुऐन॥

इन उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि दास की दृष्टि सरलता पर थी, भाषा-पाठक की सुरुचि पर थी। रूपक का उक्त लक्षण शास्त्रीय तो नही है, परन्तु स्वरूपत यथार्थ है—उपमा के चार अगो मे से दो अग, वाचक तथा धर्म, लुप्त हो जाते है, और शेष दो अगो, उपमान तथा उपमेय मे, आरोप-रूप एकत्व की प्रतिष्ठा हो जाती है, वाचक-धर्म लोप

रूपक का लक्षण नही, परन्तु 'एकत्व' तथा 'आरोप' निश्चय ही उसकी मुख्य विशेषता है। रूपकातिशयोक्ति की एकमात्र पहिचान यही है कि उसमे उपमा का केवल एक अग उपमान मात्र ही दिखाई पडता है। परिणाम अलकार का यह सरल लक्षण भी सबको मान्य होगा। अतिशयोक्ति को 'अत्यन्त सराहना' करना ठीक नही, वस्तुत 'अध्यवसान' तथा 'निगीर्ण' शब्दो को व्याख्या-सापेक्ष्य जानकर हिन्दी-आचार्य अपने-अपने सरलीकरण के प्रयत्न करते रहे है, दास ने भी यही किया परन्तु 'सराहना' शब्द उनके लक्षण को निर्दोष नही रहने देता।

काव्यनिर्णय के कुछ लक्षण दूसरो से स्वतत्र भी है। उपमा के दो रूप है--श्रौती उपमा तथा आर्थी उपमा। तुल्य, समान, आदि शब्दो के प्रयोग मे आर्थी; तथा इव, यथा आदि के प्रयोग मे श्रौती उपमा होती है। इव, यथा आदि शब्द सर्वदा उपमान के साथ ही आते है उपमेय के साथ नही, परन्तु तुल्य, समान आदि शब्द उपमान और उपमेय दोनो के साथ प्रयुक्त होते है। 'चन्द्र इव सुन्दर मुख' वाक्य मे चन्द्र मे सामान्य धर्म सुन्दरता की अधिकता, तथा मुख मे अपेक्षाकृत न्यूनता अभिलक्षित है। इसके विपरीत 'चन्द्र तुल्य सुन्दर मुख' वाक्य मे सुन्दरता-धर्म चन्द्र-उपमान तथा मुख-उपमेय मे समान मात्रा मे ही है। काव्यनिर्णय मे श्रौती उपमा का लक्षण है--

धर्म सहज अश्लेष करि, जहां सुकवि सरि देत।
श्रौती उपमा ताहि को, कहत सदा शुभ चेत॥

अर्थात् श्रौती उपमा की मुख्य विशेषता हुई 'धर्म सहज अश्लेष'। 'अश्लेष' के दो तात्पर्य हो सकते है--'श्लेष' तथा 'अश्लेष' (ब्रज भाषा मे 'श्लेष' का 'अश्लेष', तथा 'स्थान' का 'अस्थान' हो जाया करता है)। 'श्लेष' शब्द के दो अर्थ होगे--'श्लेष अलकार', तथा 'समीप'। यदि यहा 'श्लेष' शब्द का अर्थ अलकार विशेष ले तो अभीष्ट अभिप्राय 'श्लिष्ट धर्म' या 'अश्लिष्ट धर्म' माना जायगा। प्रथम इसलिए अमान्य है कि धर्म का अनिवार्यत श्लिष्टत्व किसी आचार्य के उदाहरण मे नही है, यदि द्वितीय को स्वीकार कर ले तो 'वैनतेय इव विनतानन्दजनन' आदि मे श्रौती उपमा न मानी जायगी। अस्तु, दासकवि के इस वाक्य मे 'श्लेष' अलकार विशेष का नाम नही, प्रत्युत सामीप्य या नैकट्य का सूचक है, अत इस उपमा का सबध सहज धर्म की निकटता या दूरता से है--शायद दूरता से अधिक। दासकवि का अभिप्राय यह जान पडता है कि श्रौती उपमा मे सामान्य धर्म दूरस्थ (=भिन्न भिन्न वाक्यो द्वारा कथित) होता है। उदाहरण है--

बुध गुन-अवगुन संग्रहै, खोलै सहित विचार।
ज्यों हर-गर गोये गरल, प्रगटे ससिहि लिलार॥

उदाहरण से यह प्रकट है कि दास कवि का श्रौती उपमा से ठीक वही अभिप्राय नही है जो कि दूसरे आचार्यों का, वे श्रौती उपमा साम्य के श्रवण मे मानते है; परन्तु दूसरे आचार्य उपमा-मात्र के लिए 'वाक्यैक्य' (विश्वनाथ) भी अनिवार्य मानते थे; अतः उन आचार्यों के अनुसार इस उदाहरण मे प्रतिवस्तूपमा हो सकती है; वस्तुत यहा वाक्योपमा या उदाहरण अलकार ही है।

प्रतिवस्तूपमा के काव्य निर्णय मे दो लक्षण है —

(क) नाम जु है उपमेय को, सोई उपमा नाम।
ताहि प्रतीवस्तूपमा, कहत सुकवि गुनधाम॥
जहँ उपमा उपमेय को, नाम अर्थ है एक।
ताहू प्रतिवस्तूपमा, कहे सुबुद्धि विवेक॥

(ख) जहां बिम्ब प्रतिबिम्ब नहिं, धर्महि तें सम ठानि।
प्रतिवस्तूपमा तिहि कहे, दृष्टांतहिं मे जान॥

पिछला लक्षण तो सर्वसम्मत है, परन्तु पहिले के विषय मे मतभेद हो सकता है। एक ही शब्द (नाम) (आवृत्तिपूर्वक भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त होकर) उपमान और उपमेय बन जावे तो प्रति-वस्तु-उपमा है, और यह अलकार वहा भी होता है जहा एक ही शब्दार्थ उपमान तथा उपमेय के रूप मे प्रयुक्त हो। दास का यह लक्षण बडा अस्पष्ट है, शायद उनका अभिप्राय समान शब्द द्वारा उपमान तथा उपमेय के धर्मकथन मे है। उदाहरण से कुछ स्पष्ट नही होता —

लाल बिलोचन अधखुले, आरस सजुत प्रात॥
निन्दत अरुन प्रभात को, बिकसत सारस पात॥

लक्षण नाम प्रकाश

यद्यपि दासकवि अलकारो के नाम मे ही लक्षण नही मानते फिर भी चन्द्रालोक के अनुकरण पर स्मरण, भ्रम तथा सन्देह के नामो से ही लक्षणो का प्रकट होना काव्य-निर्णय मे स्वीकार किया गया है —

(क) सुमिरन, भ्रम, सन्देह कौ, लच्छन प्रगटै नाम॥
(ख) लक्षण नाम प्रकास है, सुमिरन, भ्रम, सन्देह॥

अलंकारो के भेद

काव्यनिर्णय के तृतीय उल्लास मे अलकारो के भेद नही थे, परन्तु विस्तारपूर्वक वर्णन मे एक-एक अलकार के अनेक भेदो[1] का कथन है, परन्तु भरती के निराधार भेद नही है। प्रमुख अलकारो मे से अधिकाश के भेद दासकवि ने सख्या मे औरो से अधिक लिखे है। अर्थान्तरन्यास की माला, अपन्हुति की ससृष्टि, तथा मालोपमा के अनेक भेदो के साथ-साथ अतिशयोक्ति के रूपकातिशयोक्ति के समानान्तर उपमातिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षातिशयोक्ति भेद भी है। वस्तुत दासकवि अतिशयोक्ति का अर्थ अत्युक्ति भी ले लेते है इसलिए ये नये उदाहरण और उनके आधार—ये भेद वे लिख गये। यदि काव्य-निर्णयकार भेदोपभेदो के झमेले मे न पडता तो उसकी कृति बडी सुथरी बनी रहती, भेद-विस्तार मे वह भटक गया है।

अलंकारों के उदाहरण

रीतिकालीन आचार्य लक्षणो की अपेक्षा उदाहरणो के लिए अधिक प्रसिद्ध है,

(१) अलंकार रचना बहुरि, करौं सहित विस्तार।
एक एक पर होत जहं, भेद अनेक प्रकार॥

और कई तो ऐसे है जिन्होने मन लगाकर रमणीय वर्णनात्मक उदाहरण बनाये है। उदाहरण दास कवि के भी परम उपयुक्त है, परन्तु उतने रसीले नही, उनकी मुख्य विशेषता सामर्थ्य है। भ्रांतापन्हुति का प्रसिद्ध उदाहरण **"आनन है, अरविंद न फूले, अलीगन भले कहा मंडरात हौ"** काव्यनिर्णय से ही है। अर्थान्तरन्यास का एक उदाहरण भी देखने योग्य है --

पंडित पंडित सों सुखमंडित, सायर सायर के मन मानै।
संतहि संत भनंत भलौ, गुनवंतनि को गुनवंत बखानै।
जा पर जाकर प्रेम नहीं, कहिये सु कहा तेहि की गति जानै।
सूर को सूर, सती को सती, अरु दास जती को जती पहिचानै॥

रीतिकाल के अधिकतर आचार्य उदाहरण के लिए जिस बडे छन्द को लिखते थे उसका एक चरण (प्राय अन्तिम) ही उस अलकार का उदाहरण था, शेष मे कवित्व की ही रमणीयता थी। दासकवि के उदाहरण मे प्राय चारो चरण उपयोगी है, व्यर्थ का कोई नही। निदर्शना अलकार सत्-सत्, असत्-असत् तथा असत्-सत् वाक्यार्थ की एकता मे आता है। असत्-सत् वाक्यार्थ की एकता का उदाहरण भानु-जुगनू, खगाधिप-माखी, कविद-तुकजोरनहार, एव करतार-कुम्हार की वाक्यार्थ-एकता का सुन्दर रूप तो उपस्थित करता ही है तत्कालीन कवियश कामी जन पर भी चुभता व्यग्य छोडता है —

जुगुनू भानु के आगे भली विधि आपनी जोतिन्ह को गुन गैहैं।
माखियो जाइ खगाधिप सों उड़िबे की बड़ी बड़ी बात चलैहैं।
दास जबै तुकजोरनहार कैबिन्द उदारन की सरि पैहैं।
तो करतारहु सों औ कुम्हार सों एक दिना झगरो बनि अैहैं॥

फिर भी दास जी के उदाहरण सरस है और युग की चित्तवृत्ति का उचित प्रतिफलन करते है, शृगारिकता तथा शब्द-वैभव कला के उपकरण बन कर इन उदाहरणो को मनोहर काव्य की सज्ञा दे सकते है। हीन-अभेद-रूपक का एक उदाहरण हम को अनायास ही केशव का स्मरण करा देता है --

कंज के संपुट हे ये, खरे हिय मे गड़ि जात ज्यों कुंत की कोर हैं।
मेरु हैं पै हरि हाथ में आवत, चक्रवर्ती पै बड़ेई कठोर हैं।
भावती तेरे उरोजनि में गुन दास लख्यौ सब औरई और हैं।
संभु हैं पै उपजावै मनोज, सुवृत्त हैं पै परिचित्त के चोर हैं॥

काव्यनिर्णय के उदाहरणो मे दूसरो की छाया भी है, और छायानुवाद भी। छायानुवाद निर्दोष नही कहे जा सकते। अधिक अभेद रूपक का उदाहरण --

बंधन-डर नृप सों करै, सागर कहा बिचारि।
इनको पार न शत्रु है, अरु हरि गई न नारि॥

कुवलयानन्द के इस छन्द की छाया मे लिखा गया है

त्वय्यागते किमिति वेपत एष सिन्धु–
स्त्वं सेतुमन्यकृदतः किमसौ बिभेति।

द्वीपान्तरेऽपि न हि तेऽस्त्यवशंवदोऽद्य
त्वां राजपुङ्गव ! निषेवत एव लक्ष्मीः ॥

सस्कृत के तृतीय चरण का दोहे के तृतीय चरण मे अनुवाद ठीक नही हुआ क्योकि 'द्वीपान्तरेऽपि' मे जो महत्त्व 'अपि' का था उसको दासकवि भूल गये––'इनको पार न शत्रु है' से यह सूचना नही मिलती कि 'कही भी (सागर के उस पार भी) इनका शत्रु (जीवित) नही है।' विश्वनाथ का अर्थापत्ति का उदाहरण एक भिन्न वेष धारणकर काव्य-निर्णय मे निदर्शना का उदाहरण है ––

हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मरकिंकराः ॥ (साहित्यदर्पण)
पदुमिनि-उरजनि पर लसत, मुकुतमाल की जोति ।
समुझावत यों सुथल गति, मुक्त नरन की होति ॥ (काव्यनिर्णय)

इसी प्रकार छायानुवादो के दूसरे स्थल भी लिये जा सकते है। भाषाकवियो के कुछ प्रभाव भी देखने योग्य है .––

(क) ललित स्याम लीला ललन, बढ़ी चिबुक छवि दून ।
मधु-छाक्यौ मधुकरु परचौ, मनौ गुलाब-प्रसून ॥ (बिहारी)
लख्यौ गुलाब प्रसून मैं, मैं मधु-छक्यौ मलिन्दु ।
जैसे तेरे चिबुक में, ललिता लीला बिन्दु ॥ (दास)

(ख) घटै बढ़ै सकलंग लखि, जग सब कहै ससंक ।
बालबदन सम है नहीं, रंक मयंक इकंक ॥ (दास)
जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन, सकलंक ।
सीय-मुख समता पाव किम, चन्द बापुरौ रंक ॥ (तुलसी)

इसी प्रकार के अन्य स्थल भी देखे जा सकते है।

दास कवि ने अर्थालकारो के उदाहरण एक से अधिक बनाये है, परन्तु केवल वर्णन के लिए ही नही, प्रत्युत स्पष्टीकरण के लिए। उदाहरण छोटे दोहा जैसे छन्दो मे भी है, तथा कवित्त जैसे बडे छन्दो मे भी। वे अधिक गभीर, अधिक स्पष्ट, मनोरम तथा उपयुक्त है।

कुछ अलकार

दासकवि ने कुछ ऐसे अलकार लिखे है जो या तो अन्यत्र वर्णित नही है या (अधिक उचित यह कहना होगा कि) अन्यत्र उस नाम-रूप से नही मिलते। स्वगुण, उत्तरोत्तर, रत्नावली, रसनोपमा, तथा देहलीदीपक ऐसे ही है। स्वगुण का वर्णन तद्गुण तथा अतद्गुण के प्रसग मे है। अपना गुण त्यागकर सगति का गुण ग्रहण करना तद्गुण है परन्तु स्वगुण फिर से पूर्वगुण-ग्रहण को कहते है ––

पाये पूरबरूप फिरि, स्वगुन सुमति कहि देत ।
पूर्वरूप गुन नहिं मिटै, भये मिटन के हेत ॥

दूसरे आचार्यो ने इसी अलकार को पूर्वरूप नाम दिया था। परन्तु दासकवि ने इस दोहे मे स्वगुण तथा पूर्वरूप का अन्तर स्पष्ट किया है। समर्थ गुणनाशक कारण की विद्य-

मानता मे भी अपने चिरन्तन (पूर्व) गुण (रूप) का न मिटना ही पूर्वरूप है, मुख ज्योत्स्ना का वितरक है, उसका यह गुण गृहगर्भ के अधकार मे भी तथैव समर्थ रहता है –

भौन अँध्यारहु बीच गये,
मुख-ज्योति तें वैसिये होति उज्यारी ॥

वस्तुत यहाँ विशेषोक्ति व्यग्य है, परन्तु दासकवि ने पूर्व (प्रसिद्ध) रूप माना है, और प्रसिद्ध पूर्वरूप को स्वगुण नाम दे दिया है।

उत्तरोत्तर अलकार एकावली तथा सार के सयोग की वस्तु है। एकावली मे शृखला होती है तथा सार मे उत्तरोत्तर उत्कर्ष। काव्यनिर्णय के उत्तरोत्तर के लक्षण मे तो 'एक एक ते सरल' का कथन है, परन्तु उदाहरण मे उत्तरोत्तर आधार-वृद्धि है।

रत्नावली अलकार कुवलयानन्द मे था, दासकवि ने तत एव ग्रहण किया है --

क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावलीं विदुः ॥
क्रमी वस्तु गनि विदित जो रचि राख्यो करतार ॥

इनका एक उदाहरण तो ठीक लगता है, परन्तु दूसरा रत्नावली की अपेक्षा मुद्रा के अधिक निकट है।

रसनोपमा का विषय काव्यप्रकाश मे आया है, परन्तु काव्यनिर्णय मे इसका भिन्न रूप है, इसको यथासख्य आदि के उल्लास मे स्थान मिला है, क्योकि दासकवि इसको 'उपमा अरु एकावली को सकर' मानते है। अलकार रूप मे देहली-दीपक भी नया है, परन्तु इसमे अलकारसुलभ चमत्कार तो है ही।

मौलिकता

इस अलकार-प्रकरण के ११ उल्लासो मे दासकवि आवश्यकतानुसार कुछ विवेचन भी करते गये है, सिद्धात-प्रतिपादन जैसी वस्तु तो है नही, परन्तु प्रसगत स्वमत अवश्य प्रकट किया है। अर्थालकारो के लक्षण पर विचार करते हुए हमने मौलिकता का कुछ परीक्षण किया था। कुछ स्थल और देखिए --

(क) अनन्वयहु की व्यंग यह, भेदक अतिशय-उक्ति।
(ख) अप्रस्तुत प्रशंस जहं, अरु अर्थान्तरन्यास।
तहां होत अनचाहे हू, विविध भांति उल्लास ॥
(ग) लक्षन नाम प्रकाश है, सुमिरन, भ्रम, सन्देह।
जदपि भिन्न हू है तदपि, उत्प्रेक्षाहि कौ गेह ॥
(घ) वस्तूत्प्रेक्षा दोइ विधि, उक्ति अनुक्ति विषेन।
उक्ति विषै जग, अनउकति होत कविहि की बैन ॥
(ङ) लुप्तोत्प्रेक्षा तेहि कहै, वाचक बिन जो होइ।
याकी विधि मिलि जाति है, काव्यलिंग में कोइ ॥
(च) अप्रस्तुतपरसंस अरु, व्याजस्तुति की बात।
कहूं भिन्न ठहरात अरु, कहूं जुगल मिलि जात ॥

इन मौलिक प्रसगो पर विचार कीजिए। 'भेदेऽप्यभेद' ही भेदकातिशयोक्ति है;

'वह चितवन कुछ और ही है' वाक्य मे उस चितवन की अद्वितीयता तथा अप्रतिमत्व का प्रतिपादन है, यदि तुलना करना आवश्यक हो तो यही कहा जायगा कि 'उस चितवन के समान वही चितवन है', यही अनन्वय है, परन्तु यहाँ अनन्वय व्यग्य है, वाच्य नही। दासकवि का यह कथन सर्वमान्य है कि भेदकातिशयोक्ति मे अनन्वय व्यग्य रहता है।

उल्लास अलकार अन्य के गुण दोष से अन्य के गुण दोष कथन मे है। इसके ४ भेद हो सकते है––गुण से गुण, गुण से दोष, दोष मे गुण, दोष से दोष। अप्रस्तुतप्रशसा मे अन्य (अप्रस्तुत) के वर्णन से अन्य (प्रस्तुत) की प्रतीति (गुणदोष कथन) होती है, यही उल्लास है। परन्तु उल्लास केवल सारूप्यनिबधना अप्रस्तुत प्रशसा मे ही दिखलायी पडता है, और उल्लास के वे ही भेद यहाँ समान है जिनमे गुण से गुण या दोष से दोष का कथन हो। अर्थान्तरन्यास मे सामान्य से विशेष तथा विशेष से सामान्य का समर्थन भी होता है, यहा भी अन्य के गुण-दोष से अन्य के गुण-दोष कथन-रूपी उल्लास का साम्य है, परन्तु उल्लास मे समर्थन जैसा कोई गुण नही होता––जो इस अर्थान्तरन्यास का प्राण है। पडितराज ने उल्लास का अन्तर्भाव अर्थान्तरन्यास के भीतर न करके काव्यलिग के अन्तर्गत किया था, परन्तु काव्यलिग मे भी समर्थन तो रहता ही है, अत दासकवि ने उल्लास का अन्तर्भाव नही किया, प्रत्युत पाठक का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि उल्लास तो अप्रस्तुतप्रशसा तथा अर्थान्तरन्यास मे भी किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहता ही है।

उत्प्रेक्षा के २ भेद उक्तविषया तथा अनुक्तविषया भी है, उक्तविषया मे प्रस्तुत का कथन रहता है, अनुक्तविषया मे नही, उक्तविषया का विश्वनाथ ने उदाहरण बताया है––कम्पमान वस्त्रयुक्त मृगाक्षी का ऊरु कामदेव के सपताका स्वर्णिम विजय-स्तम्भ के समान शोभित है[1] और अनुक्तविषया वे मम्मट[2]-स्वीकृत **'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः'** मे मानते है, अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा 'क्रियास्वरूपा उत्प्रेक्षा' है, इसमे विषय उपात्त[3] नही रहता। दासकवि उक्तविषया––अनुक्तविषया को कुछ और ही समझते है, उनके अनुसार जगत्प्रसिद्धसभव विषय की उत्प्रेक्षा उक्त-विषय है, और असभव विषय की अनुक्तविषया ––

चंचल लोचन चारु विराजत पास लुरी अलकैं थहरैं।
खंजन, सांप, सुआ संग तारे मनो ससि बीच बिहार करैं॥

यह लक्षण तथा उदाहरण सदोष है––सभव असभव के आधार पर वर्गीकरण सुन्दर नही बनता।

दासकवि यह मानते है कि लुप्तोत्प्रेक्षा की कुछ समानता काव्यलिग अलकार से

---

(१) **ऊरुः कुरङ्गकदृशश्चञ्चलवेलाञ्चलो भाति।**
सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव॥

(२) **लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।**
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता॥

(३) **अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनरूपो विषयो नोपात्तः। (साहित्यदर्पण)**

है । वाचक शब्दो के अभाव मे लुप्तोत्प्रेक्षा या गम्योत्प्रेक्षा मे सभावना व्यग्य होती है :—

बिनहु सुमन-गन बाग में, भरे देखियत भौंर ।
दास आज मनभावती, सैल कियो येहि ठौर ॥

काव्यलिग मे समर्थनीय अर्थ का समर्थन होता है, और गम्योत्प्रेक्षा मे इस समर्थन की सभावना । वस्तुत. अन्वय-भेद से इन दोनो अलकारो की छाया एक ही उदाहरण मे उपलब्ध हो सकती है । उत्प्रेक्षा के लिए उक्त उदाहरण का अन्वय होगा—कुसुम कुल के अभाव मे ही आज इस उपवन मे भ्रमर-वृन्द भरे हुए है, शायद यहा प्राणप्रिया अभी सैर करके गई है । काव्यलिग के लिए—कुसुम-कुल के अभाव मे ही आज इस उपवन मे भ्रमर-वृन्द भरे हुए है, क्योकि यहा प्राणप्रिया अभी सैर करके गई है । दासकवि के इस प्रकार के निरीक्षण प्रशसनीय है ।

अप्रस्तुतप्रशसा तथा व्याजस्तुति अलकारो मे कही भिन्नता होती है और कही समानता । साहित्यदर्पण आदि मे अप्रस्तुतप्रशसा के तत्कालोत्तर व्याजस्तुति विषय है । दोनो का अन्तर स्पष्ट है, व्याजस्तुति मे 'गम्यत्व'[1] ही प्राण है, अप्रस्तुतप्रशसा मे इसकी कोई आवश्यकता नही, अप्रस्तुतप्रशसा मे सामान्य-विशेष, कार्य-कारण तुल्यता रहती है, व्याजस्तुति मे इसके लिए कोई स्थान नही । दोनो का साम्य भी है, एक कथन से दूसरे कथन की गति दोनो मे है । दास ने इतना ही तो कहा है कि दोनो की बाते तुलनीय[2] है ।

शब्दालकार

यदि चित्रालकार के एक उल्लास को अलग कर ले तो काव्य-निर्णय के १९वे तथा २०वे उल्लासो मे शब्द के अलकार लिखे गये है । १९वे उल्लास का नाम तो 'गुण-निर्णय वर्णन' है परन्तु इसमे १० गुणो का वर्णन करने के अनन्तर शब्दालकार अनुप्रास, वीप्सा तथा यमक को स्थान मिल गया है । अनुमानत प्रतीत होता है कि इन तीनो शब्दालकारो को दास ने एक ही माना है, ये सब अनुप्रास के ही भेद है, क्योकि इस उल्लास मे गुणो के अनन्तर गण-भूषक अनुप्रास का वर्णन ही कवि का अभीष्ट है, शब्दालकारो का ही नही । अनुप्रास की शब्दालकारो से अलग गणना, तथा उसकी भिन्न उल्लास मे स्थिति अकारण नही है । गुण रस के नित्य शोभाकारक धर्म है, और गुण का सौन्दर्य अनुप्रास पर आश्रित है, अत अनुप्रास का महत्व शब्दालकार मे विशेष मानना पडेगा —

रस के भूषित करन तें, गुण बरने सुखदानि ।
गुण-भूषण अनुमानि कै, अनुप्रास उर आनि ॥

गुणाधार (एव अन्ततोगत्वा रसाधार) अनुप्रास आदि मे तीन प्रकार का है—

(१) **निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः । (साहित्यदर्पण)**

(२) **व्यंग्यहेतुकवैचित्र्यसारूप्याद् अप्रस्तुतप्रशंसानन्तरमस्या लक्षणम्; अस्याश्च स्तुतिनिन्दयोः सामान्यविशेषकार्यकारणतुल्याभावाद् अप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः ।**
(साहित्य-दर्पण, लोचन व्याख्या, व्याजस्तुति प्रकरण)

सामान्यानुप्रास, वीप्सानुप्रास, तथा जमकानुप्रास। सामान्यानुप्रास के सर्वसम्मत तीन भेद है—छेक, वृत्ति तथा लाट। वीप्सा का लक्षण है —

एक शब्द बहु बार जहं, हरषादिक तें होइ।
ता कहं वीप्सा कहत हैं, कवि कोविद सब कोइ॥

जमकानुप्रास भी आचार्यों ने लिखा ही है। दास कवि ने इसके एक नवीन भेद 'सिहावलोकन' का सलक्षण उल्लेख किया है —

चरन अंत अरु आदि के, जमक कुंडलित होय।
सिंह-विलोकन है वहै, मुक्तक पद ग्रस सोइ॥

एक चरण के अन्तिम शब्द दूसरे चरण के प्रारभ मे आते है, क्रमश पहिले के दूसरे मे, दूसरे के तीसरे मे, तीसरे के चौथे मे, और चौथे के पाचवे मे। (कुडलिया छन्द मे भी यह सौदर्य रहता है)। दास का उदाहरण देखिए.—

सर-सो **बरसौ करैं नीर, अली, धनु लीन्हें अनंग** पुरन्दर-सौ।
दरसो **चहुं ओरन ते चपला, करि जाती कृपान के** ओझर सो।
झर-सोर **सुनाइ हरैं हियराजु किये घन अंबर** डबर सो।
बरसो **ते बड़ी निसि बैरिन बीतति बासर भो विधि**-बासर सो।

काव्यनिर्णयकार ने (गुण-स्वतन्त्र) शब्दालकार ५ ही माने है और उनका वर्णन विशतितम उल्लास मे किया है—श्लेष, विरोधाभास, मुद्रा, वक्रोक्ति, तथा पुनरुक्तवदाभास। श्लेष, वक्रोक्ति तथा पुनरुक्तवदाभास काव्यप्रकाश मे भी है। विरोधाभास चन्द्रालोक मे है, परन्तु अर्थालकार के रूप मे। मुद्रा कुवलयानन्द मे अर्थालकारो के बीच रखा था। इस प्रकार शब्दालकार विषय मे कोई नवीनता तो नही मिलती, परन्तु काट-छाट अवश्य है।

शब्दालकार के इस प्रसग मे दासकवि लिखते है कि सभी अलकारो मे अर्थ-चमत्कार शब्दशक्ति पर ही निर्भर है परन्तु इन पाच अलकारो को कोई भी अर्थ-चमत्कार के कारण अलकार नही कहता, अत शब्द-शक्ति पर आश्रित होने के कारण नही, प्रत्युत शब्द पर आश्रित होने के ही फलस्वरूप, इन पाच को, शेष अलकारो से भिन्न, शब्दालकार कहा जाता है.—

इन पाचहुं को, अर्थ सों, भूषन कहैं न कोइ।
जदपि अर्थ, भूषन सकल, शब्द-शक्ति में होइ॥

दास के इस कथन से मतभेद का प्रश्न ही नही है, अर्थ शब्द-शक्ति पर ही निर्भर है; अत अलकार दो प्रकार के हुए—शब्द के तथा शब्द-शक्ति के। शब्द के अलकारो को दूसरे आचार्यो ने शब्दालकार तथा शब्द-शक्ति के अलकारो को अर्थालकार नाम से अभिहित किया है।

श्लेष अलंकार दो प्रकार का है—शब्दाश्रित तथा शब्दार्थोभयाश्रित, प्रथम का बल अनेकार्थ है और द्वितीय का तात्पर्य। यह श्लेष दो, तीन, चार—अर्थ वाला हो सकता है। चार अर्थ के श्लेष का उदाहरण 'एतो गुनवारो दास, रवी है, कि चन्द है, कि देवी को

मृगेन्द है, कि जमुमति-नन्द है' लिखने के अनन्तर इनके मन मे शका जगी कि कोई इस कवित्त मे सदेह अलकार न समझ ले, अत वे बोले--

सन्देहालंकार इत, भूलि न आनो चित्त ।
कह्यौ श्लेष दृढ़करन को, नहि समता-थल मित्त ॥

(यहा सदेह अलकार नही माना जा सकता, क्योकि सदेह का मूल आधार सादृश्य यहा विद्यमान नही, अन्तिम पक्ति मे जो अनेक नाम गिनाये है वे तो केवल श्लेष को स्पष्ट तथा दृढ करने के ही लिए है)

चित्रालकार

काव्यनिर्णय का विशतितम उल्लास 'चित्रालकार' (शीर्षक मे) या 'चित्र-काव्य' (अन्तकथन मे) है, इसमे ९१ छन्द है। लेखक ने सर्वप्रथम उन सुविधाओ का उल्लेख किया है जो चित्र-काव्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है --

चमत्कार हीनार्थ को, इहां दोष कछु नाहि ॥
ब-व ज-य बरनन जानिये, चित्रकाव्य में एक ।
अर्धचन्द्र को जनि करो, छूटे-लगे विवेक ॥

चित्रकाव्य के चार प्रकार है--प्रश्नोत्तर, पाठान्तर, वाणीचित्र तथा लेखनीचित्र। प्रश्नोत्तर के दो उपभेद तो अन्तर्लापिका तथा बहिर्लापिका है, गुप्तोत्तर, व्यस्तसमस्त, एकानेकोत्तर, नागपाश, क्रमव्यस्तसमस्त, कमलबन्ध तथा शृखलोत्तर अन्य उपभेद है। वर्ण के लोप, परिवर्त्तन से जहा चमत्कार हो वह पाठान्तर चित्र है। वाणीचित्र के ५ उपभेद है--निरोष्ठ, अमत्त निरोष्ठामत्त, अजिह्व तथा नियमित वर्ण । लेखनीचित्र के खड्गबध, कमलबध, आदि अनेक उपभेद है।

लेखनीचित्र खड्गबध आदि तो १३ है, इनके अतिरिक्त अनेक गतागत, त्रिपदी, सुमुख, सर्वतोमुख, कामधेनु तथा अक्षरगुप्त आदि भी अनेक उपभेद है, दास ने गतादिक[1] को २१ बतलाया है, जिनमे १३ खड्गबध आदि भी सम्मिलित है--१३ खड्गबधादि, + १ गतागत + ३ त्रिपदी + ४ सुमुख आदि।

मूल्याकन

हिन्दी आचार्यो मे दास का स्थान बहुत ऊचा है। मौलिक तथा सुगम प्रतिपादन शैली इन को सहज ही उच्च पद का अधिकारी बना देती है। केशव मे सुगम प्रतिपादन मे, देव से पाडित्य मे, कुलपति से मौलिकता मे, दास निश्चय ही अग्रसर है। पुरानी पुस्तको मे काव्यनिर्णय ही ऐसी है जो आजकल भी उपादेय है। भाषा की सुरुचि का जितना ध्यान दास कवि को था उतना किसी दूसरे उस समय के साहित्यिक को नही, वस्तुत भाषा की प्रवृत्ति को देखकर अधिकारपूर्वक लिखित उस समय की कृतियो में यही एकमात्र ग्रथ है ।

(१) **'इकइस बातादिक सहित' के स्थान पर 'इकईस गातादिक सहित' पाठ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।**

दासकवि को अलकारवादी नही कहा जा सकता, परन्तु चन्द्रालोक का उनकी विचारधारा पर निश्चय ही प्रभाव है, चन्द्रालोक तथा काव्यप्रकाश का समन्वित प्रतिबिम्ब काव्यनिर्णय मे लक्षित होता है। दासकवि अलकार को हारादिवत् [१] बाह्य आभूषण के समान मानते है, रस के बिना अलकार तथा अलकार के बिना रस की सत्ता सभव है--जब रस काव्य का नित्य धर्म नही है (चित्र-काव्य) [२] तो अलकार को नित्य धर्म मानना दुराग्रह मात्र है--दासकवि ने बडी चतुराई से समन्वय उपस्थित किया है, फिर भी सुकवि की रचना दोनो से मडित रहती है --

अनुप्रास उपमादि जे, शब्दार्थालंकार।
ऊपर ते भूषित करैं, जैसे तन को हार॥
अलंकार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृत छंडि।
सुकवि-वचन-रचनान सों, देत दुहुंन को मंडि॥

काव्य के तीन भेद है--अवर, उत्तम तथा मध्यम। अवर काव्य मे केवल अलकार निर्वाह होता है दूसरे गुण (हेतु) नही होते [३], उत्तम काव्य मे रोचकता का कारण रस, अलकार गुणादि तथा व्यग्य का चमत्कार रहता है, मध्यम काव्य मे अलकार-रस-गुण का अस्तित्व तो है परन्तु व्यग्य नही होता। ये भेद तो पुराने है परन्तु दासकवि ने इनको रोचक रूप मे कहा है, और अपनी दृष्टि मे उत्तम काव्य का लक्षण निश्चित किया है।

(१) **हारादिवद् अलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः। (काव्यप्रकाश)**
(२) **अवर काव्य हू में करैं, कवि सुघराई मित्र।**
मनरोचक करि देत है, बचन अर्थ को चित्र॥
(३) **अवर हेतु नहि, केवलै अलंकार निरबाहु।**

रसरूप : तुलसीभूषण

(१८११ वि०)

तुलसीभक्त रसरूप ने १११ अलकारो[१] का ग्रन्थ 'तुलसी-भूषण' सवत्[२] १८११ मे पूर्ण किया , नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय मे इसकी सावलदास श्री वैष्णवकृत स १९०० की लिपि[३] प्राप्य है। ५६ पृष्ठो की इस पुस्तक मे लेखक ने उन अलकारो का प्रकाशन[४] किया है जो तुलसी ने अपनी वाणी मे रख दिये थे--मुख्यत आधार रामायण[५] है, गीतावली आदि गौणरूप से ही है। रसरूप ने अलकारो के लक्षण औरो[६] से लिये है, तथा अलकारो के उदाहरण मुख्यत रामायण से--इस प्रकार 'तुलसी' तथा 'भूषण' उभय उद्देश्यो को ध्यान मे रखकर इस 'तुलसीभूषण' की रचना हुई है। 'औरन' से रसरूप का अभिप्राय हिन्दी के आचार्यो से नही, सस्कृत के मम्मट, जयदेव[७] आदि आचार्यो मे है, इन्ही के अलकार-विषय की छाया मे अलकार-लक्षणो का निर्माण हुआ है।

तुलसी-भूषण मे अलकारो के दोनो भेद है। शब्दालकारविषय प्रथम तथा अर्थालकार-विषय तदनन्तर है। शब्दालकार ६ है--अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, चित्र तथा पुनरुक्तवदाभास। अनुप्रास के तीन उपभेद छेक, वृत्ति तथा लाट का विवेचन है। वृत्त्यनुप्रास मे तीनो वृत्तियो के अलग-अलग उदाहरण है। शब्दालकार मे लेखक पर मम्मट का विशेष प्रभाव है। रसरूप ने लक्षण दोहे मे बनाये है, उदाहरण मे 'पुनर्यथा' बार-बार आता है, राम-चरित-मानस के अतिरिक्त गीतावली से भी उदाहरण प्राय ले लिये गये है।

अर्थालकार विषय मे एक मुख्य विचित्रता यह है कि अलकारो का वर्णन अकारादि क्रम[८] से है--आगे चलकर मुरारिदान मे भी यही विचित्रता दिखाई पड़ी। इस प्रसग मे

---

(१) **एकादस अरु एकशत मुख्य अलंकृत-रूप ॥**

(२) **दस वसु सत संवत् हुता अधिक और दश एक।**
कियौ सुकवि रसरूप यह पूरन सहित विवेक ॥

(३) **तुलसीकृत भूषण लिखितं सावलदास।**
संवत् १९०० । सावलदास श्री वैष्णव लिपिकार।

(४) **श्री तुलसी निज भनित मैं भूषण धरे दुराय।**
ताहि प्रकासन की भई मेरे चित में चाय ॥

(५) **रामायण में जो धरे, अलंकार के भेद।**

(६) **औरन के लच्छन लिये, रामायन के लच्छ।**
तुलसी-भूषन ग्रंथ कौ या विधि कियौ प्रतच्छ ॥

(७) **सम्मत काव्यप्रकाश को और कुवलयानन्द।**

(८) **अक्षर कौ संबंध करि क्रमहि सो रसरूप।**
आद्य बरन के नेम सौं भूषण रचे अनूप ॥

कतिपय स्थानो पर कुवलयानन्द तथा चन्द्रालोक का नामपूर्वक उल्लेख है, आशिष के लक्षण में केशव की छाया है, 'गीतावली' के अतिरिक्त 'बरवै-रामायण' मे भी उदाहरण लिये हैं।

'तुलसीभूषण' मे लक्ष्य तो तुलसीदास के विविध ग्रन्थो मे आये हैं, इसलिए उनके गुण-दोष के विवेचन का प्रश्न ही नही आता, केवल लक्षण कवि के अपने हैं। केवल लक्षणो की रचना करके रसरूप हमारे सम्मुख रीतिकालीन कवि के रूप मे नही आते, वे या तो आचार्य है या भक्त--भक्त अधिक, आचार्य कम। पुस्तक मे लक्षण सामान्य कोटि के है, फिर भी रसरूप का प्रयत्न प्रशसनीय है उन्होने उदाहरणो के मोह से छूटकर अलकार-ग्रन्थ की रचना की है।

(अन्योन्य) जहं अन्योन्य होय उपकार।
सो अन्योन्य कह्यौ निरधार ॥[1]

अलकार के सम्बन्ध मे जो उथलापन इस युग के अन्य कवियो मे है वह रामसिंह में भी मिलता है। श्लेष, गूढोत्तर, चित्र आदि को इन कवियो ने समझना चाहा तक नही सन्देह आदि के अलकारत्व को ये लोग भुला बैठे, सादृश्य का ध्यान इनको है ही नही। प्रायः सभी उदाहरण सामान्य है.—

(सन्देह) है यह मार, कुमार, कै सुन्दर नन्द कुमार ॥६९॥
(प्रत्युतांकुर) मधुर सुरंग अनार कौं, तजि समीप सुखदैन।
एरी वीर कईथ पै, गयौ कहा रस लैन।

(१) तुलना कीजिए:—
अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम् ॥ (चन्द्रालोक)
अन्योन्यालंकार है, अन्योन्यहि उपकार ॥ (भाषाभूषण) ॥

सेवादास : रघुनाथ-अलंकार

(स० १८४०)

श्री अलबेलेलाल के शिष्य सेवादास रामभक्त थे, इनकी 'रघुनाथ-अलकार', 'रस दर्पण' तथा 'अलबेलेलाल कौ नखशिख' तीन पुस्तके प्रसिद्ध है। 'रघुनाथ-अलकार' मुख्यत: भक्ति की रचना है, परन्तु इसमें अलकार-वर्णन[1] भी है। इसकी रचना सं १८४० मे हुई[2] थी। कवि ने इस पुस्तक का परिचय इस प्रकार दिया है —

छप्पय कवित दोहा रचे हैं परम रूप
जाही कौ विचारु कियें पावत हरस है।
मंगल मनोहर है सीय कौ रुचिर गाथ
श्रवन सुनत मनौ अमृत बरस है।
सेवदास रसिकन कौं प्यारौ लगत सोइ
मूठ हीन पारतनें खानि कें तरस है।
कुवलयानन्द चन्द्रालोक के मते सौं कह्यौ
अलंकार राम रघुवीर कौ सरस है॥

कवि का अलकार-विषयक ज्ञान कुवलयानन्द-चन्द्रालोक[3] तक ही सीमित था— इसके एक से अधिक स्थलो पर सकेत है। सेवादास का मुख्य उद्देश्य तो भक्ति ही है, अलकार-वर्णन प्रसगत आया है। यह भी सदिग्ध है कि कुवलयानन्द-चन्द्रालोक का इन्होने अध्ययन भी किया था, इनके विवेचन पर भक्ति का ही प्रभाव अधिक है। जैसा कि कवि ने स्वय भी कहा है इस पुस्तक मे अनेक छन्दो का प्रयोग है। उदाहरणो मे तो भक्ति है, लक्षणो मे भी सन्तोष नही होता। दो अलकार देखिए —

(परिसंख्या) उपमा तें उपमेय में झलकें अधिक प्रकास।
परिसंख्या सो जानियें ताकौ कहत उजास॥
(छेकापन्हुति) प्रथम कहें पुनि बात कौ दूजें पलटें सोइ।
छेक अपन्हुति जानियें ताकौ कहत जु सोइ॥

इस पुस्तक मे शब्दालंकार का प्रसग है ही नही, परन्तु राम की भक्ति के साथ रामभक्त हनुमान की भी स्तुति है।

---

(१) श्री अलबेले लाल के जुगल चरन करि पीत।
सेवदास बरनन करौ अलंकार की रीति॥
(२) अठारह सै चलिस सो संवत सरस बखान॥
(३) कुवलयानद चन्द्रालोक मैं अलंकार के नाम।
तिनकी गति अवलोक कें अलंकार कहि राम॥

पद्माकर : पद्माभरण

(स० १८६७)

कविवर पद्माकर ने स १८६७ के लगभग[1] 'पद्माभरण' नाम का एक अलकार-ग्रथ वैरीसाल रचित 'भाषाभरण' के अनुकरण पर[2] लिखा। पद्माभरण ३४४ छन्दों का एक छोटा सा ग्रथ है, जो छोटा होते हुए भी भाषाभूषण से दोगुने विस्तार का है; इसमे दोहा छन्द का प्रयोग है परन्तु कुछ स्थलो पर चौपाइया भी आ गई है। 'पद्माभरण' मे दो प्रकरण है—अर्थालकार प्रकरण तथा पचदश अलकार प्रकरण; प्रथम प्रकरण मे स्वीकृत अलकारो के लक्षण-उदाहरण है, द्वितीय प्रकरण में मतभेद वाले १५ अलंकारो का विवेचन है।

सामान्य सिद्धान्त

पद्माकर ने युग की सामान्य प्रवृत्ति को देखकर[3] ही इस ग्रथ की रचना की है। वे न तो किसी विशेष सिद्धात का प्रतिपादन कर रहे है, न अपना आचार्यत्व दिखलाना उनका अभीष्ट है, और न किसी शिष्य या शिष्या की शिक्षा को लिए इस ग्रंथ की रचना हुई है। यदि 'कवि' शब्द का अर्थ 'आचार्य' न लेकर हिन्दी के 'अलकृती' ही लिया जाय तो पद्माभरण की प्रवृत्ति ('पथ') को समझना असान होगा, क्योकि सस्कृत–काव्य–शास्त्र का पडित जब हिन्दी मे अलकार ग्रथ लिखता था तो उसका आत्माभिमान उस रचना मे विशिष्टता ला देता था, इसके विपरीत कुछ अलकृती ऐसे भी होते थे जो केवल प्रवाह मे बह कर ही अलकार-ग्रथ लिख देते थे—पद्माकर इसी पिछले वर्ग मे आवेगे। पद्माभरण मे आचार्यत्व का प्रयत्न नही है, कुछ सिखाने की अपेक्षा प्रवाह मे सुखपूर्वक बह जाना ही कवि की विशेषता है।

इसका एक प्रमाण ग्रथ का दो प्रकरणो मे विभाजन है। प्रथम प्रकरण मे कुवलयानन्द के १०० मुख्य अलकार है, जिनका क्रम भी कुवलयानन्द से भिन्न नही। और द्वितीय प्रकरण मे शेष १५ अलकारो की चर्चा प्रथम प्रकरण से भिन्न शैली पर की गई है। यद्यपि अलकारो के प्रति यह दृष्टिकोण कुवलयानन्द मे भी है फिर भी अलग-अलग प्रकरणो को अलग-अलग शैलियो मे लिखना पद्माकर के ग्रथ को अधिक बोधगम्य बना देता है, साथ ही यह भी सूचित हो जाता है कि कवि जितना महत्त्व प्रथम प्रकरण के अलकारो को देता है उतना दूसरे प्रकरण वालो को नही—ये १५ अलकार तो कवियो ने अपने-अपने मत के अनुसार[4] बखाने है।

(१) हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ४२।
(२) पद्माकर-पंचामृत, आमुख, पृ० ३४–५।
(३) देखि कबिन को पंथ।१।
(४) इह विधि पंद्रह और ये, अलंकार सब ठौर।
कबिन बखाने बेस हैं, निज निज मत की दौर।।२८५।।

'अलंकार-रीति'

मंगलाचरण के उपरान्त पद्माकर ने ३ दोहो मे 'अलकार-रीति' की चर्चा की है। अलकार का लक्षण नही दिया, और न काव्य में अलकार का स्थान ही निर्धारित किया है, प्रत्युत अलकार के ३ भेद[1] किये है; शब्दालकार, अर्थालकार तथा उभयालंकार। शब्द, अर्थ अथवा शब्दार्थ उभय मे से जिसको भी हृदय को प्रभावित करने वाले, ('उर आनि') चमत्कार का विषय कवि बनाता है ('अभिप्राय जिहि भाति') उसी प्रकार का (सो) अलकार वहाँ मानना चाहिए।[2] इन तीन भेदो का प्रसग आगे कही भी नही मिलता, विवेचन भी केवल अर्थालकारो का ही है, दूसरो का नही ।

यदि किसी स्थल पर एक से अधिक अलकार दिखलाई पडते हो तो वहा क्या समझना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर पद्माकर ने यह दिया है कि ऐसे स्थल पर कवि ही प्रमाण है, अर्थात् जिस अलकार को कवि (जितनी) मुख्यता देना चाहता है उसी अलकार को पाठक भी (उतनी ही) मुख्यता दे, राजमहल मे कितने ही एक जैसे भवन होते है परन्तु मुख्य वही समझा जाता है जो राजा के मन को अच्छा लगता है—

अलंकार इक थलहि में, समुझि परै जु अनेक ।
अभिप्राय कवि को जहां, वहै मुख्य गनि एक ॥
जा विधि एकै महल में, बहु मन्दिर इक-मान ।
जो नृप के मन मे रुचै, गनियतु वहै प्रधान ॥

प्रश्न तो यह है कि कवि का अभिप्रेत अलकार हम को किस प्रकार मालूम पड़ेगा, कवि का अभिप्राय किसी अलकार-विशेष से तो नही होता, चमत्कार मात्र से होता है। अगर कहना ही हो तो यह कहा जायगा कि जहा सबसे अधिक चमत्कार है वही कवि का अभिप्राय भी है, अर्थात् अलकार की मुख्यता चमत्कार के अतिशय पर निर्भर है । इस प्रकार अलकार की मुख्यता अलकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है न कि कवि के व्यक्तित्व पर । वास्तव मे आभूषणो की शोभा आभूषण पहिनने वाले या पहिनाने वाले पर निर्भर नही उन सामाजिको पर निर्भर है जिनके मन पर आभूषण का प्रभाव पडता है; दूसरे शब्दो मे, यह शोभा स्वय आभूषण पर ही निर्भर है—उसमे सामाजिको के मन को प्रभावित करने की कितनी योग्यता है। कविवर बिहारीलाल ने शोभा के ग्रहण मे व्यक्ति (शोभा-ग्राहक) तथा वस्तु (शोभा का कारण) दोनो को सबद्ध महत्त्व प्रदान किया है :—

रूप रिझावन हार वह, ए नैना रिझवार ॥६८२॥

यह एक आश्चर्य की बात है कि पद्माकर ने अलकार के तीन भेद तो बतला दिये

---

(१) **सब्द हु तें, कहुँ अर्थ तें, कहुँ दुहुँ ते उर आनि ।**
अभिप्राय जिहि भांति जहँ, अलंकार सो मानि ॥

(२) **तुलना कीजिये :—**
कहुँ पद तें, कहुँ अर्थ तें, कहूँ दुहुन तें जोइ ।
अभिप्राय जैसो जहां, अलंकार त्यों होइ ॥ —(भाषाभरण)

परन्तु केवल अर्थालकार का ही विवेचन करके उन्होने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली, शब्दालकार की चर्चा तो उस शैली के दूसरे कवियो ने की है—भाषाभूषण मे शब्दालकार विषय है, कविकुलकठाभरण मे नही है, परन्तु वहा ३ भेद भी नही हैं। कुवलयानन्द का यह अनुकरण यहाँ खटकता है।

अर्थालकार-प्रकरण

पद्माभरण के इस प्रकरण मे परम्परा के अनुसार ही 'अलकार-शत' का विवेचन है। अतिशयोक्ति तथा तुल्ययोगिता के प्रसगो के अतिरिक्त शेष प्रसगो मे केवल दोहा छन्द का ही प्रयोग है। चन्द्रालोक शैली पर एक ही छन्द मे लक्षण-उदाहरण देने की प्रथा थी परन्तु पद्माकर ने उसका निर्वाह नही किया, अनेक बार ऐसा हुआ है कि लक्षण एक दोहे मे है तथा उदाहरण एक दूसरे दोहे मे, और 'पुनर्यथा' लिखकर एक से अधिक (प्राय दो) उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये है। लक्षण तथा उदाहरण कवि की अपनी ही शब्दावली मे है। दो दो उदाहरण विषय को अधिक स्पष्ट कर सके है, ऐसा तो नही कहा जा सकता, पद्माकर चमत्कार मे बहकर ही एक मे अधिक उदाहरण प्रस्तुत करते है। सारूप्य निबधना अप्रस्तुत प्रशसा, विवृतोक्ति तथा प्रतिषध अलकारो के उदाहरणो के लिए दो बार 'पुनर्यथा' लिखना पड गया है, परन्तु प्रथम उदाहरण अन्य उदाहरणो से कम स्पष्ट नही है और न अन्तिम उदाहरण प्रथम से अधिक स्पष्ट है। प्रतिषेध के प्रसग मे यह बात भली भाँति देखी जा सकती है (दोहा सख्या, २७४, २७५, २७६ तथा २७७)।

अर्थालकारो के उदाहरण

पद्माभरण के उदाहरण ठीक है, उनकी कोई विशेषता नही, इसलिए ध्यान देने योग्य भी कुछ नही मिलता। उदाहरणो मे परम्परा का ही पालन है, फिर भी कुछ उदाहरण निर्दोष नही कहे जा सके है। निम्नलिखित स्थल देखिए —

(क) अनेक अवर्ण्य श्लेष—यह अलकार उस समय माना जायगा जब श्लिष्ट शब्दो द्वारा अनेक अप्रस्तुतो का वर्णन किया जाय। इसका उदाहरण सदोष है —

सगुन, सभूषन, सुभ, सरस, सुचरन, सुपद, सराग।
इमि कविता अरु कामिनी, लहै जु सो बड़भाग ॥१०४॥

यहा श्लिष्ट शब्दो का प्रयोग अवश्य है परन्तु 'अनेक अवर्ण्य' कहा है? कविता तथा कामिनी दोनो को अप्रस्तुत किस प्रकार माना जा सकता है, यहाँ तो दोनो ही प्रस्तुत है।

(ख) विशेषोक्ति अलकार का प्राण चमत्कार ही है, कारण के रहने पर कार्याभाव मात्र ही से विशेषोक्ति अलकार नही बन सकता। नायिका ने नायक को किसी परकीया के साथ रमण करते हुए अपनी आँखो से देखा फिर भी (पर्याप्त कारण होने पर भी) उसने मान (कार्य) न किया —

निरखि आन-रत कान्ह को, तदपि न तिय किय मान ॥१४३॥

इस घटना मे सचाई हो सकती है परन्तु काव्योपयोगी चमत्कार नही है, इसलिए यहाँ अलंकार का प्रश्न ही नही आता।

(ग) असगति—तृतीय असगति का चमत्कार है किसी कार्य में प्रवृत्त व्यक्ति कोई अन्य कार्य कर बैठे। इस कवि का उदाहरण —

आये जीपन दैन घन, लगे सुजीवन लैन ॥१४८॥

चमत्कारपूर्ण अवश्य है, परन्तु चमत्कार, 'दैन' तथा 'लैन' के विरोध का उतना नहीं है जितना कि 'जीवन' शब्द के दो अर्थों में दो बार प्रयोग का—यहां मुख्य अलकार यमक है, असगति नहीं। यदि पद्माकर के उपरिकथित नियम को माना जाय कि मुख्य अलकार वही मानना चाहिए जो कवि का अभीष्ट हो, तब तो असगति मान सकते हैं, परन्तु हम ऊपर लिख चुके हैं कि कवि सर्वत्र हमको अपना अभिप्राय बतलाने के लिए हमारे साथ-साथ नहीं घूम सकता।

(घ) प्रौढोक्ति—हेतूत्प्रेक्षा में कारण की सभावना की जाती है, परन्तु प्रौढोक्ति में उस कारण की सभावना करते हैं जिससे कार्य का कोई घनिष्ठ सबध चमत्कारपूर्ण हो। पद्माकर ने 'सम' अलकार का उदाहरण लिखा है—

सिय जो दुसह दुख सहि लियो, सुता भूमि की सोइ।१५३।

पृथ्वी क्षमा की मूर्ति है, फिर पृथ्वी की पुत्री सीता में उस गुण का होना सभव ही है—यह प्रौढोक्ति का उदाहरण हो सकता था। परन्तु —

सुरसरि-तट के बरफ ते, धवल सुजस तुव राम। २१२।

इस उदाहरण में वह चमत्कार नहीं है।

(ङ) सभावना—उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति तथा सभावना तीनों अलकार एक-से ही हैं। काव्यप्रकाश ने सभावना को अतिशयोक्ति[1] से भिन्न नहीं माना, परन्तु कुवलयानन्द में इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। पद्माकर ने कुवलयानन्द का अनुकरण किया है, ठीक है, परन्तु उदाहरण में साहित्यदर्पण में अतिशयोक्ति (असम्बन्धे सम्बन्ध) का अनवाद रख देना उचित नहीं है —

जु कहुं पावतो आप मे, द्वै अरविद अमंद।
तो तेरे मुखचंद की, उपमा लहतो चंद। २१४।
यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्।
तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम्॥ (साहित्यदर्पण, १०,६६)

(च) ललित का उदाहरण लोकोक्ति का उदाहरण बन गया है, दृष्टान्त का परिसंख्या के अधिक निकट है, और अत्युक्ति में भ्रम का भ्रम होने लगता है। क्रमश —

तब न सीख मानी भटू, कियो बिचार न कोइ।
भख्यो चहत फल अमृत को, विष-बीजन को बोइ। २१७।
रति इक रस की खानि है, तू ही कला-निधान। ८४।
इते उच्च सैलनि चढ़े, तुव डर अरि सकलत्र।
तोरत कंपित करन सों, मुकता समुझि नक्षत्र। २७१।

---

(१) 'यद्यर्थस्य' यदिशब्देन चेच्छब्देन वा उक्तौ यत्कल्पनम् (अर्थादसम्भविनोऽर्थस्य) सा तृतीया। (काव्यप्रकाश।१०।१००।)

(छ) सहोक्ति का सौदर्य दो कार्यों के एक साथ होने मे ही नही है प्रत्युत् उन दोनों कार्यों की चमत्कारपूर्ण सहक्रिया मे है। पद्माकर का उदाहरण चमत्कारहीन है :—

हरिहि निरखि इक संग छुटे, लोकलाज कुललाज। ९६।

लक्षण तथा भेद

पद्माभरण मे अलकारो के नाम, लक्षण तथा भेद कुवलयानन्द के ही आधार पर हैं, भाषाभरण का भी पद्माकर पर प्रभाव है, तथा भाषाभूषण से भी ये परिचित जान पड़ते है। ध्यान एकावली तथा काव्यलिग के दो-दो लक्षणो पर जाता है। एकावली के दो लक्षण इस प्रकार है :—

गहब तजब अर्थालि को जहं, एकावलि सोय। १७५।

दूजो लक्षण

पूरब गहहि जु उत्तरहि, उत्तर तजि पूरब्ब।
गहै पदारथ और यों, एकावलि कहि सब्ब॥ १७६।

प्रथम लक्षण मे चन्द्रालोक[1] का अनुवाद तथा भाषाभूषण की छाया है। दूसरा लक्षण सभवत काव्यप्रकाश[2] से आया है। अन्तर केवल यह है कि काव्यप्रकाश में एक विशिष्ट पद 'विशेषण' रखा हुआ था, पद्माकर मे वह कठिन शब्द नही रखा गया; यह ठीक ही रहा—इस लक्षण मे 'विशेषण' शब्द का अर्थ कुछ भिन्न ही है[3]।

काव्यलिग के पद्माकर ने नीचे लिखे हुए दो लक्षण दिये है —

अर्थ समर्थहि जोग जो, करै समर्थन तास।
काव्यलिग तासों कहत, जिन के सुमति-प्रकास।२००।

दूजो लक्षण

हेतु पदारथ लहि कहूं, कहुं वाक्यारथ पाइ।
करै समर्थन अर्थ को, काव्यलिंग सो आइ। २०१।

प्रथम लक्षण कुवलयानन्द[4] का अनुवाद है, जिसकी छाया भाषाभूषण तथा कण्ठाभरण मे भी है। दूसरा लक्षण काव्यप्रकाश[5] तथा साहित्यदर्पण[6] से प्रभावित है। इन दो-दो लक्षणो का कोई विशेष कारण दिखलाई नही पडता। हमारा कवि पहिले तो आधार ग्रन्थ का ही अनुवाद करता है, फिर विशेष आवश्यकता होने पर दूसरे सम्मान्य संस्कृत ग्रन्थो के प्रभाव से भी उसको सकोच नही।

---

(१) **गृहीत मुक्तरीत्यर्थश्रेणिरेकावलि मता ॥५।८८।**
(२) **स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम्।**
विशेषणतया यत्र वस्तु एकावली द्विधा ॥१०।१३१।
(३) **स्वरूपमात्रेण अवगतस्य वस्तुनः यत्सम्बन्धबलेन वैशिष्ट्यमवगम्यते तदविशेषणम्। (जयरथः)।**
(४) **समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिगं समर्थनम्। १२१।**
(५) **काव्यलिगं हेतो र्वाक्यपदार्थता। १०। ११४।**
(६) **हेतो र्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिगं निगद्यते। १०। ८१।**

पद्माभरण मे लक्षण-उदाहरण-समन्वय पर भी ध्यान देना पडेगा। इस शैली पर हिन्दी मे जितने ग्रन्थ लिखे गये है उनमे से किसी मे भी इतना स्पष्ट समन्वय नही है। सर्वप्रथम कवि अलकार का लक्षण और भेद, प्राय एक ही दोहे मे, दे देता है, फिर बाद के दोहों मे क्रमश: एक-एक भेद का एक-एक दोहे मे उदाहरण दे दिया गया है—एक भेद का उदाहरण दूसरे भेद के उदाहरण से मिलकर घपला नही कर पाता। अपह्नुति आदि के भेदों मे तो लक्षण एक साथ न देकर प्रत्येक दोहे को उस भेद के नाम, लक्षण तथा उदाहरण से युक्त ही हम देखते है। इस समन्वय से ग्रन्थ की उपयोगिता मे वृद्धि होती है। स्मरण आदि के[1] लक्षण पद्माकर ने भी नाम मे निहित माने है।

उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा

इस ग्रन्थ का प्रारभ उपमा अलकार से ही होता है। उपमा के चार अगो का परिचय कराने के बाद उपमा का सामान्य लक्षण है, चार अगो मे उपमेय, उपमान, वाचक तथा धर्म का वर्णन ही है। प्रस्तुत, अप्रस्तुत आदि पर्यायवाची शब्दो का कही सकेत भी नही है। परपरा के अनुसार उपमा के अनेक भेद दिये हुए है। पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा तो पुराने भेद हैं, मालोपमा तथा रशनोपमा साहित्यदर्पण मे है, उपमा के दो भेद—आर्थी तथा श्रौती—मम्मट ने भी माने है। परन्तु लुप्तोपमा के १५ भेद हास्यास्पद है। यदि सभी अगो का लोप हो जावेगा तो 'पूर्णलुप्ता' मे रह क्या गया —

जाहि निरखि सुक मंद हुव, ताहि लखहु करि चोप।१९।

यहा उपमा का एक भी अग नही है, फिर हम समानता किस प्रकार देख सकते है? इसी प्रकार जहा उपमेय ही न रहेगा (रूपकातिशयोक्ति की बात छोड दीजिए, वहा तो चमत्कार ही उपमेय के लोप मे है) वहा उपमा किस प्रकार हो सकती है[2]? त्रिलुप्ता केवल वादि-धर्मोपमान-लुप्ता ही सभव है, अन्य नही। व्याकरण के अनुकरण पर सस्कृत के आचार्यो[3] ने तर्क से लुप्तोपमा के जो भेद किये है उनके अनुसार चलकर पद्माकर ने अपने ग्रन्थ के मुख्य गुण सहज प्रवाह पर यह एक आक्षेप लग जाने दिया।

कुवलयानन्द मे रूपक के ६ भेद माने गये है, जिनको परम्परा के सभी अलकृतियो ने स्वीकार किया है। पद्माभरण मे इन ६ भेदो के अतिरिक्त एक नया भेद सावयव रूपक भी है, इसका विवेचन मुख्य ६ भेदो के अनन्तर है। साग रूपक या सावयवरूपक[4] काव्यप्रकाश मे स्वीकार किया गया है, साहित्यदर्पण[5] मे भी है। यदि सावयव का कथन

(१) **स्मरन, भान्ति, संदेह तिहुं, लच्छन इनके नाम। ४३।**

(२) **उपमेयलुप्ता इज नौट पौसिबिल; फौर दि एबसेंस आफ उपमेय नौक्स आउट दि बौटम आफ दि फिगर इटसेल्फ। (सुखथांकर: काव्यप्रकाश, नोट्स, ५)**

(३) **दैट दि आलंकारिक शुड गो टु दि लेंग्थ आफ एडमिटिंग उपमेयलोप (दैट इन वादि-उपमान-लुप्ता) शोज दिअर सरवाइल ओबीडिऐंस टु ग्रामर। (वही, पृ० ६)।**

(४) **साङ्गमेतत् (मूल), उक्तद्विभेदं सावयवम् (वृत्ति)। १०।९४।**

(५) **तत्परम्परितं सांगं निरंगमिति च त्रिधा। १०।४२।**

किया था तो निरंग का भी परिचय दे दिया होता। हाँ, सावयव रूपक का व्यवहार हिन्दी की प्रवृत्ति के अवश्य ही अनुकूल है।

उत्प्रेक्षा के प्रसंग में भी पद्माकर परम्परा से आगे गये हैं, वस्तु, हेतु, तथा फल के तीन भेदों के दो-दो उपभेद उक्तविषया तथा अनुक्तविषया किये हैं। अन्त में गम्योत्प्रेक्षा है। इस भेद का नाम चन्द्रालोक में 'गूढोत्प्रेक्षा' तथा कुवलयानन्द में 'गम्योत्प्रेक्षा' ही है। यह उत्प्रेक्षा का भेद नहीं परन्तु भेदों का एक आधार-मात्र है।

दूसरों का ऋण

दूलह के समान पद्माकर ने उन आचार्यों के नाम तो नहीं गिनाये जिनसे प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना में सहायता मिली है, परन्तु यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि मैंने दूसरे कवियों के मार्ग को देखकर ही यह ग्रन्थ लिखा है। भाषाभरण की चर्चा ऊपर हो चुकी है, भाषा-भूषण का भी हमने संकेत किया है। संस्कृत-ग्रन्थों में केवल कुवलयानन्द का ही नहीं, काव्य-प्रकाश तथा साहित्यदर्पण का यत्र-तत्र प्रभाव हम यथास्थान दिखला चुके हैं। वस्तुतः जहाँ तक आचार्यत्व का सम्बन्ध है इस शैली का कोई भी अलंकृती मौलिक नहीं कहा जा सकता। पद्माकर के उदाहरणों पर भी दूसरों का प्रभाव है। यहाँ हम पद्माकर पर उस युग के हिन्दी आचार्य तथा कवियों का प्रभाव देखते हैं :—

(क) जसवन्तसिंह तथा पद्माकर—

(अ) अंतर बाहिर दिसि-बिदिस, वह तीय सुखदैन। १३३। (भा० भूषण)
घर-बाहिर अध-ऊरध हु, वह तिया दरसाति। १६४। (पद्माभरण)

(आ) सुक! यहि मधुरी बानि ते, बंधन लह्यो बिसेखि। १६६। (भा० भूषण)
कैद होत सुक-सारिका, मधुरी बानि उचारि।
कागा परत न बंध में, श्रुति-कटु सबद पुकारि। २३३। (पद्माभरण)।

(ख) दूलह तथा पद्माकर—

(अ) हेतु बिनु कारज की उपज विभावना है,
अंजन विना ही नैन ऐन कजरारे हैं। (दूलह)
सो विभावना जान, कारन विन कारज जहां।
बिनु हु सु अंजन-दान, कजरारे दृग देखियतु। (पद्माकर)

(आ) राजै बिनु जोर छला छिगुनी के छोर, ता
छला में मापि लीजै भई छाम कटि बाम की। (दूलह)
छला छिगुनिया-छोर को, भो भुज-भूषन जाइ। (पद्मा०)।

(इ) नेह-बस भए त्यों ही मेह मढ्यो महा है। (दूलह)
तियहि मनावन पिय लग्यो, तब ही घन घहरान। (पद्मा०)

(ई) जाकी चित चाह तेई चौकी देन आए री। (दूलह)
चल्यहु परोसी कान्ह कौं, सौंपि चितचही जोइ। (पद्मा०)

(उ) रिद्धिवान जोग श्लाघ्य चरित भनै उदात्त,
बंसी-बट-तट नट रास-रचना करी। (दूलह)

करत भये जा के तरे, राधा-कृस्न-बिहार ।
सो न होइ क्यों तरुन को, बंसीवट सिंगार ।। (पद्मा०)

(ग) बिहारी तथा पद्माकर —

(अ) पान-पीक अधरान में, सखी लखी नहि जाइ । (बिहारी)
अरुन अधर मे पीक की लीक न परति लखाइ । (पद्मा०)

(आ) जानी जात सुबास ही, केसर लाई अंग । (बि०)
समुझो परत सुगंध ते, तन केसर को लेप । (पद्मा०)

(इ) मुकु होहुगे नेकुमैं, मुकुर बिलोकौ लाल । (बि०)
लखि भोंरहिं पिय कों जु तिय, मुकुर दिखायो आज । (पद्मा०)

(घ) अन्य कवि तथा पद्माकर

(अ) भलो नहीं यह केवरो, सजनी गेह-अराम ।
बसन फटै, कंटक लगै, निसदिन आठौ याम ।। (मतिराम)
भली न घर केतकि लगै, उर कंटक अंगान । (पद्मा०)

(आ) बाबरि, जो पै कलंक लग्यौ तब
क्यों न निसंक ह्वै अंक लगावति । (निवाज कवि)
झूंठे ही ब्रज में लग्यौ, मोहि कलंक गुपाल ।
सपनेहू कबहू हिये, लगे न तुम नंदलाल ।। (मतिराम)
होइ कलंक, निसंक तौ मिलहुं मोहनै जाइ । (पद्मा०)

(इ) काहे कौ सौहें हजार करौ तुम तौ कब हूं अपराध न ठायो ।। (मतिराम)
सौहें सौहें खात कस, तुम न कियो अपराध । (पद्मा०)

पचदश अलकार-प्रकरण

अर्थालकार-प्रकरण के बाद और ससृष्टि-सकर अलकारो के विवेचन से पहिले पद्माभरण मे ५१ छन्दो का पच-दश अलकार-प्रकरण है । ४ रसवत् आदि, ३ भावोदय आदि, तथा ८ प्रमाण अलकारो का क्रमश विवेचन है । इस प्रकरण को कवि ने अलग ही रखा है, और इसको लिखने से पूर्व 'गुरु गनेस' की अलग वन्दना भी की है । ध्यान इस बात पर जाता है कि गद्य मे वार्त्तिक लिखकर 'लच्छन-लच्छ' के समन्वय को स्पष्टत समझा भी दिया है । यद्यपि शैली बहुत पुरानी है इसलिए आज के पाठक को वह दुरूह मालूम पड़ेगी, परन्तु अपनी परम्परा की दृष्टि से वह काफी प्रवाहपूर्ण है । अर्थापत्ति का समन्वय देखिए :—

देवदत्त यह बहुत मुटानो । खात न दिन मँह एक हु दानो । ३२५ ।
मोटो रहत है यहै असिद्ध होइ कै राति-भोजन करत है यहि
अरथ को ठहरायो, राति को न खातो होइ तो मोटो न होइ ।

प्रत्यक्ष प्रमाण मे पचेन्द्रिय के अलग-अलग उदाहरण दिये गये है, तथा शब्द प्रमाण में भी श्रुतिवाक्य, स्मृतिवाक्य, आगम, आचार तथा आत्मतुष्टि आदि के भी अलग-अलग

उदाहरण हैं। सामान्यत. उदाहरण उपयुक्त है, परन्तु 'रसाभास ते ऊर्जस्वित' के उदाहरण में ग्राम्य दोष आ गया है :—

सुनि रन मंह तुव धनुष-रव, गे रिपु सागर-पार।
रिपु-रानी बन-बन फिरति, तिन सों रमत गंवार ॥२९६॥

लक्षण निश्चय ही सरल एव स्पष्ट है :—

(अ) सो रस जहं अंग और को, है रसवत् तिहि ठाम ।२८८।
(आ) पंच ज्ञान-इन्द्रियन तें, जहां वस्तु को ज्ञान।
तहं प्रत्यक्ष-प्रमान, सो अलंकार उर आन। ३०६।

संसृष्टि-सकर

पद्माभरण के अतिम १२ दोहे ससृष्टि-सकर के लिए प्रयुक्त हुए है। यह प्रसग इस परम्परा मे प्रचलित नही था, फिर भी पद्माकर ने इसको स्थान दिया है। पंचदश-अलकार-प्रकरण के समान यहा भी सक्षिप्त वार्त्तिक का प्रयोग है, कही विरल, कही विस्तृत। ध्यान देने की विशेषता यह है कि कवि ने उदाहरण दूसरो के ही रखे है—बैरीसाल तथा बिहारीलाल को यह गौरव प्राप्त है, पद्माकर ने स्मरणपूर्वक इनका उल्लेख किया है। ससृष्टि-सकर का लक्षण कितना स्पष्ट है :—

तिल-तंदुल के न्याय सों, है संसृष्टि बखान।
नीर-छीर के न्याय सों, संकर कहत सुजान। ३३२।
जुदे-जुदे जाने परें, सो तिल-तंदुल-न्याय।
जहां जुदे न लखे परें, नीर-छीर सो आय ॥३३३॥

ब्रह्मदत्त : दीपप्रकाश

(१८६७ वि०)

. काशीनरेश उदितनारायणसिह के अनुज, दीपनारायणसिह की आज्ञा[1] मे ब्रह्मदत्त कवि ने संवत्[2] १८६७ वि मे 'दीपप्रकाश' की रचना की--भारत-जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित पुस्तक मे सम्पादक स्व रत्नाकर जी ने स. १८६७ इसका लिपिकाल माना है रचनाकाल नही। ४९ पृष्ठो की यह पुस्तक ७ प्रकाशो मे विभक्त है। प्रथम प्रकाश के १५ दोहे परिचय मे लगे है, दूसरा प्रकाश ४७ दोहो मे नायक-नायिका-भेद का वर्णन करता है, तीसरे प्रकाश मे भावादि तथा शब्दालकार है, चतुर्थ मे अर्थालकार, तथा पचम मे दोग और गुण की चर्चा है। इस प्रकार इस छोटी-सी पुस्तक मे काव्य के अधिकतर अग आ गये है। शायद इसीलिए रत्नाकर जी इसको 'भाषाभूषण' से अधिक उत्तम पुस्तक मानते है।

पूरी पुस्तक प्राय. दोहो मे रची गई है। विषय-विवेचन सामान्य है, एक दोहे मे लक्षण तथा उदाहरण दोनो को रखने का प्रयास है। लक्षणो पर चन्द्रालोक का भी प्रभाव[3] है, उदाहरण शृंगार मे है परन्तु निर्मल तथा सरल। पूर्व कवियो का प्रभाव सर्वत्र लक्षित होता है।

तीन उदाहरण देखे जा सकते है --

(धर्मलुप्तोपमा) कहत धर्म उपमा लुपत, गोपित करि बुधि ऐन।
हरि नीके लागत लखत हरिनी के से नैन ॥१३॥

(परिणाम) विषई अन्तर विषय के करत काम परिणाम।
कर कंजनि तोरति सुमन चित चोरति वह बाम ॥२८॥

(प्रहर्षण) प्रथम प्रहर्षण जतन विन वांछित फल जब होय।
चित चाहत हरि राधिकहि औचक आई सोय ॥१३४॥

---

(१) दीपनरायन सिंह की लहि आयसु कवि ब्रह्म।
कविकुलकंठाभरण लगि कीन्हो ग्रंथ अरंभ ॥

(२) मुनि रस बसु ससि बरस नभ मास चतुर्थी स्वेत ॥

(३) उपमा यत्र सादृश्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः। (चन्द्रालोक)
शोभा सरिस दुहुन में सो उपमालंकार। (दीपप्रकाश)

काशिराज : चित्र-चन्द्रिका

(१८८९ वि०)

काशी-नरेश चेतसिंह के पुत्र[1] बलवान्सिंह ने स १८८९ में[2] छप्पय, दोहा सोरठा, कवित्त, तोमर, कुंडलिया, चौपाई आदि अनेक छन्दो मे सस्कृत आदि से लेकर भाषा मे चित्र के अगाध[3] समुद्र की थाह के लिए 'चित्रचन्द्रिका' की रचना प्रारम्भ की, यह पुस्तक १९३१ मे पूर्ण[4] हो सकी। यह रचना अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण तथा उपयोगी है। इसमे सरस्वतीकण्ठाभरण काव्यप्रकाश आदि अनेक सस्कृत ग्रन्थो के अतिरिक्त हिन्दी, प्राकृत तथा फारसी तक के अध्ययन की छाप अनेक स्थलो पर है। भाषाटीका तथा चित्रो ने इसका महत्त्व और भी बढा दिया है। चित्र काव्य के जाल को समझने के लिए एक इस प्रकार की पुस्तक आवश्यक थी भी। रचयिता का नाम ऊपर 'कवि काशिराज महाराज' लिखा है।

चित्र के तीन भद है—शब्दचित्र, अर्थचित्र तथा सकर-चित्र। शब्दचित्र के ७ भेद है—वर्णचित्र, स्थानचित्र, स्वरचित्र, आकारचित्र, गतिचित्र, आकार-वध-चित्र, तथा गुणवध-चित्र—इनका वर्णन ग्रथ के प्रथम ७ प्रकाशो मे है। अर्थचित्र के ६ भेद है—प्रहेलिका, गूढमालकार, गूढोत्तर, अपन्हुति, श्लेष तथा यमक, कवि ने इन सब का विवेचन अकेले अष्टम प्रकाश मे कर दिया है। अन्तिम प्रकाश मे पदार्थ (शब्दार्थ) सकर चित्र या उभयालकार का वर्णन है।

चित्र काव्य का सस्कृत की पण्डित-सभाओ मे जो महत्त्व था वह लोकभाषा मे दिन-प्रतिदिन कम ही होता चला गया। केशवदास ही यह सोचने लगे थे कि इस अगाध समुद्र मे पार निकलना अति कठिन है, अत 'कविप्रिया' मे उन्होने इसके केवल कुछ भेदो का ही वर्णन कर दिया था। उनकी आशका ठीक निकली और उत्तरकालीन आचार्यो ने चित्रकाव्य को चित्रालकार-मात्र बना डाला। फिर भी चित्र का मोह लुप्त न हो सका। पाण्डित्य की इस कसौटी को भाषारसिक के लिए सुगम बनाने का काशिराज का यह प्रयत्न प्रशसनीय है। इस पुस्तक मे चित्रकाव्य का कठिन विषय भी ललित बन जाता है। कवि का ज्ञान ठोस तथा शैली परिमार्जित है, गद्यमयी व्याख्या तथा चित्रयोजना ने विषय को सुबोध बनाने मे विशेष सहायता दी है।

(१) तासु तनय जग विदित है, चेतसिंह महराज ॥
हौ सुत तिनकौ जानियं, विदित नाम बलवान् ॥
(२) निधि सिद्धि नाग चन्द्र विक्रम सु अब्द ।
(३) चित्र समुद्र अगाध कोऊ कवि थाह न ल्यायौ ॥
(४) इन्दु राम ग्रह ससि बरस, मार्ग शुकल रविवार ।
चित्रचन्द्रिका पूर्ण भो पंचमि तिथि स विचार ॥

गिरिधरदास : भारती-भूषण

(१८९० वि०)

. भारतेन्दु जी के पिता श्री गिरिधरदास ने 'भारती-भूषण' नाम की अलकार-[1] पुस्तक स १८९० मे लिखी, इसमे ३६ पृष्ठ तथा ३७८ छन्द है। इसमे दोहा छन्द का ही व्यवहार हुआ है। ३७६वे दोहे तक अलकार-विषय समाप्त[2] करके कवि ने नायिका-भेद का दोहा[3] न जाने क्यो लिख दिया है। सामान्यत पुस्तक का आधार कुवलयानन्द है, इस वर्ग की पूर्ववर्त्ती रचनाओ का भी प्रभाव लक्षित होता है।

'भारती-भूषण' मे 'अर्थालकार सत' का वर्णन करके दो शब्दालकार--अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य, लाट) तथा यमक (अखड, खड)--का विवेचन किया गया है। शब्दालकार प्रसग मे कवि के विस्तृत अध्ययन तथा स्वतन्त्र सूझ का पता लगेगा, अनुप्रास के 'श्रुति' तथा 'अन्त्य' भेद इस वर्ग के अन्य कवियो ने नही लिखे।

अर्थालकारो का क्रम उपमा से हेतु तक कुवलयानन्द के ही अनुसार है। फिर भी कवि की स्वतन्त्र मति स्थान स्थान पर दृष्टिगत होती है। उसने दो प्रकार के उपमा-वाचक माने है--मूल तथा इतर, मूल के अन्तर्गत लो, सो, से, सी, सौ, सरिस, सम, समान, इव, तूल, एसो, एसे, ए, (दोहा १३) को बताया है, और इतर मे जिमि, तिमि, जैसोइ, तैसोइ जथा, तथा, ज्यो, त्यो, (दोहा १४) की गणना की है। दण्डी ने काव्यादर्श मे उपमावाचक शब्दो की सूची गिनाई थी, मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' तथा विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' मे श्रौती तथा आर्थी का भेद करने के लिए उपमावाचको की चर्चा की है, गिरिधरदास का 'उपमा वाचक-मूल' तथा 'एऊ उपमावाचक' इन दो भेदो मे अभिप्राय श्रौती-वाचक तथा आर्थी-वाचक मात्र नही माना जा सकता (यद्यपि 'मूल' वाचको का प्रयोग श्रौती मे होता है), जिनको 'मूल-वाचक' कहा है वे सादृश्य का स्वाभाविक सकेत देते है, 'इतर' मे वैसा नही है--'इतर' वाचको का प्रयोग उपमेतर सादृश्यमूलक अलकारो मे भी होता है।

'भारती-भूषण' मे मालोपमा तथा रसनोपमा भी है। स्मरण, भ्रम तथा सन्देह को 'लच्छन लच्छित नाम' ही माना है; स्मरण के दोनो भेद है--'सुनि' तथा 'लखि' के आधार पर, अपन्हुति प्रसग मे हेतुपर्यस्तापन्हुति का वर्णन है। सामान्यत अर्थालकार, लक्षण तथा भेदो मे, कुवलयानन्द के अनुसार है। लक्षणो मे कसावट की आशा नही की जा सकती परन्तु स्पष्टता सर्वत्र मिलती है। उपमा का जयदेव ने लक्षण दिया था--'उपमा यत्र साद-

---

(१) इति श्री नन्दनन्दन पदारविन्द-मिलिन्दधनाधीश श्री बाबू गिरिधरदास कवीश्वर विरचितं भारतिभूषणमलंकारं समाप्तम्।

(२) शब्द अर्थ आभरन दोउ, इह विधि भये समाप्त। ३७६।

(३) बेगन कर लै कामिनी, कहति चितै घनश्याम।
भर्त्ता करिहौं तुमहिं हौं, जौ चलिहौ मम धाम॥

श्यलक्ष्मीरुल्लसति द्वयो' इस कवि ने इसका अनुवाद किया है—'समताई सोभित सदा इमि कवि कहहि सुजान'। यहा मूल के 'सादृश्यलक्ष्मी' का तो अनुवाद हो गया परन्तु 'द्वयो' का नही, फिर भी प्रसग में उसका अध्याहार हो जाता है।

गिरिधरदास के उदाहरण सरस है। प्राय दूसरो का प्रभाव भी मिलता है —

(क) कहा करति निज रूप कौ गरब, गहे अविवेक।
रमा, उमा, सचि, सारदा, तो-सी तीय अनेक ॥४१॥

(ख) जानि श्याम-घन घन तुम्हें नाचि उठे वन मोर।
हेम-सलाका मानि तोहि चोर फिरें सब ओर ॥६२॥

(ग) सजनी रजनी पाइ ससि, विहरत रस भरपूर।
आलिंगत प्राची मुदित, कर पसारि कै सूर ॥१३८॥

प्रथम उदाहरण मे जसवतसिह, द्वितीय मे विहारी, तथा तृतीय मे केशव की छाया स्पष्ट है। प्रथम उदाहरण तो प्रतीप का रूप स्पष्ट कर सकता है, परन्तु दूसरे का उत्तरार्ध हास्यास्पद बन गया है—नारी कनक-शलाका के समान तो हो सकती है परन्तु उसको देखकर चोर को स्वर्ण-यष्टि का भ्रम नही हो सकता, तृतीय उदाहरण समासोक्ति के लिए रखा गया है परन्तु उसमे झलक रूपक की मिलती है, जैसा कि 'सजनी-रजनी' से स्पष्ट है।

सरस उदाहरणो के लिए कुछ अन्य स्थल देखे जा सकते है।

उपमान-वाचक-धर्मलुप्ता

मृगनैनी, गजगामिनी, पिकबैनी सुकुमारि।
केहरि कटिवारी, खरी, नारी लखौ मुरारि ॥२९॥

अधिक व्यतिरेक

तिय पल्लव से तो अधर, अधिक अमृत रस पेखि। १२९।

न्यून व्यतिरेक

हरि से हरिजन जानु, पै हरि घट-घट विश्राम। १३०।

समव्यतिरेक

जो निज घेरे मे परत, चूर करत दलि ताहि।
पथ्य संग, पै गहत नहि, खल खल-वृन्द सदाहि ॥१३१॥

लेखराज : गंगाभरण

(स० १९३५)

गन्धौली ग्रामनिवासी प. कृष्णबिहारी मिश्र के स्वर्गीय पिता प नन्दकिशोर मिश्र उपनाम "लेखराज" ने स. १९३५ मे एक अलकार-ग्रन्थ 'गगाभरण' लिखा। यह छोटी सी पुस्तक दोहे तथा कवित्तो मे लिखी हुई है। लेखक आचार्य की अपेक्षा भक्त अधिक है, उसने इस पुस्तक को लिखकर गगा की महिमा गाई है परन्तु साथ ही पुरानी पुस्तको को पढकर विषय को सुगम बनाने का भी प्रयत्न किया है[1]।

गगाभरण मे विषय का विभाजन तीन भागो मे किया गया है—अर्थालकार, शब्दालकार तथा चित्रकाव्य। अर्थालकारो मे अलकारो के क्रम तथा सख्या मे प्राय भाषाभूषण का ही अनुकरण है। उपमेयोपमा, मालोपमा तथा रसनोपमा आदि भद नही है। काव्यलिग तथा प्रस्तुताकुर आदि को स्थान मिला है। किसी भी भेद की उपेक्षा नही की गई। अर्थालकारो मे ही वक्रोक्ति तथा 'काकोवित' अलकारो का वर्णन लेखराज ने किया है।

शब्दालकार सभी अनुप्रास है, पाच भेद। यमक भी जमकानुप्रास नाम से यही आया है, छेक, वृत्ति, तथा लाट पुराने ही भेद ह, 'श्रुत्वानुप्रास' की भी अलग चर्चा कर दी ह।

चित्रकाव्य के ६ भेद लेखराज ने किये ह—सामनोत्तर, कमलबत्, प्रश्नोत्तर, शृखलोत्तर, व्यस्तसमस्त, अतादिवर्ण प्रश्नोत्तर तथा एकाक्षचित्र। यद्यपि विस्तार अधिक नही है,फिर भी इस छोटी-सी पुस्तक मे इस विषय मे इतनी रुचि समय के अनुकूल नही है।

'गगाभरण' की अपनी कोई विशेष मान्यताए नही है, परपरा से जो कुछ चला आता था लेखराज ने उसको प्राय: ज्यो-का-त्यो लिखकर गगा की महिमा गाई है। यदि समय की रुचि को समझकर लेखक अपने विषय की विवेचना करता तो उसकी रचना का ऐतिहासिक महत्त्व हो सकता था।

---

(१) कहैं लेखराज लिखो लख कवि-पंथ या तें
अलंकार मिस कीन्हों गंगा-गुन-गान मैं।

लछिराम : रामचन्द्र भूषण

(सं० १९४७)

लछिराम नाम के कम से कम तीन कवि प्रसिद्ध है, एक के छन्दों को तो आगे चलकर 'काव्य प्रभाकर' के रचयिता ने उदाहरण रूप मे रखा है; और 'रामचन्द्रभूषण' भी एक से अधिक है। प्रस्तुत कवि ने अपनी रचना का काल तथा अपना परिचय इन शब्दो मे दिया है --

संवत् समुनि वेद अंक विधु माधौ मास,
सित गुरु द्वादशी मे पूरन प्रभासी कौ।
बंदीजन वंश राजहंस मानसिंह द्वार,
विरद गवैया मन सब सविलासी कौ।
राजा राव राने मरदाने सनमाने और,
चरित अपार ब्रह्मपावन प्रकासी कौ।
रामचन्द्रभूषन अवध अभिराम रच्यौ,
लछिराम राव रामचन्द्र जसराशी कौ ॥६२५॥

ग्रन्थ के नाम मे दो शब्द है--'रामचन्द्र' तथा 'भूषण'--जिनसे यह स्पष्ट होता है कि लछिराम ने इसकी रचना रामभक्ति के उदाहरणो द्वारा अलकार-विषय को समझाने के लिए की है। अत मे इसी बात को स्पष्ट शब्दो मे कह भी दिया है[1]। विद्वानो से लेखक न यह विनय की है कि और कुछ नही तो कम से कम यह समझ कर कि इस पुस्तक मे रामचरित का गान है, इसके दोषो को स्वय सुधार कर इसको पढे,[2], और सामान्य पाठक को यह सम्मति दी है कि यदि तुमने प्रेमपूर्वक (मन लगाकर) इस पुस्तक का अध्ययन कर लिया तो तुम अलकार-विषय को तो भली-भाति समझ ही जाओगे भगवान् राम भी तुमसे प्रसन्न हो जावेगे[3]। इतना सब आश्वासन देने पर भी लेखक को सन्तोष नही होता, वह सोचता है कि शायद उसकी रचना विद्वानो को पसन्द न आवे, तब ? तब कोई बात नही, वह समझेगा कि उसने यह पुस्तक अलकार-विषय के लिए नही लिखी प्रत्युत भक्ति-भावना से प्रेरित होकर ही लिखी थी[4]। इन आचार्यो की यह विशेषता है कि ये भक्ति को

---

(१) **श्री सीतावर चरितमय, अलंकार शुभ रीति।८।**

(२) **सतकवि संत गुनीन सों, विनय करत लछिराम।**
बिगरो बरन सुधारि हे, चरित समुझि सियराम।६२६।

(३) **रामचन्द्र भूषण पढ़े, जो सप्रेम करि गौर।**
अलंकार समुझे, ब्रवे रामचन्द्र सिरमौर ॥६२७॥

(४) **सुकवि रीझि हे करि कृपा, तौ कविता लछिराम।**
नतरु व्याज सौं मै रटचौ, श्री सियवर कौ नाम ॥६२८॥

ध्येय नहीं बनाते, प्रत्युत आचार्यत्व मे असफल होने पर भक्ति को विकल्प रूप से स्वीकार करते है।

विशेषताएँ

मगलाचरण के अनन्तर 'रामचन्द्रभूषण' मे जो अलकार-वर्णन है उसकी कुछ तो पुरानी परम्परागत विशेषताएँ है। जैसे, लक्षण दोहो मे है और उदाहरण छप्पय, कवित्त, सवैया, कुडलिया आदि बडे छन्दो मे। परन्तु नवीन विशेषताएँ भी ध्यान देने योग्य है, मतिराम तथा भूषण के समान लछिराम भी गुण-कीर्त्तन के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना कर रहे थे। अत उदाहरणो मे उनका मन खूब लगा है—रामभक्ति के उदाहरण प्रत्येक अलकार के साथ एक से अधिक है, आगे (काव्यलिग अलकार के अनन्तर) चलकर तो प्रत्येक उदाहरण के साथ नियमपूर्वक एक छप्पय और जोड दिया है।

पहली बार अलकार के अत मे 'तिलक' लिखा हुआ मिलता है सरल गद्य मे, स्वय कवि के ही शब्दो मे। जिस प्रकार 'अप्रस्तुतप्रशसा' के बाद मे वह लिखता है—**"यह जो समस्त वृत्तान्त वर्णन कियो सो कारण प्रस्तुत है अरु सेना के प्रभाव ते जो दूत के दृश्य मे भयानक भयो ताको नेकहू ना कह्यो सोई कारज अप्रस्तुत है।"** इस प्रकार का तिलक अनेक अलकारो के बाद है, इसमे विशेष विवेचन तो नही है परन्तु लक्षण-उदाहरण-समन्वय अवश्य है।

लछिराम ने ग्रन्थ के प्रारभ मे अलकार का लक्षण भी दिया है—अलकार वह है जो शब्द (पद) तथा अर्थ के द्वारा काव्य की शोभा बढाता है—**"भूषन वत पद अर्थ मे, अलंकार अनुमान" (९)**। यहाँ पद्य मे दोहे के दो चरणो द्वारा ही लिखे जाने के कारण अधिक स्पष्टता नही है, यह नही कहा जा सकता कि अलकार शोभा का कारक है या वर्द्धक, नित्य धर्म है या अनित्य, परन्तु इतना निर्विवाद है कि अलकार का महत्त्व भूषण के समान बाह्य ही है।

'रामचन्द्रभूषण' मे ९८ अर्थालकार तथा १ शब्दालकार है। शब्दालकार अनुप्रास के केवल २ भेद छेक तथा वृत्ति ही है; यमक तक को यहा स्थान न मिल सका। अर्थालकारो का क्रम प्रायः 'भाषाभूषण' के ही अनुसार है।

अर्थालंकार

उपमा का इस ग्रन्थ मे बडा विस्तार है। पूर्णोपमा के ही ७ उदाहरण है। तदनन्तर स्तवकोपमा का लक्षण लिखा है कि जहाँ अर्थ के सादृश्य मे समान उपमान से समता दिखलाई जावे,[1] उदाहरण मे एक पूरा कवित्त लिख दिया है। लछिराम ने पूर्णोपमा-माला भी लिखी है, तीन भेदो के सहित। फिर लुप्तोपमा के १४ भेद है। पूर्णलुप्ता भी परपरा के अनुसार है, जिसके उदाहरण मे एक बरवै दिया है—

अंगद सौं कहि तारा, विरद संभार।
मम सोहाग हरसोहे, तिनहि निहार ॥४३॥

(१) **अर्थ सदृश में जहं परै, समता सम उपमान।**
जहं तहं मिलि तवकोपमा, अलंकार परमान ॥१९॥

इस उदाहरण मे उपमा भी कैसे मानी जा सकती है, 'सम सोहाग हरसोहैं' मे साम्य का कोई भी तो चिह्न नही है। कवि ने उपमा के श्रौती तथा आर्थी भेद तथा उन के लक्षण दिये है परन्तु उदाहरण नही दिये। इस प्रकार उपमा के प्रकरण मे अधिकतर आचार्यों तथा परम्पराओ का अनुकरण भर मिलता है।

रूपक का लछिराम ने एक विलक्षण लक्षण दिया है कि जहाँ वाचक तथा धर्म का अभाव होने से विषयी-विषय का एक गुण के कारण विलास हो —

जहं अभाव वाचक धरम, विषयी विषय विलास।
करि एकै गुन थापिये, रूपक भूषन रास ।६८।

वाचक तथा धर्म का लोप होने से वाचकधर्मलुप्ता उपमा क्यो नही होगी, रूपक क्यो हो जावेगा, और जब धर्म का अभाव होगा तो 'एक गुण के कारण विलास' का क्या अर्थ है ? लछिराम का लक्षण इन शकाओ का कोई उत्तर नही दे पाता। ६ सामान्य भेदो के अनन्तर "**औरौ रूपक चतुर विधि, बरने बुध मतिमान**" लिखकर दूसरो के आधार पर निरजन, परम्परित, प्रमान, तथा समस्त ८ भेद और बतलाये है—जो दूसरो के अनुकरण पर ही है।

उत्प्रेक्षा के परम्परानुसार ६ भेद ही है। हाँ, गम्योत्प्रेक्षा का लक्षण बतलाते हुए उसके दूसरे नाम भी बतला दिये है —

वस्तु, हेतु, फल कल्पना, जनो मनो पद हीन।
गम्योत्प्रेक्षा कहत कोउ, ललित, गुप्त परबीन। १५४।

ध्यान रखना होगा कि दूसरे आचार्यो न उत्प्रेक्षा 'सभावना' मे मानी थी, परन्तु लछिराम ने 'कल्पना' मे मानी है—जो शिथिलता भर की सूचक है, किसी मान्यता की नही।

समासोक्ति विषय बहुत ही चलता हुआ है। श्लेष का पर्याप्त विस्तार है। दूसरे आचार्यो के समान अभिन्न पद, भिन्न पद तथा तदनन्तर उपमा श्लेष का विवेचन है। अन्त मे श्लेष के ३ भेद और दिये है जिनका आधार है गुण —

माधुर्यौज प्रसाद में गुन संक्रमित सु धीर।
त्रिविध बरनि अश्लेष पुनि, सुकवि सुनत गंभीर। २४१।

श्लेष के भेदो का यह आधार और किसी आचार्य ने नही माना।

भाषाभूषण के समान रामचन्द्रभूषण मे भी कारणमाला अलकार का नाम "गुम्फ" है, और एकावली का लक्षण चन्द्रालोक की शब्दावली मे ही इस प्रकार दिया है :—

ग्रहित मुक्त के संग जहं, सुपद जंजीरा जोर।
अलंकार एकावली, यों भनि कवि शिरमोर। ३५६।

एकावली तथा मालादीपक के बीच लछिराम ने एक नवीन अलकार 'मुक्तप्रकेशी' को स्थान दिया है। एकावली के बीच जहाँ प्रश्नोत्तर की शोभा होती है वहा अलंकार मुक्तप्रकेशी है[1]। उदाहरण विषय को अधिक स्पष्ट नही कर पाता :—

(१) **एकावलि के बीच जब, प्रश्नोत्तर शुभरंग।**
मुक्त प्रकेशी तहँ कहं, अलंकार नवरंग॥ ३५९॥

मरकत खंभ कैसे, परम प्रचंड जैसे,
भुजदंड जुगल जसीले रघुवीर के। ३६०।

लछिराम ने वक्रोक्ति को अर्थालकारो मे रखा है और इसके दो भेद श्लेषवक्रोक्ति तथा काकुवक्रोक्ति किये है, काकु वक्रोक्ति का उदाहरण यह है ––

आय हैं फेरि कछू दिन में
करि हैं फिरि ऐसे लंगूर तमासे। ५४७॥

स्मरण आदि के लक्षण नाम मे ही निहित माने है[1]। इस प्रकार अर्थालकारो के लक्षण, व्यवस्था, भेदोपभेद आदि की दृष्टि से भी रामचन्द्रभूषण मे कोई आकर्षण नही मिलता।

अलकारो के उदाहरण

'रामचन्द्रभूषण' के उदाहरणो की सबसे बडी विशेषता यह है कि वे सबके सब "श्री सीतावरचरित" से ही लिये गये है और यही उनका सबसे बडा दोष भी है––विशेषत क्योंकि लेखक मे भक्ति-भाव की ही प्रबलता है। कुछ उदाहरण शृगार रस के ही प्रसग म चमचमाते है, उनके स्थान पर उसी छाया मे भक्ति रस का प्रवाह उखडा हुआ-सा लगता है। पूर्वरूप तथा मीलित के उदाहरण हमारे अभिप्राय को अधिक स्पष्ट कर सकेंगे ––

(क) भरत गरे लर मानिक, मरकत होत।
परसत फिरि करकंजन, अरुण उदोत॥ (पूर्वरूप)
(ख) जानि परे न मुनीशन हू को,
भरत्थ के ओठन पान की लाली। (मीलित)

पूर्वरूप वाले उदाहरण मे तुलसी के उस बरवै का अनुकरण है जिसमे उन्होने सीता के रूप-सौदर्य का वर्णन किया है, लछिराम ने न जाने क्या सोचकर सीता के स्थान पर भरत को बैठाल दिया, भरत को 'कचनबरनी' नायिका बनाकर न तो भक्तिभाव की प्रतिष्ठा होती है न भरत का गौरव ही बढता है। इसी प्रकार बिहारी के **"पान-पीक अधरान में, सखी, लखी नहिं जाइ"** की छाया मे, मीलित के उदाहरण के लिए, लछिराम न भरत के ओष्ठो की लाली का जो वर्णन किया है वह 'श्रीसीतावर' की सभा का नही प्रत्युत वाजिदअली शाह के दरबार का सा चित्र उपस्थित करता है, और 'मुनीशन हू' पद तो बिल्कुल ही व्यर्थ है––अरुणाधर का रहस्य तथा मुनीशत्व का तो कोई भी पारस्परिक सम्बन्ध नही है, बेचारे मुनीश तो इस काम मे सबसे कच्चे सिद्ध होगे।

प्रत्यनीक, विषादन और सहोक्ति के उदाहरण भी कवि की पकड की अवहेलना करते है, वह अलकार के प्राण को समझ ही न पाया, केवल भक्ति मे बह गया है ––

(क) राम की हेरि प्रचंड चमू,
छली मैथिली को डरपावन आयौ।

शत्रु पर बल चलता न देखकर शत्रु के 'सम्बन्धी' का तिरस्कार इस अलकार का प्राण है, परन्तु शत्रु के सम्बन्धी (=पक्ष वाले) का अभिप्राय अभिधा के आधार पर शत्रु

---

(१) सुमिरन, भ्रम, सन्देह के नामहिं अर्थ सुदेस। ९६॥

की माता, पत्नी या भगिनी नही कर सकते। विषादन के उदाहरण मे बतलाया है कि शूर्पणखा **'चाहती रामहिं अंक भरयौ'** परन्तु वह लालसा तो पूरी न हुई प्रत्युत **'कटी नासिका कान लै सूपनखा की'**। इसी प्रकार सहोक्ति को लछिराम ने एक ही साथ बहुत से कामो का होना समझ लिया है --

राजसिरी परमारथ स्वारथ भाल विभीषण के भरयो रूरौ।
आनन सामुहें श्री, रघुनाथ के एकई बार मनोरथ पूरौ॥

प्रस्तुताकुर के इस कवि ने दो उदाहरण दिये है, परन्तु शृगार मे बचने के प्रयत्न ने दोनो को निर्जीव बना दिया है।

रामचन्द्रभूषण के बहुत थोडे उदाहरण आकर्षक है, कुछेक को उपयुक्त कहा जा सकता है। अपह्नुति तथा अतिशयोक्ति के निम्नलिखित उदाहरण देखिए --

(क) रामनरेस के ये न तुरंग, परिंद हैं सूरज के रथवारे। (शुद्धा)
(ख) मैथिली के चरनाम्बुज व्याज लसैं मिथिला-मग मंजु त्रिवेनी॥ (कैतवा)
(ग) कौसिला सामुहें हेमलता वपुधारी सुब्रह्म किये गठि जोरें। (रूपका)।
(घ) समर झमेले में झमकि एक बार कढ़ै,
म्यान तें कृपान प्रान अरिगन-अंग तें। (अक्रमा)

मूल्याकन

रामचन्द्रभूषण सामान्य कोटि का अलकार ग्रन्थ है और लछिराम सामान्य कोटि के कवि। इस वर्ग के अलकार-ग्रन्थो मे आचार्यत्व तो बहुत ही कम मिलता है, परन्तु कवित्व की मात्रा कम नही--मतिराम शृगार के तथा भूषण वीर रस के प्रथम श्रेणी के कवि है; लछिराम मे यह बात नही--भक्त कवि के रूप मे भी उनका कोई स्थान नही है। लछिराम के पक्ष मे केवल एक बात कही जा सकती है कि उन्होने किसी पार्थिव नरेश या आश्रयदाता का गुणगान न करके भगवान् का गुणगान किया है--उनका नायक सबका श्रद्धास्पद हो सकता है।

लछिराम के उदाहरणो मे चमत्कार नही है परन्तु उनकी भाषा सरल है इसलिए लक्षण समझना अधिक कठिन नही पडता। साथ ही कुछ अलकारो के साथ तिलक जोड कर उसने एक नया कदम उठाया है, जो उसके आचार्यत्व का मूल्य बढा देता है। लछिराम पर सस्कृत का अधिक प्रभाव नही है--सस्कृत-ग्रथो के अनुकरण का प्रयत्न कम ही है, जयदेव के चन्द्रालोक से स्तवकोपमा, गुम्फ तथा एकावली का लक्षण इस कवि ने ले लिया है। 'मुक्तप्रकेशी' को स्वीकार कर तथा यमक को त्याग कर लेखक ने किसी सिद्धान्त का आग्रह नही दिखाया, प्रत्युत यह घुणाक्षरन्याय का ही फल जान पड़ता है।

गुलाबसिंह : वनिताभूषण

(स० १९४९)

बूंदीपति रघुवीरसिंह की आज्ञा[1] से कविराज गुलाबसिंह ने स १९४९ में[2] 'वनिता-भूषण' नामक एक अपूर्व ग्रन्थ लिखा। इसकी मुख्य विशेषता है नायिका-भेद तथा अलकार-विषय का एकत्र[3] विवेचन। लक्षण उदाहरण के साथ सरल ब्रजभाषा गद्य मे टीका भी है। नायिका और अलकार का साथ-साथ निर्वाह बडा रोचक बन गया है; प्रारभ करते समय कवि ने नायिका को आधार माना है और उसके भेदो का वर्णन करते हुए अलकार का विवेचन किया है, अधिकतर उदाहरण नायिका तथा अलकार दोनो के है, जिनपर 'अथ साधारण नायिका पूर्णोपमा उदाहरण' आदि लिखा है, परन्तु आगे चलकर अलकार-लक्षण मुख्य बन गया है और नायिका-भेद उसका अग। इस दुहरे विवेचन मे चमत्कार तो अवश्य है परन्तु विषय अधिक स्पष्ट नही हो पाता--वर्णन कविकर्म की अपेक्षा कविप्रतिभा का परिचायक ही अधिक लगता है। एक स्थल देखिए --

अथ समस्त रतिकोविदा भ्रान्तापन्हुति लक्षण

दोहा--सो समस्त रतिकोविदा सकल सुरत परवीन।
भ्रान्तापन्हुति आन की करै भ्रान्ति कौ छीन॥

टीका--संपूर्ण सुरत मे प्रवीन होय सो समस्त-रति-कोविदा है,
और की भ्रांति कौ छीन करै सो भ्रान्तापन्हुति अलंकार है।

अथ समस्त रतिकोविदा भ्रान्तापन्हुति उदाहरण।

दोहा--नाना विधि निशि सुरत मे श्रमित प्रात लखि ताहि।
पूछी पूछी कछु आधि है तिय कहि रति श्रम आहि॥

टीका--नाना प्रकार सें रात्रि मे सुरत तें ताकौ सवेरे श्रमित
देखि कें सखी ने पूंछी कछु आधि है तिय ने कही
रति कौ श्रम है। यहां नाना प्रकार की सुरति तें
समस्तरति कोविदा है और नायिका-वचन मे सखी
कौ भ्रम जातो रह्यौ--यातें भ्रान्तापन्हुति अलंकार है।

'वनिता-भूषण' मे गुलाबसिंह ने अलकार-लक्षण बतलाया है--

(१) बूंदीपति रघुवीर की सासन मानि सिताब।
बनिता-भूषण सार मे उद्यम करौ गुलाब॥
(२) संवत सर उनईस सै उनचास कवि वार।
आश्विन नवमी शुक्ल पख भयो ग्रंथ अवतार॥
(३) क्रम सें नायिका अलंकारन के एकत्र लक्षण।

रस-अर्थन तें भिन्न जो, शब्द-अर्थ के मांहि ।
चमत्कार भूषन, सरिस, भूषण मानत ताहि ॥

इस प्रकार के लक्षण कवि के अध्ययन के द्योतक है। इस पुस्तक मे स्थान-स्थान पर कई सस्कृत तथा हिन्दी पुस्तको की सूचना है। 'नीति-मजरी' कतिपय स्थलो पर आई है; 'भूषण-चन्द्रिका' के कुछ उदाहरण है, 'मेदिनी' आदि कोश शब्दो के एकाधिक अर्थ बतलाने के लिए उद्धृत किये गये है। दोहा के अतिरिक्त छप्पय बरवै आदि छन्द भी मिलते है। टीका की गद्य बडी सुलझी हुई है। सामान्यत गुलाबसिह को केशव के वर्ग का आचार्य माना जायगा, परन्तु उनमे केशव के समान पाण्डित्य नही है, कवित्व अवश्य ही कुछ अवश्य है। मौलिकता का प्रश्न यहा नही आता, स्वीया नायिका के दो भेद[1] ––पतिव्रता-तथा साधारणा––किसी विशेष दृष्टिकोण के द्योतक नही, दासकवि बहुत पहिले ही यह बतला चुके थ कि श्रीमानो[2] के घर मे विवाहिता पत्नो के अतिरिक्त भी कुछ भोग्या स्त्रिया हुआ करती है उनको भी स्वकीया मानना चाहिए। अलकार-भाग मे प्राय कुवलयानन्द का ही प्रभाव है इसलिए मालोपमा आदि अलकारो की विवेचना नही है। कवि ने दूसरी पुस्तको मे भी सुन्दर उदाहरण दे दिये है––विशेषत 'नीतिमजरी'[3] तथा 'भूषण चन्द्रिका'[4] मे ॥

(१) **पतिव्रता साधारना स्वीया के भिद दोय ॥**
(२) **श्री मानन के भौन में भोग्य भामिनी और ।**
तिन हूं को सुकियाहि मे गनें सुकवि-सिरमौर ॥
(३) **अस्तुति कीने दुष्टजन, रीझे कबहुं न कोय ।**
माखन मसलें नरम नहि, लोह-सलाका होय ॥
(४) **राज विरोधी नशत है, यौं जग कौं दरसात ।**
चंद उदय मे तम-निकर छिन-छिन छीजत जात ॥

गंगाधर : महेश्वर-भूषण

(स० १९५२)

अवधान्तर्गत सीतापुर प्रदेश दामापुर बलदेवनगर' निवासी द्विज बलदेवप्रसाद ने प्रताप विनोद' नामक ग्रन्थ महाराज प्रतापरुद्रसिंह जू देव के नाम पर बनाया, जब प्रतापरुद्रसिंह के अनुज महेश्वरबक्स गद्दी पर बैठे तो उन्होंने उक्त कवि के पुत्र गगाधर उपनाम द्विजगग को वैसा ही ग्रन्थ लिखने की आज्ञा[1] दी। द्विजगग ने 'महेश्वरभूगण' की रचना स १९५२ में[2] की। इसमे ५ उल्लास ह, प्रत्येक उल्लास के अन्त मे "एतत् श्री रैकवार वशावतस श्री गुमानसिंहात्मज महाराजा महेश्वरबक्ससिंह जू देव वीरेन्द्र आज्ञानुसारेण अवस्थिवशोद्भव श्रीमत्पण्डित द्विजबलदेवप्रसादात्मज दामापुर बलदेवनगर निवासी पण्डित गगाधर उपनाम द्विजगगजी विरचिते महेश्वरभूषण ग्रन्थे " इत्यादि लिखा हुआ ह।

महेश्वरभूषण मे ११८ पृष्ठ तथा ५ उल्लास हैं। प्रथम उल्लास मे राजवश वर्णन तथा द्वितीय मे कविवश वर्णन है। अपने पूर्वजो की ख्याति मे कवि ने भारतेन्दु बाबू तथा महारानी विक्टोरिया दोनो के प्रमाण दिये हैं[3]। चतुर्थ उल्लास मे 'श्री राधिका जी को नखशिख वर्णन' है, और पचम मे दान-वर्णन के अनन्तर चित्रकाव्य के खड्गबद्ध, कामधेनु मध्याक्षरी आदि भेद दिये हुए हैं।

'अलकार निर्णय' महेश्वरभूषण क तृतीय उल्लास मे ह। परम्परा पर अलकार का लक्षण ह —

प्रथक पदारथ व्यंगि अरु, रस सो शब्दम आइ।
अर्थ प्रकासै त्यहि कहत, अलंकार कविराइ॥

लक्षण दोहे मे है और उदाहरण कवित्त या सवैये मे , उदाहरण एक मे अधिक भी

(१) **आयसु सीस धरो द्विजगंग महेन्द्र महेश्वरबक्स उदार को।**
हेरि अलंकृत ग्रन्थ यथामति मिश्रत निर्णय के कृत कार को॥

(२) **माघ सुदी द्वितीया, दृग पंच नौ चन्द्र सु संवत श्री गुरुवार को॥**

(३) **पढ़ि विद्या वाराणसी लियो प्रससापत्र।**
हरिश्चन्द्र आदिक सुकवि किय हस्ताक्षर तत्र॥
भयउ जबै इंग्लैण्ड में जुबली को दरबार।
चित्र काव्य वर विरचि कै पठयो तित सुखसार॥
महरानी भातेंश्वरी वर अनुसासन दीन्ह।
बड़े लार्ड साहब सुकवि सनदयाफ्ता कीन्ह॥
तिनकर सुत मैं नाम मम गंगाधर अस भाखि॥

है। स्थान-स्थान पर 'तिलक' भी दिया हुआ है जो सामयिक प्रभाव के कारण स्पष्टीकरण के निमित्त प्रयुक्त है --

तिलक--

प्रश्न --मिसिकरि कै तो पर्यायोक्ति मे भी है।

उत्तर--पर्यायोक्ति मे मिसि करि कै कार्य साध्यो है,

और कंतवापन्हुति में किसी मिसिकरि कै किसी को कहा जाय। काम स्वयं तरवार नहीं चलायी स्त्री के कटाक्ष के मिसि काम की तरवार वर्णी। (पृ० २७)

अलकार-भाग मे मुख्य प्रभाव चन्द्रालोक-कुवलयानन्द का है, मालोपमा, रसनोपमा तथा उपमेयोपमा का वर्णन नही किया गया परन्तु परिणाम तथा उल्लेख के बीच स्तवकोपमा अवश्य है। उपमा के भद आर्थी तथा श्रौती दिये हुए है परिकर नही है परन्तु परिकराकुर है, मुद्रा, अनद्गुण, अनुगुण, विशेष, पिहित, आदि अलकार भी नही लिखे गये। द्विजगग ने 'उत्तर' को 'गूढोत्तर' तथा 'चित्र' को 'प्रश्नोत्तर' नाम दिया है। अर्थालकारो के अनन्तर शब्द के लाटानुप्रास, जमक, वृत्यनुप्रास तथा वीप्सा अलकारो का वर्णन है। इस प्रकार अलकारो के क्रम, भेद या वर्णन को दृष्टि मे रखकर द्विजगग पर किसी एक ही आचार्य या ग्रन्थ का प्रभाव नही माना जा सकता।

'महेश्वरभूषण' मे कितने ही स्थलो पर सस्कृत के आचार्यो का नामपूर्वक स्मरण है --

विशेषोक्ति भूषण तहां, मम्मट को मत मानु ॥१५९॥
अधिक अलंकृत प्रथम तहं, कैयट को मत मानि ॥१६७॥
अलकार मम्मट मते जानौ तदगुन तौन ॥२४६॥
विवृत्तोक्ति भूषण तहा मम्मट के मत होइ ॥२६२॥

मम्मट तथा कैयट का नाम केवल विवादास्पद स्थलो पर ही दुहाई के रूप मे लिया गया है। ऐसा जान पडता है कि सामान्यत तो कवि जयदेव-अप्पयदीक्षित के अनुसार अलकार-वर्णन करता जाता है, जहा दो-एक स्थल पर मतभेद प्रटक किया है वहा मम्मट-कैयट की बात सुनकर ही।

'महेश्वरभूषण' के लक्षण स्पष्ट नही है, उदाहरणो मे भी मध्यकालीन सरसता न आ सकी, अलकार-विषय के लिए गद्य का माध्यम सर्वत्र चल गया था परन्तु यह कवि पुरानी परिपाटी पर ही जमा रहा। अत बहुत प्रयत्न करने पर भी उसकी कृति असफल रचना ही रही, इसमे पुरानी परिपाटी तथा नवीन उदय के बीच चमत्कृत कवि किसी भी उद्देश्य को प्राप्त नही कर सका।

'महेश्वरभूषण' स १९५३ मे सम्पूर्ण हुआ, पाण्डेय भगवानदीन[1] ने इसको लिखा था, और स १९५४ मे भारत-जीवन प्रेस से इसका प्रकाशन हुआ।

---

(१) वन्हि बाण निधि ससि संवत सुचारु सुचि
कीन्हौ है तयार जिमि सज्जन सुजानिये।
पांडे हौं प्रवीन, नाम मेरो भगवान दीन,
ताहिन लिख्यौ है प्रेम पूरो पहिचानिये॥

गद्ययुगीन अलंकार-साहित्य

कविराज मुरारिदान : जसवंत जसोभूषन

(स० १९५०)

महाराज जसवतसिह के आज्ञानुसार कविराजा मुरारिदान ने सवत्[1] १९५० मे "जसवत जसोभूषन" नामक ग्रन्थ लिखा, जो "प्रतापरुद्र यशोभूषण" तथा "शिवराज भषण" ग्रन्थो के वर्ग का है। इस ग्रन्थ का सस्कृत रूपान्तर भी हुआ और लघु सस्करण भी। हमारे सम्मुख इसका लघु[2] सस्करण "जसवत-भूषण-ग्रन्थ" है।

इस ग्रन्थ मे सात "आकृतिया" है, प्रथम मे सामान्य-परिचय, दूसरी मे काव्य-स्वरूप-निरूपण, तीसरी मे शब्दालकार, चौथी मे अर्थालकार, पाचवी मे रसवदादि अलकार-निरूपण, छठी मे अन्तर्भाव और सातवी मे उपसहार है। इस प्रकार विषय की दृष्टि से भी यह सिद्ध है कि यह ग्रन्थ मुख्यत अलकार[3] का ग्रन्थ है और अलकारो के उदाहरण-स्वरूप आश्रयदाता की यशोगाथा यहाँ सन्निविष्ट हो गई है। प्रथम आकृति मे ग्रन्थ-निर्माण का कारण कविराजा ने स्वय इन शब्दो मे बतलाया है --

भाषा भूषन ग्रंथ को, इक दिन चल्यौ प्रसग।
मोसों नृप पूछ्यो कहो, याको कैसौ ढंग॥
भाषा मे मत भरत के, है प्रथमहि यह ग्रंथ।
× × ×
पै साक्षात् न होत है, अलंकार कौ ज्ञान।
इस उत्तर पर हँसि कह्यौ, रचौ ग्रंथ कोउ आन॥
× × ×
वन्यौ पंचदश वर्ष मे, निर्मल ग्रथ नवीन।

लक्षण नाम प्रकाश

प्रस्तावना मे लेखक ने बतलाया है कि "राजराजेश्वर की आज्ञानुसार मैंने नवीन ग्रन्थ निर्माण करने का आरम्भ कर के विचार किया कि संस्कृत और भाषा में अलकारो के ग्रंथ अनेक है, पिष्टपेषण तो व्यर्थ है, कोई नवीन युक्ति निकालनी चाहिये कि जिससे विद्वानों को इस ग्रंथ के अवलोकन की रुचि होवे, और विद्यार्थियों को इस ग्रंथ के पढ़ने से विलक्षण लाभ होवे, तब राजराजेश्वर के पुण्य प्रभाव से चन्द्रालोक ग्रन्थ की "स्यात्स्मृतिर्भ्रांतिसंदेहैस्तदंकालंकृतित्रयम्" इस कारिका की स्मृति होकर यह स्फुरणा हुई

---

(१) उन्नीस सौ पचास, भलौ संवत् विक्रम भन॥ (समाप्ताकृति)

(२) जसवंत जसभूषन बड़ो, है मम निर्मित ग्रंथ।
संग्रह कीनो शिशुनहित, पेखन भूषन पंथ॥ (प्रथमाकृति)

(३) उपमादि अलंकारन दिखाय।
जसवंत जसहि बरन्यौ बनाय॥

कि दूसरे कवियों ने तो अलंकारों के नामों को लक्षण नहीं समझा है, इसलिये सबों ने नामों से अतिरिक्त लक्षण बनाये हैं। एक जयदेव कवि ने स्मृति, भ्रांति और सन्देह इन तीन अलंकारों के नामों को लक्षण समझा है.....समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण सिद्ध हो गए (पृ० ३)।"

इस प्रस्तावना मे कविराजा ने ग्रन्थ रचना के दो कारण बतलाये है जिनमे से एक तो सनातन है--"विलक्षणलाभ", परन्तु दूसरा इस आचार्य की मुख्य विशेषता है। प्रथम आकृति मे वे लिखते है --

प्रथम नाम रखने वालो ने दूसरा कोई लक्षण नहीं बनाया है, क्योंकि नाम ही से अलंकारों का स्वरूप स्पष्ट हो जाने से उनका दूसरा लक्षण कहने की आवश्यकता नहीं[1]। दूसरों ने लक्षण बनाये हैं सो कितनेक लक्षण तो साक्षात् स्वरूप के बोधक नहीं, और कितनेक अव्याप्तादि दोषग्रस्त हैं। उनका खण्डन उन उन अलंकारों के प्रकरण में 'जसवंत जसोभूषण' ग्रन्थ में किया गया है। (पृ० ३६-३७)

यह तो निर्विवाद है कि पहले अलकारो के नाम पड गये, पश्चात् उनके लक्षण निर्मित हुए और नाम रखते समय भी अलकार-विशेष के स्वरूप पर प्रथम आचार्य की दृष्टि अवश्य थी, परन्तु नाम लक्षण के ठीक-ठीक बोधक नही हो सकते क्योकि जिस समय नामकरण होता है उस समय गुणो की यथार्थ परख नही हो पाती। अत प्राचीन शास्त्र के आधार पर नाम मे ही लक्षण की खोज वैज्ञानिक नही मानी जा सकती। यदि सभी नामो मे लक्षण दिखाई पडते होते तो चन्द्रालोककार केवल स्मृति, भ्रान्ति तथा सन्देह के विषय मे ही वैसा सकेत क्यो करते?

कविराजा ने दूसरे ग्रन्थो को पढकर अलकारो क नामो मे लक्षण देख या अपनी सूझ से ही--यह कहना कठिन है। परन्तु यह निश्चय है कि जयदेव कवि के अतिरिक्त आचार्यो--हिन्दी आचार्यो--ने भी इस विलक्षणता पर ध्यान दिया था। यह प्रवृत्ति प्राय तो उन्ही तीन अलकारो के विषय मे थी --

(क) सुमिरन, भ्रम, संदेह को लच्छन प्रगटै नाम। (काव्य निर्णय)
(ख) लच्छन नाम प्रकास है, सुमिरन, भ्रम, संदेह॥(,, ,,)
(ग) सुमिरन सुमृति, सुभ्रान्ति भ्रम, बिन निश्चय संदेह।
निश्चय बिन संदेह, ये जानि नाम ते लेह॥ (काव्य रसायन)

देवकवि मे इस ओर कुछ अधिक झुकाव दिखाई पडता है --

(क) दृष्टान्तालंकार सो लक्षन नाम प्रमान। (काव्य रसायन)
(ख) जहां अर्थ संभव नहीं, ताहि असंभव भाखि॥ (,,)

परन्तु इन सभी आचार्यो ने नाम को सकेत भर माना है, लक्षण नही। वस्तुत नाम स्वरूप का ठीक-ठीक बोध नही करा सकते। सभव है साहित्य-शास्त्र के शैशव मे अल-

---

(१) नाम धरे धुर पंडितन, सुध स्वरूप अनुसार।
× × ×
अलंकार कौ होत है, इन सों स्पष्ट स्वरूप॥२॥

कारो के नाम कुछ सोच कर रखे गये हो। परन्तु ज्यो-ज्यो नये-नये अलकार जन्मते गये त्यो-त्यो पुराने नाम अतिव्याप्त दिखाई पडने लगे--'उपमा' अलकार का क्षेत्र सादृश्य-मात्र मे किस प्रकार सकीर्ण होता चला गया है यह कभी फिर कहने की कहानी है। साहित्य-शास्त्र मे एक ही शब्द "रूपक" आज अलग-अलग क्षेत्रो मे भिन्न-भिन्न अर्थो का बोधक है। "स्मरण" भाव भी होता है तथा अलकार भी। "अप्रस्तुत प्रशसा" मे "प्रशसा" का विशिष्ट अर्थ न समझने वाले मतिराम आदि आचार्य कितनी बडी भूल कर बैठे है, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। अस्तु, अलकारो के नामो मे उनके लक्षण नही मिल सकते और यावत् शास्त्रीय लक्षण विदित न होगा तावत् अलकारो का वास्तविक स्वरूप, पारस्परिक अन्तर, तथा वर्गीकरण समझा नही जा सकता।

कविराजा जी का यह सिद्धान्त भ्रामक था। वे नामो के टुकडे करके उनमे लक्षणो की आभा खोजने का हठात् प्रयत्न करते है। अनुप्राम अलकार का स्वरूप बतलाते हुए कविराजा जी ने लिखा है --

अनु =वीप्सा ; अनेक बार
प्र =प्रकृष्ट ; उत्तम
आस=न्यास ; धरना
बारंबार उत्तम धरना

"अर्थ के बारंबार धरने में पुनरुक्ति दूषण होता है, उसमे विपरीत भाव अर्थात् भूषण का बोध कराने के लिए--इस नाम मे 'प्र' उपसर्ग लगाया है। यहां काव्य के अलंकारों का प्रकरण है और काव्य मे शब्द-अर्थ ये दो ही वस्तु होती है, सो अर्थ का बारंबार धरना तो दूषण है उत्तम नहीं इससे और शब्दालंकार के प्रकरण से, यहां शब्द बारंबार धरना अर्थसिद्ध है।"

इस व्याख्या मे अनावश्यक खीचतान की गई है। अर्थ की आवृत्ति मे दूषण क्या है? क्या किसी और आचार्य ने भी ऐसा माना है ? क्या वीप्सा तथा पुनरुक्तप्रकाश मे आवृत्ति नही होती ? **"शब्द का बारम्बार धरना"** ही यदि अनुप्रास का लक्षण माना जाएगा तो क्या इसमे अतिव्याप्ति दोष न होगा ? यह स्पष्ट नही कि यह आवृत्ति सव्यवधान हो सकती है या नही, क्या इसका एक ही चरण मे होना आवश्यक है, और यह आवृत्ति एक बार होगी या अनेक बार ?

ऐसा लगता है कि कविराजा जी सातवी कक्षा के विद्यार्थियो को अलकार विषय का काम-चलाऊ ज्ञान करा रहे है--किस प्रकार नाम सुनते ही सारी विशेषताएं याद आ सकती है। केवल 'अनुप्रास' के प्रसग मे ही नही, 'उपमा' तथा 'परिसख्या' आदि मुख्य अलकारो के स्वरूप मे भी यही विशेषता है[1]।

---

(१) उपमा--उप=समीपता ; माङ्=माने।

"एक वस्तु को दूसरी वस्तु के समीप करने से तीन प्रकार का निर्णय होता है; न्यूनता का, अधिकता का, और समानता का। सो वर्णनीय की न्यूनता तो मनोरंजनता-विहीन होने से इस शास्त्र में अग्राह्य है। अधिकता व्यतिरेक अलंकार का विषय है।

कविराजा की इस विलक्षणता का सब आचार्यो ने खडन किया है, वस्तुत विलक्षणता कोई गुण नही––वैज्ञानिक अध्ययन के निष्कर्ष ही प्रतिभा के द्योतक माने जाते है। अस्तु, कविराजा जी की गर्वोक्ति[1] नितान्त थोथी है।

अलंकार-क्रम

इस ग्रथ की दूसरी मौलिकता या विलक्षणता यह है कि अर्थालकारो में **"उपमा अति प्रसिद्ध है, इसलिए उपमा को प्रथम कहकर फिर वर्णमाला क्रम से दूसरे अलंकार"** कहे गये है। अकारादि-क्रम मे अलकारो का विवेचन बडा हास्यास्पद है––क्योकि इस व्यवस्था के अनुसार प्रथम आने वाले सभी अलकार नगण्य ही है। पुराने आचार्यो अलकारो का क्रम महत्त्व के अनुसार निश्चित करते थे, भामह ने स्वभावोक्ति की अवहेलना की अत. उसकी चर्चा एक वर्ग के अन्त मे कर दी, दण्डी स्वभावोक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते थे इसलिए इसको योजना मे प्रथम स्थान दिया, उपमा को आदिस्थान अधिकतर आचार्य इसीलिए देते है कि उपमा अनेक अलकारो की मातामही है। किस अलकार को कहा स्थान मिलना चाहिए इसकी एक कसौटी थी कि प्रतिवेशी सजातीय हो, अत एक वर्ग के अलकार सामान्यत एक साथ रहते है। अलकारो के क्रम का तीसरा सूत्र है जन्मकाल को प्रथमता, जो आयु मे बडा है वह सामान्यत पहिले स्थान पा लेगा। कविराजा जी इन सब बातो को भुलाकर अग्रेजी शब्दकोषो के समान अकारादिक्रम को प्रथमता की कसौटी बना बैठे।

आचार्य को अपनी योजना शिथिल मालूम पडी, अत प्रथमता का अधिकारी न होने पर भी उपमा को आदि स्थान मिल गया। इस पुस्तक मे इस अनुचित पक्षपात का कोई कारण नही दिया गया। वस्तुत नाम पर आधारित होने वाला यह अकारादि-क्रम से विवेचन नाम मे लक्षणो की खोज से भी अधिक सारहीन तथा अवैज्ञानिक है।

अलकार-विषय

कविराजा अलकार-वादी थे, इसका मुख्य प्रमाण तो यही है कि उनके ग्रन्थ मे केवल

सम निर्णय में उपमा अलंकार की रूढ़ि है।"

यदि लेखक के इस तर्क को मान भी लिया जाय तो इस वर्णन मे सभी सादृश्यमूलक अलकारो को स्थान मिल जावेगा, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सभी मे भी तो "समनिर्णय" होता है।

परिसख्या

"संख्या गणना को कहते है। गणना का यह स्वभाव प्रसिद्ध है कि जिस विषय में जिसकी गणना की जाती है, उनमें उस विषय का नियम हो जाता है। जैसे युधिष्ठिर आदि पांच पांडव है, यहां युधिष्ठिर आदि को पांडुपुत्रता के विषय में ५ करके गिनने से पांडु-पुत्रता का युधिष्ठिर आदि में नियम हो जाता है, तब अन्यत्र वर्णन अर्थसिद्ध है कि छठे मे पांडुपुत्रता नहीं, 'परि' उपसर्ग का यही अर्थ वर्णन है।"

(१) भोज समय निकसी नहीं, भरतादिक की भूल।
सो निकसी जसवंत समय, भये भाग्य अनुकूल॥ (प्रथमाकृति)

अलकार-विषय को ही स्थान मिला है, साथ ही अग्निपुराण के **'अलंकाररहिता विधवेव सरस्वती'** का अनुवाद[1] करके भी उन्होने काव्य मे अलकार के महत्व का प्रतिपादन किया है।

इस ग्रन्थ मे ८१ अलकार है—१ शब्दालकार तथा ८० अर्थालकार[2]। 'भाषा-भूषण' का अनुकरण करने वाले के लिए यह तो स्वाभाविक है कि वह शब्दालकारो मे केवल अनुप्रास को ही माने शेष को या तो अस्वीकार करे या उनका अन्तर्भाव अनुप्रास मे ही कर दे, रीतिकाल के सभी कवियो ने ऐसा किया है, परन्तु आधुनिक लेखनी से ऐसी प्रवृत्ति खटकती है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि कविराजा जी ने, जानकर या अनजाने मे ही, 'अनुप्रास' का अर्थ व्यापक समझा है, लाटानुप्रास तथा यमक इसी के रूप बने रहे है, वक्रोक्ति केवल अर्थालकार है। यमक का अन्तर्भाव उदाहरण से सिद्ध है —

(क) हार रहे गिरि तेरे हारवाले कुच सों।

(ख) है समर समरस सुभट मरुपति, वाहिनी विख्यात।

परन्तु चित्र मे शब्दालकारत्व का उन्होने स्पष्ट निषेध किया है, **'प्राचीन कमलाकार, धनुषाकार इत्यादि रूप से काव्य लिखे जावें उनको चित्रकाव्य कहकर, शब्दालंकार के प्रभेद मानते है, सो भूल है; क्योंकि शब्द में रहकर काव्य को शोभा करे वह शब्दालंकार है'** (पृ० ७९)। वक्रोक्ति का अन्तर्भाव अर्थालकार के बीच विवेचन मे स्पष्ट है।

अर्थालकार

कविराजा ने ८० अर्थ के चमत्कार माने है। इनमे सर्वप्रथम विवेचन 'उपमा' का है, कारण ऊपर दिया जा चुका है। उपमा के १० भेद है[3] शुद्धोपमा, विपरीतोपमा, परस्परोपमा, परपरितोपमा, निजोपमा, समुच्चययोपमा, बहूपमा, मालोपमा, रसनोपमा, कल्पितोपमा। लुप्तोपमा तथा पूर्णोपमा का भी लेख है। कुछ भेद नये लगते है, परन्तु है पुराने ही, नाम बदले हुए। विपरीतोपमा प्रतीप है, परस्परोपमा उपमेयोपमा, और निजोपमा अनन्वय है। परपरितोपमा परपरित रूपक का अनुकरण है। **'एक ही उपमान के अनेक**

---

(१) **वेदव्यास भगवान् ने, परतछ कहयौ पुकार।**
कवि-वानी भूषन बिना, जैसी विधवा नार॥ (द्वितीय आकृति)

(२) **परन्तु धोरियों की अनिर्वचनीय महिमा है कि उन्होंने बुद्धिबल से चुनकर ऐसे इक्यासी ८१ चमत्कारों का संग्रह किया है कि उनके सर्वव्यापी नामार्थों में अनन्त काव्यों के अनन्त चमत्कारों का समावेश हो जाता है। नामार्थों से ही अलंकारों का साक्षात् स्वरूप सुगमता से समझा जाता है।....विलक्षण स्वरूपवाला शब्दालंकार एक १ और अर्थालंकार अस्सी ८० है। (पृ. ३४५)**

(३) **सुध, विपरीत, परस्पर जानहु।**
परंपरित, निज, समुचय मानहु।
बहु, माला, रसना, कल्पित पुन।
दस प्रकार उपमा भपति सुन॥

धर्मों से किसी एक उपमेय को उपमा दी जावे वह समुच्चयोपमा' (पृष्ठ २२) 'और एक ही धर्म के विषय में बहुत उपमानों की उपमा होवे वह बहूपमा', इनमे कोई सौन्दर्य नही दिखलाई पडता ।

नवीन-अलकार

८० अर्थालकारो मे कम से कम १३ अलकार बिलकुल नये है--अतुल्ययोगिता, अनवसर, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक, अभेद, अवसर, आभास, नियम, प्रतिभा, मिष, विकास, सकोच, सस्कार । इन नवीनो मे सर्वप्रथम ध्यान उन पर जाता है जो पूर्व-स्वीकृत अलकारो के विपरीत है--अतुल्ययोगिता, अपूर्वरूप, अप्रत्यनीक । इस विपरीत सृष्टि मे कोई चमत्कार नही रह जाता, इसलिए अलकारत्व को मानना भी सगत नही । उदाहरण के लिए अतुल्ययोगिता को ही देखिए । 'तुल्ययोगिता' मे प्रस्तुतो **या** अप्रस्तुतो के **एक ही** साधारण धर्म का एक बार कथन होता है । 'अतुल्ययोगिता' मे इसका उलटा होगा । यदि प्रस्तुतो **और** अप्रस्तुतो के **एक ही** सामान्य धर्म का कथन हो तो अलकार 'दीपक' होगा न कि 'अतुल्ययोगिता' । अत दीपक मे बचने के लिए अतुल्ययोगिता का लक्षण हुआ प्रस्तुतो **या** अप्रस्तुतो के (एक ही नही) अलग-अलग धर्मो का कथन --

मेघमाल जल्प अल्प दे, विरल जु फल तरु-पंत ।
कलि-प्रभाव कम दान मे, भयौ न नृप-जसवंत ।।

यहा प्रस्तुत है 'नृप-जसवत', और अप्रस्तुत है 'मेघमाल' तथा 'तरु-पत', दोनो अप्रस्तुतो के अलग-अलग धर्मो का कथन है, 'मेघ-माल' का धर्म है 'जल अल्प', और 'तरु-पत' का धर्म है 'विरल फल' । दो अप्रस्तुतो के अलग-अलग धर्म होने से सौदर्य मे कोई वृद्धि नही होती, यहा चमत्कार तो व्यतिरेक का है--प्रस्तुत अपने गुणो मे अप्रस्तुतो से बढ गया है ।

नवीन अलकारो मे कुछ ऐसे है जो परस्पर मे विपरीत है--अवसर तथा अनवसर, सकोच तथा विकास । जब 'अवसर' तथा 'सकोच' मे ही कोई सौदर्य नही तो उनके विपरीत किस प्रकार अलकार बन जायेगे । 'अनवसर' का विवेचन पहिले है (अलकारादि क्रम के कारण), 'अवसर' का पीछे, 'अवसर' नाम का अलकार पहिले भी था, रुद्रट ने वास्तवगर्भ के २३ विशेषो के बीच इसका विवेचन किया है । कविराजा जी लिखते है --

"जौं लौ परदेसी मनभावन विचार कीन्हौ,
तौ लौ तूती प्रकट पुकारी है तुही-तुही ।

यहा तू ही नायिका का प्राणघाती होगा ऐसा तूती (पक्षी) का बोलना अवसर पर हुआ इसलिए अवसर अलकार है" (१२१) । रुद्रट ने अवसर अलकार वहा माना है जहा न्यून अर्थ को उत्कृष्ट या सरस बनाया जाय[1], और उदाहरणो मे वर्ण्य वस्तु[2] के

---

(१) **अर्थान्तरमुत्कृष्टं सरसं यदि वोपलक्षणं क्रियते ।**
अर्थस्य तदभिधानप्रसंगतो यत्र सोऽवसर : । ७।१०३।
(रुद्रट : काव्यालंकार)

(२) **तदिदम् अरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।**
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ।।७।१०४।। (वही)

ऐतिहासिक महत्व द्वारा उसके प्रति भावना का अतिरेक है। कविराजा का 'अवसर' अपने नाम के अनुसार ही गुणवान् है, इसलिए उसमे कोई सौदर्य नही है। इसी प्रकार 'विकास' की सौदर्यहीनता को समझना चाहिए, कविराजा की व्याख्या है **'विकास शब्द का अर्थ है पसरना'** और इसीलिए उनके उदाहरण मे 'पसरने'[1] का ही वर्णन है। 'अनवसर' तथा 'संकोच' तो इनके विपरीत है ही।

इन नवीन अलकारो मे से 'अभेद' तो 'अभेद रूपक' ही है, 'नियम', तथा 'परिसख्या' मे कोई अन्तर नही, 'प्रतिमा' तथा 'सस्कार' मे कोई अलकारत्व नही दिखाई पडता। 'प्रतिमा' की व्याख्या मे कविराजा जी लिखते है--**"प्रतिनिधि का पर्याय प्रतिमा है।.....मुख्य के अभाव में मुख्य के सदृश जो ग्रहण किया जाता है उसको प्रतिनिधि कहते है।.....जैसे देवताओं के अभाव में देवताओं की मूर्त्ति रखी जाती है, उसको प्रतिमा कहते है। इस लोक व्यवहार छाया से धोरी ने इस अलंकार का अंगीकरण किया है"** (१७२), और उदाहरण दिया है--

हौ जीवत हौ जगत मे, अलि याही आधार।
प्रानप्रिया उनिहार यह, ननदी वदन निहार॥ (१७३)

'यहां विदेशस्थ पति के अभाव में पति के सदृशाकार होने से ननदी को नायिका ने पति के स्थानापन्न किया है।' सस्कार अलकार मे **'नायक अपने स्नेहवाली परकीया नायिका के घर जाने के अति अभ्यास जनित वासना वश से चाहकर न जाने पर भी उसके घर चला जाता है।'**

दूसरे शास्त्रो के पारिभाषिक शब्दो से अलकार गढने मे कोई विशेष सौदर्य नही उत्पन्न होता।

अलकारों का अन्तर्भाव

इस ग्रन्थ की छठवी आकृति 'अन्तर्भावाकृति' है। जिस प्रकार कविराजा नवीन अलकारो को जन्म देने के शौकीन है उसी प्रकार पुरानो का अन्तर्भाव भी आपका प्रिय विषय है। १८ अलकारो का अन्यत्र अन्तर्भाव है--अत्युक्ति, अनन्वय, अनुगुण, अर्थान्तरन्यास, असगति, आशी, उन्मीलित, उपमेयोपमा, परिकराकुर, पुनरुक्तिवदाभास, प्रतीप, प्रस्तुताकुर, प्रौढोक्ति, ललित, व्याजनिन्दा, व्याजोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति। अनन्वय, उपमेयोपमा को तो उपमा के अन्तर्गत रख दीजिए, और अनुगुण, उन्मीलित, परिकाकुर तथा प्रस्तुताकुर भी कुछ आचार्यों ने नही माने। परन्तु अर्थान्तरन्यास, असगति, प्रतीप, विभावना तथा विशेषोक्ति इतने जम चुके है कि इनका उन्मूलन निर्विरोध स्वीकार नही किया जा सकता। अर्थान्तरन्यास न दृष्टान्त है न काव्यलिग, और असगति विरोध-मात्र नही है। विभावना तथा विशेषोक्ति के विषय मे कविराजा का मत है कि **'सो (विभावना) तौ विचित्र अलंकार में अन्तर्भूत है', 'हमारे मत में यहां** (विशेषोक्ति मे) **भी कार्य-कारण सम्बन्धी चित्रता में पर्यवसान होने से यह भी चित्रहेतु का प्रकार होकर विचित्र में अन्तर्भूत**

---

(१) सर सरिता गिरि सिंधु सौं, रुकत नहीं दिन रात।
जस भूपत जसवंत कौ, जग में पसरत जात॥

है' (३१०)। यदि 'चित्रता' के आधार पर ही विभावना तथा विशेषोक्ति 'विचित्र' के अन्तर्गत आ जाते है तो सभी अलकार 'विचित्र' के ही दूसरे रूप है, क्योकि अन्ततोगत्वा 'चित्रता' या चमत्कार तो सर्वत्र रहता ही है। इसी प्रकार यदि 'प्रतीप' का अन्तर्भाव दूसरे सादृश्यमूलक अलकारो मे कर ले, तो फिर कौनसा अलकार बच जाएगा--सभी उपमा के ही 'प्रपच' तो है।

रसवदादि

कविराजा ने रसवदादि अलकारो के निरूपण मे पूरी पचम आकृति लगा दी है, ये अलकार ४ रसवदादि तथा ३ भावोदयादि है, अलकार को प्रधानता देने वाले के लिए इन अलकारो को इतना महत्त्व देना स्वाभाविक भी है। प्रमाण के अलकार केवल ४ है और उनपर विचार किया गया है अन्तर्भावाकृति मे। इसी प्रकार समृष्टि तथा सकर है। इस ग्रन्थ के ८० अलकार तो 'हेतु' पर समाप्त हो जाते है, रसवदादि, भावोदयादि, प्रमाण तथा समृष्टि-सकर इनमे बाहर है, लेखक इनको अलकारो के उस विवेच्य वर्ग मे स्थान नही दे रहा, प्रत्युत इन पर अलग विचार कर रहा है।

आचार्यत्व

कविराजा बहुश्रुत थे और उनमे आचार्यजनोचित आत्म-विश्वास भी था, स्थान-स्थान पर दूसरे शास्त्रो का सकेत उनकी प्रज्ञा का प्रमाण है। 'परिणाम' मे साख्यशास्त्र,[1] 'सस्कार'[2] मे चिन्तामणि-कोष आदि के सकेत सहायक ही होते है। अप्रस्तुतप्रशसा तथा विषाद के प्रसग मे उनके विचार मूल्यवान् है --

(क) प्राचीनों ने अप्रस्तुत से प्रस्तुत की गम्यता में अप्रस्तुत-प्रशंसा अलंकार का स्वरूप समझा है, सो भूल है। वह तौ व्यंग्य का विषय है, अलंकार नहीं। और प्राचीनों ने कार्यनिबन्धना, कारण-निबन्धना नामक अप्रस्तुत-प्रशंसा के प्रकार कहे सो भूल है, उक्त स्थानों में अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं। (११४)

(ख) वांछित से अधिकार्थ की सिद्धि इत्यादि में प्रहर्षण अलंकार होता है, वैसे ही वांछित से विरुद्धार्थ की प्राप्ति इत्यादि में विषाद अलंकार होता है। ऐसा मत कहो, कि दुःख शोभाकर होकर अलंकार कैसे होता है? क्योंकि जिसको विषाद होता है उसके लिये तौ वह शोभादायक आनन्ददायक नहीं; परन्तु उसका वर्णन काव्य को शोभादायक होकर श्रोता को आनन्ददायक होता है। जैसे कि वीभत्सादि रस-स्थल में जुगुप्सादि का वर्णन श्रोताओं को आनन्ददायक होता है। (२१८)

उपर्युक्त कथन ठीक है या नही, इस पर विचार करना हमारा अभीष्ट नही, परन्तु इन कथनो से कविराजा की प्रतिभा का कुछ आभास मिल सकता है। अलकार-विवेचन

---

(१) परिणामः प्रकृतेरन्यथाभावे ; अवस्थान्तर को सांख्यशास्त्र में परिणाम माना गया है। उसकी छाया में धोरी ने परिणाम अलंकार का अंगीकार किया है।

(२) कहा है चिन्तामणि कोषकार ने 'संस्कारः वासनायाम्' जैसा कि कस्तूरी आदि पदार्थ निकाल लेने पर भी उस पात्र में उसकी वासना रह जाती है। इस न्याय से धोरी ने संस्कार अलंकार माना है।

करते हुए आपने क्वचित् अलकारो का पारस्परिक सूक्ष्म भेद भी बतलाया है, ऐसे स्थल भी गहरी पैठ के सूचक है, कुछ स्थल देखिए —

(क) नाटक में कायिक रूपक होता है, काव्य में वाचिक रूपक होता है। प्रतिमा अलकार में तो मुख्य के बदले मे दूसरी वस्तु का स्थापन करना है। वहां स्वांग की विवक्षा नहीं; क्योकि चतुर्भुजादि स्वरूपवाले विष्णु के स्थान में गोलमटोल शालिग्राम भी स्थापन किया जाता है। (१९३)

(ख) आक्षेप में तौ निषेध मात्र में पर्यवसान है और यहां (विनोक्ति मे) किसी के निषेध-वाली वस्तु में पर्यवसान है; इसलिए निषेधरूप आक्षेप से इसका भेद है। (२१३)

वस्तुतः काटछाट कविराजा जी के स्वभाव मे थी। किसी वस्तु को ज्यो-का-त्यो इन्होने नही अपनाया, ये विलक्षणता-प्रेमी है। नवीन का निर्माण तथा प्राचीनो का अन्तर्भाव करने के साथ-साथ इन्होने कुछ अलकारो का क्षेत्र भी घटाया-बढाया है, ('प्रत्यनीक' का विवेचन देखिए)। सस्कृत के अच्छे छन्दो के कुछ छायानुवाद उदाहरण बन कर आये है। बिहारी, मतिराम का ऋण है ही, जसवतसिह को सर्वत्र आधार मानकर ही विलक्षणता का सम्पादन किया गया है, उपमा मे केशव का भी ऋण है। रसगगाधरकार का प्रभाव प्रचण्डता मे है। नवीन अलकारो के उदाहरण तो प्राय मतिराम से ही आये है। कविराजा पडित होते हुए भी अलकार-विषय के श्रद्धालु विद्वान् नही है, इनके निष्कर्ष शीघ्रता का फल प्रतीत होते है।

कविराजा की शैली निर्दोष नही। अलकारो के लक्षण तथा उदाहरण पद्य मे दिये है, फिर उनकी गद्य मे व्याख्या की गई है। जो बात पद्य मे लिख दी उसी को फिर गद्य मे लिखना उस समय शायद गुण समझा जाता रहा हो, परन्तु आजकल की व्यस्त दृष्टि मे एक दोष है। कविराजा ने लगभग प्रत्येक अलकार के लक्षण पर अनावश्यक समय लगाया है, फिर दूसरो की आलोचना के अवसर हाथ से जाने नही दिये। हा, लक्षणो मे उदाहरणो को घटाने का सकेत छात्रो के लिए लाभदायक है। कविराजा पडित थे परन्तु अलकार-विषय के आचार्य नही—विषय को स्वय पचाकर दूसरो के लिए सुगम ये न बना सकते थे। इनका विवेचन गद्य का माध्यम स्वीकार करके भी उलझ गया है। मौलिकता के प्रयत्न मे ये पाठक को प्राय पथभ्रष्ट कर देते है। इनकी योग्यता का ठीक-ठीक अनुमान कठिन है, परन्तु इनका आत्मविश्वास सदेहरहित है। 'जसवत जसोभूषन' मे न तो यशोगाथा ही ('शिवराज भषण' के समान) सफल हो पाई है, और न भूषण-दर्शन ही स्पष्ट है · लेखक की विद्वत्ता अवश्य ही पद-पद पर उद्घोष करती हुई दृष्टिगत होती है।

जगन्नाथ प्रसाद भानु : काव्य-प्रभाकर

(स० १९६६)

स० १९६६ मे बा जगन्नाथ प्रसाद (भानु कवि), असिस्टेण्ट सेटलमेंट आफिसर मध्य प्रदेश, ने साहित्य-शास्त्र पर 'काव्य-प्रभाकर' नाम का ग्रन्थ लिखा, जो १२ मयूखो के ७८६ पृष्ठो मे साहित्य के सभी अगो पर प्रकाश डालता है। प्रथम मयूख मे छन्दवर्णन, द्वितीय मे ध्वनि, तृतीय मे नायिकाभेद, चतुर्थ मे उद्दीपन, पचम मे अनुभाव, षष्ठ मे सचारी, सप्तम मे स्थायीभाव, अष्टम मे रस, नवम मे अलकार, दशम मे दोष, एकादश म काव्यनिर्णय, तथा द्वादश मे कोष-लोकोक्ति-सग्रह का विस्तृत विवेचन है। ३ पृष्ठ की अग्रेजी की प्रस्तावना[1] मे लेखक ने दीर्घाकार ग्रन्थ की रचना के दो मुख्य कारण बताये है --

(क) दूसरी प्राप्य पुस्तके प्रायः शिथिल तथा अव्यवस्थित है ;

(ख) इन पुस्तकों मे काव्य के सभी अगो पर विचार नही किया गया।

विशेषताए

इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषताये निम्नलिखित है --

(क) काव्य के सभी अगो पर व्यवस्थित विचार। छन्द को आचार्य प्राय छोड देते है, भानुकवि ने उसको प्रथम ही मयूख दिया है।

(ख) दीर्घ कार--अधिक मे अधिक उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट करना।

(ग) अग्रेजी पढे-लिखे (प्राय विदेशी) पाठको का ध्यान। भानुकवि ने प्रस्तावना मे यह स्वीकार किया है, प्रस्तावना अग्रेजी मे लिखी है, और ग्रथारभ मे २८ पारिभाषिक शब्दो के अग्रेजी पर्याय दे दिये है। इन मे से ७ पर ध्यान देना आवश्यक है --

अनुकरणवाचक शब्द	**ओनोमैटोपीया**
अजहत् लक्षणा	**मैटोनमी**
उपलक्षण	**सिनेकडोकी**
चेतनधर्मोत्प्रेक्षा	**परसोनिफिकेशन**
निदर्शना	**ट्रांसफर्ड एपीथैट**
सार	**क्लाइमैक्स**
भाविक	**प्रोसोपोपीया**

(१) माई ओन्ली जस्टिफिकेशन फौर सच ए वेंचर इज दैट दो मैनी बुक्स औन रिटोरिक एग्जिस्ट इन हिन्दी, यट दिअर ट्रीटमेंट आफ दि सब्जैक्ट इज मोस्टली लूज एण्ड इंट्रीकेट एण्ड फरदर दैट नन आफ दैम डील्स कम्प्रीहेन्सिवली विद ऑल दि वेरियस ब्रांचेज आफ दि सब्जैक्ट।

काव्यसिद्धान्त

'अनुभूमिका' आदि मे भानुकवि ने कुछ काव्य-सिद्धातो को स्वीकार किया है। वे सिद्धात ये है :--

(क) जो काव्य की शोभा को बढ़ावे वही अलंकार है। (पृ. ४७२)

(ख) अलंकार काव्य का हृदय स्वरूप है, क्योंकि उसका आभास हृदय में ही होता है[1]। (पृ. १५)

(ग) जहां चमत्कार नहीं, वहां कोई अलंकार नही। (पृ. १५, पृ. ४७२)

(घ) अलंकारहीन काव्य नग्न कहलाता है। (पृ. १५, पृ. ४७२)

(ड) अलंकार के ३ भेद है--शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार। (पृ.४७२)

(च) मेरे मत में अलंकार १०८ है--शब्दालंकार ८, और अर्थालंकार १००। (पृ. ४७२)

इन सिद्धातो मे कोई मौलिकता नही, प्रत्युत समन्वय का प्रयत्न है। भानुजी अलकार को शोभाकारक नही मानते, प्रत्युत सौदर्यवर्द्धक स्वीकार करते है, साथ ही केशव से सहमति प्रकट करते हुए अलकारहीन काव्य को नग्न भी कह देते है। भानु कवि को हम अलकारवादी नही कह सकते, परन्तु वे अलकार के महत्त्व की अवहेलना न कर सके, वे मम्मट-विश्वनाथ से ही अधिक सहमत जान पडते है। अलकार को काव्य का हृदय बताना केवल चमत्कारोक्ति भर है, युक्तियुक्त नही, काव्यमात्र का आभास हृदय मे ही होता है तो केवल अलकार को ही हृदय कैसे कहा जा सकता है। छन्द का वर्णन प्रथम मयूख मे करके भानुजी पिछली क्षति-पूर्त्ति कर रहे है या छन्द को काव्य का सर्वमुख्य अग मानते है--यह एकपद कहना सभव नही।

अलकार-विषय

काव्य-प्रभाकर के नवम मयूख मे अलकार विषय १६५ पृष्ठो मे फैला हुआ है। विस्तार का कारण लक्षणो या उदाहरणो की व्याख्या या आलोचना नही, प्रत्युत उदाहरणो की भरमार है। अष्टम मयूख के भीतर शान्त रस के प्रकरण मे उदाहरणो के लिये ४६ सवैये और छप्पय जुटाये गये थे, इस प्रकरण मे भी यही प्रवृत्ति है। इसी प्रकरण मे 'अलकारो' के दूषण तथा '३६ प्रकार के न्यायो का वर्णन' भी सन्निविष्ट है। प्रत्येक अलकार के प्रसग मे उसका नाम, सस्कृत लक्षण, इन लक्षणो के पदो का अर्थ, सस्कृत उदाहरण, भाषा-लक्षण, भाषा-उदाहरण, भावार्थ, तथा अन्त मे 'अन्यान्य उदाहरण' की लडी मिलती है।

काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द, कविप्रिया, रसराज, जगद्विनोद, काव्य-निर्णय, भाषा-भूषण, पद्माभरण, ललित-ललाम तथा अन्यान्य साहित्य-ग्रथो के स्थान-स्थान पर सकेत आ गये है जो इस बात के द्योतक है कि इस अलकार-प्रकरण मे भानुकवि ने बडा परिश्रम किया है।

(१) व्यंग्य रु रस तें भिन्न जो, हृदय रूप सरसाहि।
चमत्कार भूषण सरिस, सोई भूषण आंहि॥

शब्दालंकार

काव्य-प्रभाकर मे अलकारो के ३ भेद है --शब्दालकार, अर्थालकार तथा उभयालकार। "**'शब्दालंकार' में प्रथम नाम, फिर संस्कृत-लक्षण, भाषा-लक्षण, भावार्थ और अन्त में उदाहरण दिये गये है**"। शब्दालकार ८ है--पुनरुक्तवदाभास, अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति, भाषासमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र। पुनरुक्तावदाभास के २ भेद अभग तथा सभग है। अनुप्राग के ५ भेद है--छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट तथा अन्त्य। वक्रोक्ति २ प्रकार की है, श्लेष तथा काकु। भाषा-समक का उदाहरण बडा मनोहर है। चित्र मे केशव को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया गया है। समय की प्रवृत्ति के अनुसार भानुकवि ने चित्र को सूक्ष्म नही बनाया। 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' दोनो का इस प्रकरण मे समान प्रभाव है।

अर्थालंकार

सर्वप्रथम भानुकवि ने 'भूषण' का लक्षण दिया है, फिर केशव के 'जदपि सुजाति सुलक्षणी०' को उद्धृत करके अलकार के महत्व की स्थापना की है। उपमेय तथा उपमान की व्याख्या करके उपमा का विवेचन है, उपमा के ४ भेद है--पूर्णा, लुप्ता, रशना तथा माला। मालोपमा तथा रशनोपमा के नामार्थ को (माला=पक्ति+उपमा=समता) (रशना=कधनी=शृखला+उपमा=समता) कदाचित् सरल बनाने के लिये ही टुकडे करके समझा दिया है। अनन्वय से प्रमाण तक अलकारो का क्रम प्राय साहित्यदर्पण के अनुसार है, परन्तु चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द से भी पर्याप्त सहायता ली गई है। अलकार की सख्या १०० कुवलयानन्द के ही अनुकरण पर है। उदाहरण के लिये हिन्दी के अनेक कवियो के छन्द आये है, जिनमे कुछ कम प्रसिद्ध भी है, जैसे माखन, गोकुल, रसिकबिहारी, गुलाब आदि, तुलसी, बिहारी, लछिराम तो प्राय आ जाते है।

उभयालंकार

भानुकवि के अनुसार उभयालकार के २ भेद है --ससृष्टि तथा सकर, ससृष्टि के भेद ३ तथा सकर के ४ है। वस्तुत उभयालकार कवि की योजना मे न थे, फिर भी उसने इनकी चर्चा कर दी है। रस तथा भाव के ७ अलकार लेखक को मान्य[1] नही, परन्तु ये कुवलयानन्द मे पाये जाते है, अत "**उनसे भी काव्य-प्रभाकर के पाठक अज्ञात न रहें, एतदर्थ उन्हें भी 'भूषण-चन्द्रिका' से उद्धृत कर अपनी सम्मति सहित**" लिख दिया है। अन्त मे ४ दोष शब्दालकारो के तथा ९ दोष अर्थालकारो के आ गये है।[2] उभयालकारो के अन्तर्गत 'न्यायदर्पण' है, जिसमे ३६ प्रकार के न्याय समझाये गये है।

(१) **मेरी सम्मति में इन सातों में अलंकारता नहीं, क्योंकि ये सब रसविषयक है, और रस व्यंग्य के अन्तर्गत है, एवं व्यंग्य अलंकार से पृथक् है। (६१९)**

(२) **जिस पद्य, पाद अथवा वाक्य में एक से अधिक अलंकारों का समावेश हो वहीं उभयालंकार है फिर चाहे उन समावेशित अलंकारों में से शब्दालंकार हो चाहे अर्थालंकार हो और चाहे दोनों के सम्मिलित क्यों न हों पर उसकी उभयालंकार ही संज्ञा है। (४७२)**

विवेचन-शैली

'काव्यप्रभाकर' की अपनी कोई विशेष मान्यता नही, फिर भी उसका महत्व निर्विवाद है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि भानुकवि ने अंग्रेजी पढे-लिखे तथा विदेशियो का ध्यान रखा है। साथ ही विषय को विस्तार देकर भी सरल बनाना लेखक का सदा अभीष्ट रहा है। केवल अलकार-विषय ही नही समस्त काव्याग **'ऐसी सरल और स्पष्ट भाषा में कहा गया है कि पढ़ते ही विषय हृदयंगम हो जाता है; अन्त में उदाहरण यथासाध्य रामायणादि सद्ग्रन्थों से ललित और सुन्दर खोज खोजकर लिखे गये हैं'** (१६)।

भानुकवि ने मूल के साथ 'सूचना', 'प्रश्नोत्तर' तथा 'फुटनोट' की ३ विशेषताओ को भी जोडा है। 'सूचना' के द्वारा लेखक प्राय दो या अधिक अलकारो का पारस्परिक भेद सरल गद्य मे समझा देता है, या छात्रो के लिये ध्यान देने योग्य बाते बतला देता है —

(क) वक्रोक्ति प्रसंग पृ० ५९३

सूचना—छेकापन्हुति में प्रश्न करने पर सत्य को छिपा कर असत्य कथन से समाधान किया जाता है।

सूक्ष्म में दूसरे के इशारे पर इशारे में ही उत्तर देना होता है।

व्याजोक्ति में गुप्तभेद प्रकट हो जाने पर किसी बहाने से उसको छिपाते हैं।

युक्ति में चतुर क्रिया द्वारा मर्म को छिपाया वा गुप्त भाव से जताया जाता है।

वक्रोक्ति में काकु (तानेबाजी) से अर्थ पलटा जाता है।

(ख) उत्प्रेक्षा-प्रसंग पृ० १११

उत्प्रेक्षालंकार के समर्थन को अर्थान्तरन्यास का कथन अनुचितार्थ दोष है। जैसे—

रच्छत हिमगिरि तमहि मनु, गुफा लीन रविभीत।
शरणागत छोटेहु पर, करत बड़े जन प्रीत॥

यहां अचेतन तम को सूर्य से भय होना ही संभव नहीं है फिर हिमालय द्वारा यह केवल व्यर्थ संभावना है, इसके समर्थन के लिए दोहे में उत्तरार्द्ध में अर्थान्तरन्यास कथन करना व्यर्थ है। अतएव अनुचितार्थ दोष है।

'प्रश्नोत्तर' द्वारा लेखक ऐसे विषयो को स्पष्ट करता है जिनमे शका-समाधान की अपेक्षा थी। प्रश्न करके जिज्ञासा जगाना और फिर उसकी शाति के हेतु उचित उत्तर देना इस प्रश्नोत्तर-प्रणाली की विशेषता है —

(क) प्रश्न—लेश और उल्लास में क्या अन्तर है ?

उत्तर—लेश में दोष को गुण अथवा गुण को दोष कल्पना करना होता है, और उल्लास में एक के गुण-दोषों से दूसरे के गुण-दोष कथन किये जाते हैं।

तीसरी प्रणाली **फुटनोट** की है। फुटनोट केवल स्वमत प्रकट करता है, विषय के स्पष्टीकरण के लिये इसकी आवश्यकता नही होती —

(क) भ्रमर के व्याज से नायक प्रति जहां कोई उक्ति कही जाय उसे कतिपय कवियों ने भ्रमरोक्ति कहा है। मेरे विचार में भ्रमरोक्ति और अन्योक्ति दोनों ही गूढोक्ति के अन्तर्गत हैं। (पृ. ५८८)

मौलिकता

काव्य प्रभाकर प्राय सग्रह-ग्रन्थ है, इसलिये भानुकवि से शास्त्रीय मौलिकता की आशा व्यर्थ है। फिर भी कुछ स्थलो पर इन्होने स्वमत से विवेचना की है —

(क) परिहासापन्हुति एक नया अलकार है। यह भ्रान्तापन्हुति का ही एक उपभेद है, यहा **'प्रबोधक स्वयं श्रोताओं को भ्रान्ति में डालकर पश्चात् निवारण करके हर्षित कर देता है।'** विवाह आदि अवसरो पर गीत गाती हुई स्त्रिया मनोरजन के लिये इस चमत्कार का बहुश प्रयोग करती है। भानुकवि ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से उदाहरण का सचय किया है —

छाती मोड़त सब समधिन कर, रूप छटा अति देखि।
डारत अतर लगाइ अरगजा, ताहि रंगीली पेखि॥
समधिन तू लगवावत डोलत, सब सों चोवा रंग।
फटी दरार परी समधिन की, चोली उभरि उमंग॥

(ख) पदार्थावृत्ति दीपक को भानुकवि अर्थालकार नही मानते, क्योकि इसमे पद की आवृत्ति होती है। **'पदार्थावृत्ति—यह अलंकार शब्दालंकार के भेदों में से जंचता है, परन्तु 'शिष्टस्य गतिश्चिन्तनीया' इस वाक्य प्रमाण से यहीं लिख दिया है।'**

(ग) प्रहेलिका अलकार को शब्दालकारो मे स्थान मिला है, परन्तु एक अर्थ की प्रहेलिका भी होती है, भानुकवि ने 'गूढोत्तर' के प्रसग मे इसी प्रहेलिका की चर्चा की है और इसका वर्णन[1] किया है।

"शब्दालंकार में जो शब्द-प्रहेलिका कही है, वह शब्दान्तर्गत है। और जो प्रहेलिका अर्थान्तर्गत है उसे चित्रोत्तर अलंकार के अन्तर्गत जानना चाहिए। यद्यपि प्रहेलिका की गणना अलंकारों मे नही, तथापि इसमे कुछ-कुछ झलक अलंकार की पाई जाती है इसलिए इसका लिखना भी उचित जाना गया" (५८३)।

उदाहरण

भानुकवि उदाहरणो के लिये प्रसिद्ध है। हिन्दी के ये प्रथम आचार्य है जिसने उदाहरण पररचित रखे है। उदाहरणो की दो विशेषताये है—'ललित' तथा 'सुन्दर'। सस्कृत तथा हिन्दी के महान् कवियो से ही इनका प्राय सग्रह किया गया है। साथ ही हिन्दी के कुछ अप्रसिद्ध कवियो के सुन्दर तथा उपयुक्त पद्य भी रख दिये गये है, अनुवाद अधिक नही है। 'प्रमाण' के उदाहरण मे माखन कवि का यह कवित्त कितना सुन्दर है —

वेद के पढ़ैया को अढ़ैया को न लागै जोग,
आल्हा के गवैया को रुपैया रोज खानो है।
होती क्यों न होती गरे पोती कुलनारिन के,
हार बारनारिन को बसन खजानो है।

---

(१) एक नारि करतार बनाई। ना वह क्वारी, ना वह ब्याही॥
सूहे रंग सदा ही रहै। भाभी भाभी सब जग कहै॥ (वीर-बहूटी)

'माखन' कहत गुर पैसा को पसेरी भर,
पैसा ही को पैसा भर माहुर बिकानो है।
यारो गुन मानो और गुन को न दोष देहु,
गुन ना हिरानो गुन-गाहक हिरानो है॥

सस्कृत तथा हिन्दी के अतिरिक्त फारसी-मिश्रित उदाहरण भी है। सर्वप्रथम भानु-कवि ने ही गद्य के व्यावहारिक उदाहरण अलकारो के लिये रखे है। यह कहा जा सकता है कि गद्य के उदाहरणो मे चमत्कार का अभाव है, परन्तु इसमे सन्देह नही कि नित्यप्रति के उन उदाहरणो से अलकार के स्वरूप को समझना कुछ सहज बन जाता है ––

(क) उल्लेख अलकार का उदाहरण––**'हमारे तो डिपुटी कमिश्नर, कमिश्नर, चीफ कमिश्नर, और लाट साहब सब आप ही है।'**

(ख) प्रयत्नीक के प्रसग मे––**'कुम्हारिन से बस न चलै, गधैया के कान उमेठै।'**

(ग) तद्गुन के प्रसग मे––**'मार हिमायत की गधी एराकी के लात'।**

(घ) गूढोक्ति मे––**'कहै सास को और सुनावै बहू को।'**

इसमे सन्देह नही कि गद्य के ये उपर्युक्त उदाहरण अलकारत्वहीन है, अत ये उपयुक्त भी नही। परन्तु केवल यह ध्यान मे लाना चाहिये कि भानुकवि अलकार को जीवन के निकट की वस्तु समझते थे, अत उन्होने सुपरिचित उदाहरणो द्वारा भी उनके सौदर्य को हृदयगम कराने का प्रयत्न किया है।

मूल्याकन

भानुकवि मे अधिक मौलिकता नही, फिर भी उनका यह विशालकाय ग्रन्थ अलकार के क्षेत्र मे एक विशेष प्रगति का द्योतक है। कोरे पाण्डित्य के स्थान पर आचार्यत्व का यहा से प्रारभ समझना चाहिये। अब तक जितने अलकारी आये वे मौलिकता तथा पाण्डित्य के नशे मे छके हुए थे, लक्षण तथा उदाहरणो मे वे अपने पद्य बनाते थे और दूसरो का अनुकरण करते हुए भी उनका नाम न लेते थे। भानुकवि इस कोटि के नही। उनका उद्देश्य विषय का साभार स्पष्टीकरण है, उन्होने अपना कम लिखा है, दूसरो के लिखे की परीक्षा करके उसको यथावश्यकता अपनाया है। स्पष्टीकरण के नवीनतम साधन 'अनुभूमिका', 'सूचना', 'प्रश्नोत्तर', तथा 'फुटनोट' यहा व्यवहृत हुए है। गद्य का समुचित उपयोग है। लेखक की सारग्राहिणी बुद्धि तथा विनम्र विद्वत्ता प्रशसनीय है। शिकायत केवल एक है––अति विस्तार, परन्तु जब हम यह जानते है कि विस्तार भी यथासभव स्पष्टीकरण के ही लिये है तो यह भी उस समय की दृष्टि से कोई दोष नही लगता। यद्यपि ग्रन्थ का इतना बडा आकार आज के व्यस्त पाठक को खटकता है फिर भी नवम मयूख के विषय मे हम लेखक से सहमत है कि **"इस सम्पूर्ण मयूख में ऐसा सुगम क्रम रखा गया है कि पढ़ते ही विषय सहज ही हृदयंगम हो जाता है।"**

भगवानदीन : अलंकार-मंजूषा

(स० १९७३)

परीक्षा मे प्रविष्ट होने वाले युवको की कठिनाई को दूर करन के लिए स १९७३ मे ला. भगवानदीन ने 'अलकार-मजूषा' नामक पुस्तक लिखी। यह बडी लोकप्रिय हुई, हमारे समक्ष इसका स २००८ का नवम सस्करण है। 'मजूषा' मे ४ पटल है, परन्तु विवेचन केवल अलकार-विषय का ही है। प्रथम पटल मे अलकार की परिभाषा, अलकार का स्थान तथा अलकारो के तीन प्रकार बतला कर (यहा तक केवल गद्य का ही व्यवहार है) लेखक ने शब्दालकारो का वर्णन किया है। दूसरे पटल मे १०८ अर्थालकार है, तीसरे मे उभयालकार, तथा चौथे मे अलकार-दोष का विवेचन है। इस प्रकार अलकार-मजूषा का नाम सार्थक है, अलकार-विषय से सम्बद्ध समस्त सामग्री यहा विधिपूर्वक एकत्रित मिल जाती है।

विशेषताए

इस युग मे आश्रयदाता के नाम पर पुस्तक लिख कर ही सम्मान न मिल सकता था इसलिए कविराजा मुरारिदान ने राजाश्रय प्राप्त करते हुए भी अपनी पुस्तक मे 'विलक्षणता' लाने का प्रयत्न किया, भानुकवि ने सस्कृत-लक्षण, पदार्थ, अनेक उदाहरण, सूचना, प्रश्नोत्तर, फुटनोट तथा अनुभूमिका के सहारे लोकप्रियता प्राप्त की। भगवानदीन भी लोक की प्रवृत्ति से सुपरिचित थे, उन्होने अपनी पुस्तक मे निम्नलिखित विशेषताए रखी है –

(क) प्रत्येक अलंकार के कई एक उदाहरण दिये गए हे।

(ख) जहां-तहां विशद टिप्पणियां और सूचनाएं भी दी गई है।

(ग) अलंकारों की बारीकियां और भेद गद्य में समझाये गए है।

(घ) पुराने अलंकार ग्रन्थों को "पढ़ाने में शिक्षको को संकोच-भाव धारण करना पड़ता था, अर्थात् कोई गुरु अपने शिष्य को, कोई पिता अपने पुत्र को, या कोई भाई अपने छोटे भाई को निस्संकोच-भाव से नहीं पढ़ा सकता था", इस पुस्तक से वह कमी दूर हो गई और सूर तुलसी आदि भक्त-कवियों या भूषण आदि वीर कवियों की रचनाओं से अलंकारों के अच्छे-अच्छे उदाहरण प्राप्त होने लगे।

शब्दालकार

'मजूषा' मे शब्दालकार १० है––अनुप्राम (छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट, अन्त्य), चित्र, पुनरुक्तिप्रकाश, पुनरुक्तिवदाभास, प्रहेलिका, भाषासमक, यमक, वक्रोक्ति, वीप्सा तथा श्लेष। अलकारो का क्रम ऐतिहासिक दृष्टि वाले पाठक को चौका देता है, अनुप्रास तो सर्वप्रथम ठीक है, परन्तु शेष अलकारो मे क्रम का कोई सिद्धान्त दिखाई नही पडता, अनुमान से ज्ञात होता है कि दीनजी के सामने छात्र ही थे अत उनको जिसका सरल परिचय मिल जाय उसी शब्दालकार को अपेक्षाकृत आदि मे स्थान दे दिया गया। इन अलकारो मे

नया तो कोई नही है, परन्तु पुनरुक्तिप्रकाश तथा वीप्सा बहुत दिनो बाद दिखलाई पड रहे हैं, अनुकरण कदाचित् दासकवि का है, और यमक का भेद बन कर सिंहावलोकन भी उन्ही के प्रभाव से आया लगता है। केशव का प्रभाव चित्र तथा यमक मे है, यमक के विषय मे दीनजी लिखते है कि—**'इसके सबसे अधिक भेद केशवदास ने अपनी कविप्रिया में लिखे है।'**

अलकारो के लक्षण अधिक कसे हुए नही है। वक्रोक्ति का पद्य मे लक्षण है —

होय स्लेष सों काकु सों, कल्पित औरै अर्थ।
ताहि कहत वक्रोक्ति है, सिगरे सुकवि समर्थ॥

इस पद्य मे वक्रोक्ति के उस मूल का सकेत नही मिलता कि " **जब वक्ता कोई वाक्य एक अर्थ में कहता है और श्रोता उसका दूसरा ही अर्थ लगाता है.. ....**" तब यह अलकार माना जाता है, नीचे 'विवरण' के द्वारा यह बात स्पष्ट की गई है— या तो लक्षण पद्य मे न होता, या फिर उसे कसा हुआ होना चाहिए था। पृ० ४०-४१ पर श्लेष अलकार का 'विवरण' भ्रामक है, शब्दालकार और अर्थालकार का भेद उससे ठीक-ठीक स्पष्ट नही होता, उदाहरण भी सहायक नही होता, यदि 'सूचना'[1] न होती तो उनके श्लेष के विषय मे पाठक गलत धारणा ही बना बैठते।

कुछ अलकारो की तुलना फारसी तथा अग्रेजी मे कर दी गई है, भानुकवि मे इसके बीज थे, परन्तु इसका पल्लवन इसी पुस्तक के कुछ अलकारो के प्रसग मे दृष्टिगोचर होता है। यह तुलना यहा केवल अनुप्रास के विषय मे है —

(क) फारसी, अरबी तथा उर्दू में अनुप्रास और यमक अलंकारों को 'तजनीस' कहते है। हिन्दी की तरह इन भाषाओं में भी इन अलंकारो के अनेक भेद है। (३)

(ख) छेक और वृत्ति अनुप्रासों को अंग्रेजी में अलिटरेशन कहते है। (पृ. ८)

यह कहना कठिन है कि यह तुलना अलकारो के अध्ययन मे कितनी लाभदायक हो सकती है, परन्तु इससे युग-प्रवृत्ति का कुछ आभास अवश्य मिलता है। दीन जी ने गद्य के उदाहरण भी दिये है, और 'सूचना' तथा 'विवरण' द्वारा विषय को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न भी किया है।

अर्थालकार।

'अलकार-मजूषा' के दूसरे पटल मे १०८ अर्थालकार है। सर्वप्रथम स्थान **"अलंकारों मे सर्वोत्तम और अनेक अलंकारों का मूल उपमा अलंकार"** का मिला है। फिर मालोपमा, रसनोपमा, अनन्वयोपमा, उपमेयोपमा तथा ललितोपमा अलग अलकार माने गये है। अनन्वय आदि को उपमा कहकर भी इनको स्वतन्त्र अलकार मानने मे किसी सिद्धान्त के बीज नही छिपे, कदाचित् स्मरणोपयोगिता को ध्यान मे रखकर इनको स्वतन्त्र अलकार मानकर गिना दिया है। यहा ललितोपमा जयदेव से नही आई, प्रत्युत

(१) **"यदि ये शब्द पर्यायवाची शब्दों में बदल दें तो वह अलंकार ही मिट जाता है। इसी से उसे शब्दालंकार मानना पड़ा है। अर्थश्लेष में शब्दों को बदल देने पर भी अलंकार बना रहता है"।**

भूषण से ग्रहण की गई है, लक्षण, उदाहरण, तथा 'लीलादिक पद' की नामावली मे वही अनुकरण है, 'सूचना' द्वारा केशव की सकीर्णोपमा का इसी मे अन्तर्भाव कर देना लेखक की प्रौढता का द्योतक है।

रूपक का लक्षण मुरारिदान से आया है, सागरूपक के लम्बे-चौडे उदाहरण खटकते है। उल्लेख के उदाहरण मे रामचरितमानस की इतनी चौपाइया न आती, तो हानि क्या थी ? जिस प्रकार रीतिकालीन कवि उदाहरण देते-देते तन्मय हो जाता है उसी प्रकार उस युग के आचार्य भी सरसता मे बह जाते थे।

स्मरण, उत्प्रेक्षा, क्रम, वक्रोक्ति तथा अत्युक्ति मे दीनजी की मौलिकता है। प्राचीनो ने स्मरण अलकार वहा माना था जहा "सदृश वस्तु **लखि** सदृश की सुधि आवै," परन्तु "हिन्दी-साहित्य मे हमे ऐसे उदाहरण मिलते है जिनमे जान पडता है कि प्राचीनो का यह लक्षण पर्याप्त नही", अस्तु लेखक ने इस अलकार के क्षेत्र मे विस्तार कर दिया और सदृश को देखकर ही नही, **सुन कर या सोच कर भी** जहा सदृश की याद आ जाती है वहा इस अलकार को मान लिया है, यह क्षेत्र-विस्तार सर्वथा स्वीकार्य है।

उत्प्रेक्षा का लक्षण कदाचित् मुरारिदान की सहायता से लिखा गया है। **"उत्प्रेक्षा (उद्+प्र+ईक्षन) शब्द का अर्थ है बलपूर्वक प्रधानता से देखना।"** लेखक पारिभाषिक शब्द 'सभावना' से बचना चाहता था, परन्तु नाम के टुकडे करके तो छुटकारा नही हो सकता, 'बलपूर्वक प्रधानता से देखना' तो और भी कम समझ मे आने वाली चीज है।

क्रम अलकार के दीनजी ने ३ भेद किये है। ये है—यथाक्रम, भगक्रम, तथा विपरीत-क्रम। यथाक्रम तो क्रम या यथासख्य अलकार ही है। 'भगक्रम' को फारसी मे 'लफोनशर गैर मुरत्तब' कहते है, यह सस्कृत-हिन्दी मे दोष माना गया है, अलकार नही, क्योकि 'यथाक्रम' तथा 'भगक्रम' दोनो ही शोभावर्द्धक अलकार नही हो सकते। 'विपरीतक्रम' लेखक की अपनी सूझ है, परन्तु इसमे कोई विशेष चमत्कार तो दिखाई नही पड़ता —

राज्य नीति बिनु, धन बिनु धर्मा। हरहि समर्पे बिनु सतकर्मा।
विद्या बिनु विवेक उपजाये। श्रम फल पढ़े, किये अरु पाये॥

यहा राज्य, धन, सत्कर्म तथा विद्या आदि क्रमश नीति, धर्म, हरिसमर्पण तथा विवेक से रहित है, तो (अब 'विपरीतक्रम' है) उन चारो का पढना, करना, तथा प्राप्त करना श्रम-फल ही है।

अपने पूर्ववर्ती आचार्यो मे सुधार करके प्राचीनो के अनुसार दीनजी ने 'उदाहरण' अलकार माना है और विस्तारपूर्वक दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास से उसका अन्तर बताकर उदाहरण की स्वतन्त्र स्थापना की है। 'मजूषा' मे 'वक्रोक्ति' शब्दालकार भी है तथा अर्थालकार भी, शब्द-वक्रोक्ति तो उस समय सब लोग स्वीकार करते थे परन्तु अर्थ-वक्रोक्ति अर्थ-श्लेष पर आश्रित है, लेखक ने इसके शब्दमूला वक्रोक्ति से अन्तर की भी व्याख्या कर दी है। 'अत्युक्ति' के विषय मे लेखक की रुचि विशिष्ट है, उसके कतिपय नवीन भेद है—सौन्दर्य, शौर्य, औदार्य, प्रेम तथा विरह, वस्तुत. इनको भेद कहना उचित नही, ये तो आधारभूत गुण है, दीनजी लिखते है कि "इसी प्रकार और भी समझ ले" (पृ० २६०);

अंग्रेजी पर्याय 'एग्ज़ैजरेशन' तथा फारसी पर्याय 'मुबालिगा' भी दे दिये है (२६१)।

'अलकार-मजूषा' मे रसवदादि अलकार नही है; 'प्रमाण' नाम का केवल एक अलकार है, शेष को भेद मान लिया गया है। फिर भी अर्थालकारो की सख्या १०८ है, कारण यह कि कुछ भेदो को स्वतन्त्र अलकारत्व प्राप्त हो गया है---उपमा के भेद तो स्वतन्त्र हो सकते थे, परन्तु दीपक, आवृत्तिदीपक, कारकदीपक, मालादीपक, तथा देहरी-दीपक को अलग-अलग अलकार मानना कदाचित् व्याख्या-हेतु सुविधाजनक हो परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से उचित नही लगता।

तीसरा तथा चौथा पटल

तीसरे पटल मे दो उभयालकार है। जहा एक से अधिक भूषण मिले हुए आ जाते है उस मिश्रण को उभयालकार कहते है, इसके दो भद है---ससृष्टि तथा सकर, तिल-तन्दुल-न्याय से मिश्रण 'ससृष्टि' है, और नीर-क्षीर-न्याय से मिश्रण 'सकर' कहलाता है। ससृष्टि के ३ भेद हो सकते है---शब्द-शब्द-मिश्रण, शब्दार्थ मिश्रण, तथा अर्थार्थ-मिश्रण। सकर के ४ भेद हो सकते है---अगागी भाव, समप्रधान, सन्देह, तथा एकपद। यह समस्त वर्णन पूर्व आचार्यो के समान ही है। इसी स्थल पर रसवदादि के अलकारत्व का निषेध करके उनकी व्याख्या मे पाठक को निराश कर दिया है।

चौथा पटल 'दोष-कोष' है। आदि मे शब्दालकारो के दोष है, शब्दालकारो मे सर्वप्रधान अलकार 'अनुप्रास' तथा 'यमक' के, अनुप्रास के मुख्य ३ दोष है---प्रसिद्धाभाव, वैफल्य, तथा वृत्ति-विरोध, यमक का १ दोष 'अप्रयुक्त' है। अर्थालकारो मे से उपमा (९ दोष), उत्प्रेक्षा (२ दोष), समासोक्ति (१ दोष), तथा अन्योक्ति (१ दोष) के ही दोषो का वर्णन है। उत्प्रेक्षा-प्रसग मे 'अनुचितार्थता' दोष भानुकवि से ज्यो-का-त्यो उठाकर रख दिया है।

नवीन अलकार

भगवानदीन ने पाण्डित्य छाटने की कोशिश नही की, क्योकि उनका उद्देश्य प्रतिष्ठित का सुगम प्रतिपादन था, अत मौलिकता की आशा यहा अधिक नही रखनी चाहिए। फिर भी वक्रोक्ति, श्लेष, उदाहरण तथा क्रम आदि के विषय मे लेखक के स्वतन्त्र विचार है, और ये विचार निश्चय ही लाभदायक है। एक अलकार 'तिरस्कार' नवीन भी है, सम-सामयिक आचार्यो ने इसको नही लिखा, जहा दोष-विशेष के देखने पर आदरणीय का भी त्याग हो जावे वहा अलकार[1] 'तिरस्कार' है---

जाके प्रिय न राम-वैदेही।
तेहि त्यागिए कोटि वैरी-सम यद्यपि परम सनेही॥ (पृ. २२३)

---

(१) एक उदाहरण, भानुकवि के समान, कहावत का है:---
वा सोने को जारिये जातें फाटै कान।
अन्यत्र भी देखिए:---
सो सुख धर्म-कर्म जरि जाऊ। जहां न राम-पद-पंकज-भाऊ॥ (पृ. २२३)

इस अलकार मे हठात् मुरारिदान की याद आ जाती है, जिस कथन मे चमत्कार नही उसको अलकार कैसे मान ले––सौन्दर्य के अभाव मे अलकार नाम असगत है।

विवेचन

'अलकार-मजूषा' पाण्डित्य-प्रसूत रचना नही है, इसका उद्देश्य तो शिष्यो के लिए कठिन विषय को सरल शैली मे उपस्थित करना है। अत दीनजी का विवेचन भानुकवि से भी अधिक सफल है, विद्यार्थी अपने परिचित ससार से ही सब कुछ प्राप्त कर लेता है, यदि कोई नवीन उदाहरण उसको मिलता है तो वह ऐसा जिससे उसका जीवन उत्तम बने। दीनजी का यह प्रयत्न सराहनीय है।

इससे भी अधिक मूल्य उनकी व्याख्या का है। पुस्तक मे लक्षण तो युग की प्रवृत्ति को देखकर पद्य मे ही दिये है, परन्तु जहा लक्षण कठिन है वहा 'विवरण' द्वारा उसको सरल भाषा मे समझा दिया गया है, लक्षणो के पद्य भी अत्यन्त सरल तथा मजे हुए है। अग्रेजी तथा फारसी से स्थान-स्थान पर तुलना भी तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बडी लाभ-दायक है। लेखक यह भी बतलाता चलता है कि अमुक अलकार हिन्दी के अमुक कवि मे अधिक आया है और अमुक ने इसको सफलता से अपनाया है, इस प्रकार के सकेत दोषो मे भी है––परन्तु समकालीन कवियो के दोष नही दिखलाये।

स्वकीय सम्मति के अतिरिक्त स्थान-स्थान पर समान अलकारो का पारस्परिक अन्तर भी है तथा उदाहरण लक्षणो मे घटाये भी गये है। अपने दृष्टिकोण को स्वमत कह कर देने से पाठक मौलिकता मे भूलकर वास्तविकता से अपरिचित नही रहता। दीनजी की पुस्तक का यह एक विशेष गुण है। उनकी सम्मति सतुलित तथा निष्पक्ष है, आचार्य के रूप मे वे सफल है।

व्याख्या के लिए 'सूचना', 'विवरण' आदि की सहायता ली गई है। ऐसे स्थल लाभ-दायक होने के साथ-साथ अत्यन्त स्पष्ट भी है, इनसे लेखक के निभ्रात ज्ञान का परिचय मिलता है ––

"सूचना––फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा की पहिचान करना विद्यार्थियों के लिए तनिक कठिन बात है। इसकी जांच के लिए सर्वप्रथम 'क्रिया' को जांचो। यदि क्रिया किसी हेतु से कही गई जान पड़े तो हेतूत्प्रेक्षा समझो और यदि उस क्रिया से किसी फल की इच्छा प्रकट हो तो फलोत्प्रेक्षा समझो। नीचे लिखे उदाहरणों पर विचार करो––

१. राधिकाजी के अधर और नासिका की छवि अनूप है, मानो बिंबाफल को देखकर लालच-वश आकर शक बैठा हो। (सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा)

२. राधिका जी के अधर और नासिका की छवि अनूप है, मानो बिंबाफल का स्वाद लेने के लिए शुक चोंच मारना चाहता है।" (सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा)

मूल्याकन

दीनजी ने दूसरो से बहुत कुछ लिया है; उदाहरण तो सभी दूसरो के ही है; क्वचित् दूसरो के लक्षण लेने मे भी सकोच नही किया, क्योकि लेखक मौलिकता का मतवाला नही है। 'अलकार-मजूषा' मे दूसरो की आलोचना प्रायः नही है, उसकी आवश्यकता न

थी; यत्र-तत्र स्वमत कथन अवश्य है। केशव, जसवतसिह, तथा दासकवि का प्रभाव कतिपय स्थलो पर है ही। प्रथम बार यह ऐसी पुस्तक देखने मे आई जो सस्कृत के प्रत्यक्ष प्रभाव से स्वतन्त्र है, इसका असस्कृतज्ञ पाठक अपने ज्ञानाभाव मे हीनता का अनुभव नही करता।

'अलकार-मजूषा' निश्चय ही अपने क्षेत्र मे प्रगति की परिचायक है। भानुकवि की अपेक्षा दीनजी का विवेचन सरल तथा सुगम है, इन्होने लक्षणो मे उदाहरणो को घटाया भी है, यहा तुलना भी अधिक है तथा व्याख्या भी अधिक स्पष्ट। भानुकवि के समान इस आचार्य ने भी बोलचाल[1] की गद्य से उदाहरण रखे है, और उनकी सख्या काफी है। 'काव्य-प्रभाकर' के सभी गुण 'अलकार-मजूषा' मे पाये जाते है, और बहुत अश तक यह उसके दोषो से मुक्त है। आकार का सतुलन इसका एक विशेष गुण है। 'मजूषा' ने स्तम्भाकार चित्रो द्वारा विषय को समझाने का एक नया ढग अपनाया, और ध्यान देने योग्य बातो को अलग-अलग गिनाकर प्रतिपाद्य विषय को कठस्थ करने की सुविधा पाठको को दे दी (दे० पृ ५० पर उपमा अलकार का महत्त्व, तथा पृ० ५६-५७ पर लुप्तोपमा सूचक चक्र)।

सगति का प्रभाव अवश्य पडता है, यह इससे भी सिद्ध है कि यद्यपि दीनजी ने कविराजाजी के अकारादि क्रम को ग्राह्य न समझा, फिर भी 'अलकार-सूची' मे उन्होने अलकारो को अकारादि-क्रम से ही रखा है।

---

(१) वीप्सा अलंकार के गद्य-उदाहरण देखिए:—

(क) (आश्चर्य) : राम! राम! यह क्या करते हो।

(ख) (घृणा) : छिः ! छिः ! उसे मत छुओ।

(ग) (अहंकार) : भाई ! भाई ! क्या तुम्हीं बड़े बुद्धिमान हो। (पृ. ४०)

अर्जुनदास केडिया : भारती-भूषण

(स० १९८७)

सेठ अर्जुनदास केडिया ने स १९८७ मे अलकारो का एक ३८३ पृष्ठ का ग्रन्थ 'भारती-भूषण' लिखा। भानुकवि तथा दीनजी के समान प्रस्तुत लेखक नवीन शैली को न अपना सका, वह मुरारिदान तथा कन्हैयालाल पोद्दार के वर्ग का है, उसमे पुरानी शैली ही है, पाण्डित्य के बोझ से लदी हुई। केडियाजी आचार्य-वर्ग मे न रहकर पडित-वर्ग मे प्रविष्ट होने वाले है, उनका प्रयत्न यह है कि दूसरो से कम-से-कम लिया जाय, और यदि लिया भी जाय तो वह गुप्त-ग्रहण हो। समसामयिको से लेना या लेकर स्वीकार करना वे उचित नही समझते, समकालीनो की अपेक्षा प्राचीनो का, तथा हिन्दी-आचार्यो की अपेक्षा सस्कृत-आचार्यो का भार उनको कुछ सह्य है। अस्तु, 'भारती-भूषण' मे लक्षण बिलकुल मौलिक है, और ७५० उदाहरणो मे से ३७५ दूसरो के है तो ३७५ स्वरचित। ध्यान रखना होगा कि भानु कवि तथा भगवानदीन इस 'स्व' का कोई महत्त्व नही समझते।

यह 'मौलिकता' अपने आप मे कोई बहुत बडा गुण नही, इसमे मिथ्या अहकार तथा प्रच्छन्नहीनता की सूचना मिलती है, परन्तु पुराने पडितो मे यह था, और आजकल के विद्वान् दूसरो का नाम लिये बिना ही दूसरो की चीजो को चुपचाप पचा जाते है। जिन पुस्तको से सहायता ली गई है उनका आभार स्वीकार कर लेना उदीयमान आचार्य पर कोई आक्षेप नही लाता, इसके विपरीत प्रसिद्ध तथा उपयुक्त उदाहरणो को इसलिए त्याग देना कि दूसरो की नकल समझी जावेगी और अपने नये-नये उदाहरण गढकर पाठक को भुलावे मे डालना—पाठक के प्रति कर्त्तव्य की उपेक्षा है। दीन और केडिया इस दृष्टि से एक दूसरे के नितान्त विपरीत है। 'भारती-भूषण' मे जसवन्तसिह, मतिराम, भूषण, मुरारिदान तथा उत्तमचद भडारी से तो यथावसर सहायता ली गई है, परन्तु समकालीन भानु, दीन तथा पोद्दार की छाया को भी बचाया है—जहा छिपकर कुछ लिया गया है वहा अपने को बचाने के लिए किसी पुराने ग्रन्थ का नाम ले लिया है, जैसे 'तिरस्कार' अलकार 'दीन' मे भी था परन्तु केडिया इसको 'रस-गगाधर' से लिया गया ही बतलाते है।

ऊपर यह कहा गया है कि 'भारती-भूषण' मे ३७५ उदाहरण दूसरो के रचे हुए है, परन्तु 'दूसरो' से यहा अभिप्राय हिन्दी के कवियो से है, हिन्दी के आचार्यो से नही। खडी-बोली के उदाहरण दो-तीन ही है, कोई भी पद्य सस्कृत का अविकल अनुवाद मात्र नही है। लक्ष्योपमामाला, सिहावलोकन, भ्रान्तापन्हुति आदि के उदाहरण सुन्दर है।

कुछ विशेषताएं

(क) 'भारती-भूषण' की सर्वमुख्य विशेषता यह है कि इसमे अलकारो के लक्षण गद्य मे है, अब तक किसी आचार्य ने इस समयोपयोगिता पर ध्यान दिया न था। पोद्दारजी ने भी अपनी पुस्तक मे यह विशेषता दी है।

(ख) अलकारो के साथ-साथ अलकार-भेदो की भी व्याख्या लक्षणो में हो गई है।
(ग) इसके उदाहरण किसी सस्कृत ग्रन्थ के अनुवाद मात्र ही नही है।
(घ) समकालीन आचार्यो से कोई उदाहरण नही आया।
(ङ) अलकारो के कम से कम २ उदाहरण दिये गये है, परन्तु भानुकवि के समान 'अन्यान्य' उदाहरण जुटाकर ग्रन्थ को विशालकाय नही बनाया।
(च) लक्षणो के प्रसग मे उदाहरणो को समझा दिया गया है।
(छ) लक्षणो की भाषा सरल है।
(ज) समान अलकारो का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट किया गया है।
(झ) १२५ कवियो की ३७५ कविताए उदाहरण-स्वरूप आई है।
(ञ) आजकल अग्रेजी ढग से पुस्तको को आकर्षक बनाने का जो उद्योग किया जाता है, वह इसमे बहुत कम है'।

शब्दालकार

इस पुस्तक मे शब्दालकार ८ है—अनुप्रास (छेक तथा वृत्ति), लाटानुप्रास, **यमक**, पुनरुक्तदाभास, शब्दवक्रोक्ति, शब्दश्लेष, वीप्सा, तथा चित्र। 'वक्रोक्ति' तथा **'श्लेष'** के स्थान पर 'शब्दवक्रोक्ति' तथा 'शब्दश्लेष' नाम निश्चय ही अधिक उपयुक्त है, **नाम से** ही पाठक को सूचना मिल जाती है कि ये अलकार शब्दमूलक भी होते है और अर्थमूलक भी। 'वीप्सा' के अतिरिक्त सभी अलकार सस्कृत के आचार्यो को मान्य रहे है, 'वीप्सा' इस आचार्य ने 'काव्यनिर्णय' से लिया होगा, 'अलकार-मजूषा' से नही। 'चित्र' का इतना विस्तार खटकता है, पुराने आचार्यो की यह प्रवृत्ति तो क्षम्य थी, परन्तु गद्य मे अलकारो के लक्षण लिखने वाला आचार्य यदि एक चित्र अलकार मे ११ पृष्ठ लगावे तो यह उसका पाठक के प्रति अत्याचार ही है।

शब्दालकार-प्रसग मे निम्नलिखित स्थलो पर ध्यान देना उचित है—

(क) अनुप्रास शब्दालकार का एक नया भेद "वैण सगाई' है। लेखक की जन्मभूमि राजपूताने मे इस अलकार का प्रचार है, उत्तमचद भडारी ने अपने ग्रन्थ 'अलकार-आशय' मे इसका विवेचन किया है (भारती-भूषण, पृ० १८), उसी अनुकरण पर केडियाजी ने लिख दिया है। उदाहरण मारवाडी या डिगल के है। हमारी सम्मति मे प्रादेशिक सौन्दर्य राष्ट्र-भाषा पर लादना उचित नही, सौन्दर्य प्रादेशिक भी होता है और राष्ट्रीय भी—प्राय दोनो अलग-अलग। आचार्य का काम नवीन अलकार गढकर कविता-वनिता को सजाना नही है, उसमे तो स्वीकृत आभूषणो के परिचय या विवेचन की ही आशा की जाती है।

(ख) अनुप्रास के अन्त मे कुछ आचार्यो से मतभेद प्रकट करते हुए लेखक ने यह माना है कि अनुप्रास मे 'व्यजन-साम्य' ही पर्याप्त नही, 'स्वर-व्यजन-साम्य' होने पर ही सौन्दर्य आनन्द-प्रद होगा। समर्थन मे 'चन्द्रालोक' की दुहाई दी है, और भूषण के उदाहरणों से उसको पुष्ट किया है। वस्तुत यह सूत्र उत्तमचद भडारी[1] की है हमारे लेखक की नही,

(१) केडिया जी की बहुत कुछ मौलिकता दूसरों से, छिपकर, आई जान पड़ती है, भंडारी की पुस्तक से तुलनात्मक अध्ययन करने पर कुछ और भी रहस्य प्रकट हो सकता है। उपमा तथा रूपक का प्रसंग भी इसी छाया में देखा जाना चाहिए।

उसने डरते-डरते इसको छिपे हुए स्वर मे स्वीकार भी किया है --

'इसी प्रकार उत्तमचंद भडारी कृत 'अलंकार-आशय' नामक भाषा-ग्रन्थ में भी व्यंजन के साथ स्वर-समता का स्पष्ट विधान है।' (पृष्ठ १६)

(ग) लाटानुप्रास के, वाक्य तथा शब्द की आवृत्ति के अनुसार, दो भेद किये है। इसमे कोई विशेषता नही, क्योकि शब्द-समूह का ही नाम वाक्य है, इस प्रसग मे दोनो का सार्थक होना भी अनिवार्य है।

अर्थालंकार

'भारती-भूषण' मे अर्थालकार १०० है। सर्वप्रथम 'उपमा' है, दो भेद लुप्ता तथा पूर्णा तो है ही, माला, लक्ष्या (ललिता), रसना तथा समुच्चया भी है। लेखक ने उपमा के अनेक भेदो मे कोई गौरव माना है और इसीलिए 'कविप्रिया' तथा 'अलकार-आशय' का नामपूर्वक स्मरण किया है, फिर भी यह आश्चर्य है कि 'श्रौती' तथा 'आर्थी' नामक भेदो की चर्चा नही की। उपमा के प्रसग मे उदाहरण सस्कृत के भी है तथा डिगल के भी। दीन जी के समान यहाँ चार्ट तो नही बनाया, परन्तु उसके अनुकरण पर सभी भेदोपभेदो के उदाहरण, तुलनात्मक अध्ययन के लिए, रख दिये है। लक्ष्योपमा मे 'भूषण' का उदाहरण नही रखा, प्रत्युत बेनी कवि का एक प्रसिद्ध कवित्त दिया है, जो मधुर होने के साथ उपयुक्त भी है --

करी की चुराई चाल, सिह की चुराई लंक,
ससी कौ चुरायौ मुख, नासा चोरी कीर की।
पिक के चुराये बैन, मृग के चुराये नैन,
दसन अनार, हांसी बीजुरी गंभीर की।
कहै कवि बेनी बेनी व्याल की चुराइ लीन्हीं,
रती-रती सोभा सब रति के सरीर की।
अब तौ कन्हैयाजू कौ चित्तहू चुराइ लीन्हौ,
चोरटी है गोरटी या छोरटी अहीर की॥

रूपक-प्रसग मे प्रभाव 'अलकार-आशय' का है, विशेषत उदाहरणो मे। भगवानदीन के समान केडिया ने स्मरण का क्षेत्र व्यापक बनाया है, और विरोध द्वारा भी स्मरण-अलकार माना है, लक्षण[1] दीन के लक्षणो के समान होते हुए भी भिन्न है, 'स्मरण-वैधर्म्य-माला' मे कोई सौदर्य नही दिखलाई पडता। 'उत्प्रेक्षा' का लक्षण दीन जी के अनुकरण पर ही है, केवल **'प्रतिभा'** का विशेष योग हो गया है, 'सभावना' शब्द का अर्थ सस्कृत आचार्यो से ले लिया गया है। 'एकावली' का लक्षण स्पष्ट नही, अनुवाद न करके यदि केडिया जी पाठक का ध्यान रख कर सरल लक्षण बनाते, तो अधिक उपकार कर सकते थे। यह ऊपर कहा जा चुका है कि 'तिरस्कार' अलकार 'भारती-भूषण' मे 'रस-गगाधर' से आया माना गया

(१) **"जहां पहिले के देखे सुने वा समझे हुए किसी साकार पदार्थ के समान ही, फिर किसी समय कोई अन्य पदार्थ दिखाई पड़ने, उसका वर्णन सुनने, अथवा चिन्तन करने आदि से उस पहिले वाले पदार्थ का स्मरण हो आवे, वहां स्मरण अलंकार होता है।"**

है, परन्तु हमको उसकी तत्काल प्रेरणा 'अलकार-मजूषा' लगती है। भगवानदीन के समान केडिया ने 'अत्युक्ति' के अनेक भेद दिये है और 'प्रमाण' अलकार के ८ भेदो की व्याख्या की है।

विवेचन

केडिया जी से पूर्व अलकार-विवेचन की जितनी प्रगति हो चुकी थी, उससे उन्होने लाभ उठाया है परन्तु उसको छिपाने का भी प्रयत्न किया है, अत उनका विवेचन उतना स्पष्ट नही जितना कि उनसे आशा थी। 'सूचना' की प्रणाली इन्होने अपनाई ओर अनेक बारीकियो को स्पष्ट करने मे उससे सहायता ली, प्राय तुलनात्मक अध्ययन इसी माध्यम से हुआ है। फिर भी उनमे उलझन है, जिसका कारण पडिताऊपन है। स्थान-स्थान पर सस्कृत के उद्धरण देकर तथा शास्त्रीय शब्दो का प्रयोग करके लेखक भोले पाठक पर अपने पाडित्य की धाक भले ही जमा ले, उसको प्रकाश नही दिखला पाता। जो पाठक सस्कृत जानता है वह तो उस स्थल को मूल मे देख लेगा, परन्तु जो सस्कृत-ज्ञान-शून्य है, उसके समक्ष सस्कृत के अर्थवर्जित उद्धरण रखने से क्या लाभ ? वस्तुत ऐसा लेखक जिज्ञासु पाठक तथा विद्वान् पाठक को एक ही लाठी से हाकने का प्रयत्न करता है, और अपने इस सयुक्त प्रयास मे एक के भी प्रति न्याय नही कर पाता। उदाहरण के लिए समासोक्ति अलकार के प्रसग की टीका-टिप्पणी देखिये। लगभग ३ पृष्ठ की टीका-टिप्पणी मे विषय की सुगमता कठिनता मे परिणत हो गई है। इसी प्रकार 'दीपक-अलकार' की टीका-टिप्पणी मे पाठक के मस्तिष्क मे केवल वामनाचार्य तथा जीवानन्द विद्यासागर ही रह जाते है, प्रतिपाद्य विषय का एक कण भी हाथ नही लगता।

यदि इन 'सूचनाओ' पर विचार करे तो ये अधूरी तथा असमर्थ है। 'फलोत्प्रेक्षा' तथा 'हेतूत्प्रेक्षा' का भेद बडा सूक्ष्म है, सामान्य पाठक की उस तक पहुंच नही होती, इसीलिए भगवानदीन ने इनके अन्तर को सरल तथा स्पष्ट भाषा मे समझा दिया था। हमारे केडिया जी ने भी वैसा करना चाहा, परन्तु व्यर्थ ––

'फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा का निर्णय करना क्रिया से ही सुगम होता है। यदि क्रिया किसी कारण से कही गई हो तो हेतूत्प्रेक्षा और यदि किसी फल की इच्छा से व्यवहृत हुई तो फलोत्प्रेक्षा होती है।' (पृ.१३३)

इतनी बात तो प्रत्येक पाठक जानता है कि 'फलोत्प्रेक्षा' का अर्थ है 'फल की उत्प्रेक्षा,' और 'हेतूत्प्रेक्षा' का अर्थ है 'कारण की उत्प्रेक्षा'। परन्तु इतना ही पर्याप्त नही, उदाहरण देकर सरल भाषा मे घटाना चाहिए। भारती-भूषणकार का अधिकतर विवेचन इसी प्रकार का है, जिसमे गोल-मोल भाषा तथा उदाहरणो की अनुपस्थिति सदा खटकती है। यह लेखक की विद्वत्ता की कमी नही, प्रत्युत उसकी शैली का ही दोष है।

उदाहरणो के विषय मे एक कठिनाई आ गई है। हिन्दी-साहित्य मे प्रत्येक अलकार के अच्छे-से-अच्छे उदाहरण है, परन्तु उनको दूसरे लोग अपना भी चुके है; अगर उन्ही को केडिया लिखते तो आप सोचते कि इस लेखक ने दूसरो की पुस्तक भी अवश्य देखी होगी–– वह यह बदनामी नही लेना चाहता। अस्तु, हमारे लेखक ने पर-रचित अप्रसिद्ध उदाहरण

अपनाये है, फलत विषय उनमे इतना स्पष्ट नही हो पाता। विषादन का उदाहरण है .—

मन चीती ह्वैहै नहीं, हरि-चीती तत्काल।
वलि चाह्यौ आकाश कौ, हरि पठयो पाताल॥

यहाँ चमत्कार विशेष से सामान्य के समर्थन मे अधिक है, इच्छा से विपरीत की प्राप्ति का अपेक्षाकृत कम। रूपकातिशयोक्ति के कितने सुन्दर एव प्रसिद्ध छद है, परन्तु सेठ जी उनको क्यो रखने लगे, उनको पसद आया गट्टु का एक छायानुवाद-सा, जिसमे पाठको की प्रवृत्ति नही मज पाती। सहोक्ति, पर्यायोक्ति, तथा समासोक्ति अलकारो के विषय मे भी यही शिकायत है। दीन जी ने उदाहरणो मे उपयुक्तता तथा सौदर्य के अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखा था कि वे अधिक-से-अधिक श्लिष्ट तथा श्लील हो, इस लेखक ने इस दिशा मे भी कोई लाभ न उठाया। उदाहरणो की दृष्टि से 'भारती-भूषण' अधिक सफल नही है, विशेषत जबकि यह 'अलकार-मजूषा' के बाद मे लिखा गया है।

केडिया जी की विवेचन-शैली के कुछ गुण भी है। इनके लक्षण गद्य मे होने के कारण अधिक उपयुक्त है, और भेदो मे भी उनका समन्वय है। केडिया जी ने अलकार का लक्षण गद्य मे लिखा, इसलिए 'विवरण' की आवश्यकता ही न रही, फिर उदाहरण दिया और उसको लक्षण मे घटा दिया, साथ ही प्रत्येक भेद को अलग-अलग उदाहरणो से मिलाकर समझा दिया। ये लक्षण प्राय सरल तथा सुबोध है, यद्यपि पारिभाषिक शब्दो का बहिष्कार नही है, फिर भी हिन्दी की प्रवृत्ति सदा ध्यान मे रही है। विनोक्ति का लक्षण देखिये —

"जहा कोई प्रस्तुत किसी वस्तु के बिना अशोभन, अथवा किसी के बिना शोभन कहा जाय, वहां 'विनोक्ति' अलंकार होता है। इसका वाचक प्रायः 'बिना' शब्द होता है, किन्तु कही 'हीन', 'रहित', 'न हो' आदि भी हो जाते है।"

यह लक्षण-शैली लेखक का सामान्य आदर्श है। इसमे 'प्रस्तुत' तथा 'वाचक' जैसे सरल पारिभाषिक शब्द, 'शोभन कहा जाय' जैसी पडिताऊ अभिव्यक्ति, तथा 'न हो' को वाचक मान कर हिन्दी की प्रवृत्ति का ध्यान है। प्रथम वाक्य को पारिभाषिक लक्षण कहा जा सकता है। और दूसरे वाक्य को उसका विस्तार, 'आदि भी' लिख कर लेखक ने वाचको की सूची को परिसीमित होने से बचा लिया है।

मूल्याकन

केडिया जी अलकारवादी है, इसके कुछ प्रमाण है। उनकी पुस्तक मे केवल अलकार-विषय का ही विवेचन है, इस कृति मे काव्यप्रकाश साहित्य-दर्पण की अपेक्षा चन्द्रालोक, कविप्रिया, अलकार-आशय आदि की ओर झुकाव अधिक है। साथ ही पुस्तक के मुखपृष्ठ पर केशव का 'जदपि सुजाति सुलच्छनी' दोहा भी लिखा हुआ है। **'गोरख-धंधे की भाँति कष्ट काव्य'** (पृ० ५१) चित्र अलकार का सविस्तर वर्णन भी लेखक की अलकार-प्रियता का द्योतक है। परन्तु इस पुस्तक मे रसवदादि अलकार नही है, और अलकार-दोषो को भी स्थान नही मिला। 'अलकार-सर्वस्व', 'अग्नि-पुराण' आदि का प्रभाव भी अलकार-प्रेम का प्रतीक है।

'भारती-भूषण' के लक्षण सुलझे हुए है, परन्तु उदाहरण अधिक उपयुक्त नही है।

यदि समय की प्रवृत्ति का ध्यान होता तो यह पुस्तक 'अलकार-मजूषा' से अधिक उपयोगी बन सकती थी। आचार्यो ने अपनी पुस्तक सस्कृत की किसी न किसी पुस्तक को सामने रखकर ही लिखी थी, और जल्दी मे उसके अनुवाद अपनी पुस्तक मे रख दिये थे। केडिया जी ने अनुवाद नही किया, यह उनकी एक मुख्य विशेषता है। यह ग्रथ कही-कही अधिक क्लिष्ट बन गया है। इस लेखक ने समसामयिक लेखको से ऊपर उठने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह उठ नही पाया। उसने उनसे कुछ न लेने की प्रतिज्ञा की किन्तु फल उल्टा ही हुआ। 'सूचनाएँ' अधिक लाभदायक नही है। फिर भी लेखक का प्रयत्न सराहनीय है। गद्य मे लक्षण पहली बार इसी लेखक ने लिखा और अनुवाद की प्रवृत्ति को छुट्टी दे दी।

बिहारी लाल भट्ट : साहित्य-सागर

(स० १९९४)

स० १९९४ मे बिजावर के राजकवि पडित बिहारीलाल भट्ट ने २ भागो मे 'साहित्य-सागर' नाम का एक ग्रथ लिखा, जिसमे नाटक और गद्यकाव्य के अति रिक्त साहित्य के समस्त अगो का वर्णन है। ६०० पृष्ठो के इस ग्रथ मे १५ तरगे है। प्रतिपाद्य विषय का तरगो मे वर्गीकरण इस प्रकार है --

प्रथम तरंग--देवस्तुति, नृप-कुल-कथन, ग्रन्थहेतु, सुभ अंग।
द्वितीय तरंग--साहित्य, काव्य, काव्यकारण, काव्य-प्रयोजन, पिगल।
तृतीय तरंग--छन्द।
चतुर्थ तरंग--गणादि, वर्णिक छन्द।
पंचम तरंग--शब्दार्थनिर्णय।
षष्ठ तरंग--शृंगार
सप्तम तरंग--नायिका।
अष्टम तरंग--षड्ऋतु।
नवम तरंग--शृंगारादि तथा अन्य रस।
दशम तरंग--अलंकार।
एकादश तरंग--अर्थालंकार (पूर्वार्द्ध)
द्वादश तरंग--अर्थालंकार (उत्तरार्द्ध)
त्रयोदश तरंग--आध्यात्मिक नायिका-भेद।
चतुर्दश तरंग--निर्वाण।
पंचदश तरंग--(परिशिष्टांश)--दान-प्रकरण।

विषय-सूची से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रथ का मुख्य उद्देश्य वर्णन है--आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए और अपना पाडित्य प्रदर्शित करने के लिए। 'दान-प्रकरण' तो निश्चय ही इसी उद्देश्य से लिखा गया है, त्रयोदश तथा चतुर्दश तरगो का भी कोई अन्य कारण दिखाई नही पडता। प्रतिपाद्य विषय द्वितीय तरग से प्रारम्भ होकर अलकारो के साथ पूर्ण हो जाता है।

कतिपय विशेषताएँ

बीसवी शताब्दी के अन्त मे लिखा हुआ यह ग्रथ पुराने पदचिह्नो पर चल रहा है; इसमे समय की प्रगति का ध्यान नही रखा गया, माध्यम पद्य है, गद्य नही, उद्देश्य वर्णन है, विवेचन नही। लेखक यह नही जानता कि समकालीन आचार्यों ने क्या-क्या लिखा है और अपने ग्रथ को उपयोगी बनाने के लिए उसे कौन-सी विलक्षणता को अपनाना चाहिए। वस्तुत. बिहारीलाल कवि है, आचार्य नही, वे रचयिता है, व्याख्याता नही, उनका दृढ

विश्वास है कि पिगल के बिना जो कविता करते है, वे अजान[1] है, पिगल के बिना कविता हो ही नही सकती। लेखक के अनुसार उसकी रचना की विशेषताएँ निम्नलिखित है ––

(क) काव्य के सपूर्ण अगो का विवेचन है।
(ख) लक्षण तथा उदाहरण नवीन (स्वरचित) है।
(ग) लक्षण तथा उदाहरण सरल––प्रसादगुणपूर्ण––है।
(घ) लक्षण छदोबद्ध होने के कारण सुकठ्य है।
(ड) नायिका-भेद का क्रम नवीन है।
(च) नायिका-भेद का अध्यात्म रूप है।

अलंकार-विषय

दशम, एकादश तथा द्वादश तरगो मे अलकार-वर्णन है, इसमे न कोई मौलिकता है न कोई नवीनता। दशम मे अलकार का महत्त्व बतला कर अलकार के तीन वर्ग बनाये है––शब्द, अर्थ तथा उभय। ऐसी कविता और कामिनी बडे पुण्य से प्राप्त होती है जो सरल तथा सरस हो, जिसकी पद-गति मधुर हो और जो भूषण तथा गुण से युक्त हो (पृ० ३५६)। यत्र-तत्र गद्य मे वृत्ति दे दी गई है। एकादश तरग मे उपमा से लेकर प्रतिवस्तूपमा तक के अर्थालकार है, और द्वादश मे दृष्टात से लेकर सकर तक के। द्वादश तरग के अन्त मे विद्यार्थियो के बोधार्थ सदृश अलकारो का अन्तर (पृ० ५०८) बतलाया गया है, और फिर 'चित्रकाव्य––तृतीय श्रेणी' (पृ० ५११) का १० पृष्ठ मे वर्णन है।

शब्दालकार १० है––अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, अन्त्य), चित्र, पुनरुक्ति-प्रकाश, पुनरुक्तवदाभास, प्रहेलिका, भाषासमक, यमक (मुक्तपदग्राह्य या सिहावलोकन), वक्रोक्ति, वीप्सा तथा श्लेष। अन्त्यानुप्रास के अन्तर्गत भिन्न-तुकान्त (पृ० ३६४) पर भी विचार है। उदाहरण या तो स्वरचित है या रामायण (रामचरितमानस) से गृहीत। चित्र-अलकार अथवा चित्र-काव्य का यहा नाम लेकर यह प्रतिज्ञा कर दी है कि इसका समस्त भेदोपभेद सहित वर्णन आगे किया जायगा (पृ० ३६४)। प्रहेलिका के दो भेद है––शब्दगत तथा अर्थगत। श्लेष का वर्णन अति सक्षिप्त है, इसके दो भेद है––शब्द श्लेष तथा अर्थ श्लेष, शब्दश्लेष की चर्चा इसी दशम तरग मे है। अन्त्यानुप्रास के प्रसग मे लेखक यह बतलाता है कि उर्दू भाषा मे इसको 'काफिया' कहते है।

ध्यान देना होगा कि शब्दालकारो का क्रम किसी भी प्राचीन आचार्य के अनुसार नही है, चित्र को द्वितीय स्थान तो किसी ने दिया ही नही। इस क्रम का आधार है अकारादि क्रम, जिसके प्रथम प्रचारक मुरारिदान थे। बिहारीलाल ने शब्दालकार मे इसी अकारादि-क्रम को अपनाया है, इसलिए यथास्थान चित्र का नाम ले लिया, उसका वर्णन द्वादश तरग के भी अन्त मे है। न जाने क्यो लेखक ने यह कही भी नही लिखा कि वह शब्दालकार को अकारादि-क्रम से वर्णन कर रहा है, और अर्थालकार मे क्रम का यह आधार उसको मान्य नही होगा।

अर्थालकार

एकादश तथा द्वादश तरगो मे अलकारो का वर्गीकरण किस आधार पर किया है,

---

(१) कविता बिन पिंगल नहीं, करें ते महा अजान। (पृ.२७)

यह कहना कठिन है, प्रतिवस्तूपमा पर तरग का अन्त कर देने से वह अपने समवर्गी दृष्टात से एकदम अलग जा पडता है, 'पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध' नाम तो शुद्ध आकार को ही दृष्टि मे रख कर दिये गए होगे। उपमा (लुप्तोपमा) के प्रसग मे १२ लुप्तोपमाओ मे से दस ही क्यो मान्य ह, यह चक्र द्वारा भली-भाति स्पष्ट किया गया है (पृ० ३७५)। रूपक का वृक्ष केवल चमत्कार का द्योतक है (पृ० ३८३), किसी सिद्धात का नही। स्मरण अलकार मे 'सबधी वस्तु दर्शन से स्मरण' (पृ० ३९३) का उदाहरण गलत है, और 'कथा-वार्त्ता सुन कर स्मरण' (पृ० ३९४) भी अलकार नही बन सकता, इसको भाव कहेगे, चित्रकूट को देख कर मन का ओर ही हो जाना 'भाव' है, अलकार नही। जिसे विहारीलाल जी 'दीपयोग' अलकार कहते है, वह अर्थालकार भी नही, शब्दालकार है।

(क) जगत नहीं है तोउ जगत कहावै है। (४२३)

(ख) आ, तुर पं आनंदधन, आतुर करी सम्हार॥ (वही)

यहाँ चमत्कार यमक का ही है।

उत्तरार्द्ध मे कवि जी ने 'उदाहरण' को अलग अलकार नही माना, क्योकि 'विशेष ग्रथो मे इसका निरूपण नही किया गया।' सहोक्ति के चमत्कार को भट्ट जी समझे ही नही और बहुत-सी बातो के एक साथ वर्णन को ही सहोक्ति कह बैठे ह (पृ० ४३२)। लेखक ने 'तिरस्कार' अलकार माना है, और इसको 'अनुज्ञा का विरोधी' बतलाया है--'उल्लास' तथा 'अवज्ञा' परस्पर विपरीत है और 'अनुज्ञा' तथा 'तिरस्कार' भी एक दूसरे के विरोधी है। 'गुणोक्ति' एक नया अलकार है, 'जहा अनेक गुण छोड कर एक को एक ही गुण मे श्रेष्ठता देवे' (४८५), कविजी लिखते हे--'इस भाव की कविता कुछ-कुछ पहले भी हुई, किन्तु इसमे प्रधान रूप से कोई अर्थ अलकार स्पष्ट घटित नही होता है, इसी कारण इस भाव के लिए हमे यह गुणोक्ति नाम का अलकार नवीन निर्माण करना पडा।' (पृ० ४८५)। इसमे कोई विशेष चमत्कार तो लक्षित नही होता।

"कामिनी वही है जाकी प्रीति निज प्रीतम सो
जामिनी वही है जामे जोति है जुन्हाई की।"

'रत्नावलि' तथा 'मुद्रा' दो अलग अलकार न माने जाते तो अच्छा था क्योकि मुद्रा मे जो अन्य 'अर्थ' की सूचना मिलती है, उसका आधार भी तो 'नाम' ही है (४८६)। उक्तियो की बीच इस पुस्तक मे 'अर्थमूला वक्रोक्ति' भी आ गई है, जिसका उदाहरण (सस्कृत से अनुवाद) उपयुक्त है परन्तु लक्षण ठीक नही--**'जहां अर्थ कछु श्लेष सों, उलट-फेर हो जाय' (पृ. ४९७)।**

उभयालकार २ हे--ससृष्टि तथा सकर। इनके भेदोपभेदो का वर्णन है, यहा वृत्ति पूर्ण है। अनेक लोगो के समान चित्रकाव्य तथा चित्र-भूषण को कवि जी एक ही समझे है। द्वादश तरग के अन्त मे (पृ० ५११ से ५२२ तक) उसका विस्तार है, इसको यहा लिखने का कोई कारण समझ मे नही आता।

विवेचन इन अलकारो के अनन्तर बिहारीलाल जी लिखते है —

"बहुत से अलंकार एसे है, जो लक्षणों और उदाहरणों से एक से प्रतीत होते है। यद्यपि उनमे अन्तर अवश्य है, तथापि वह अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म होन से वे समान ही प्रतीत होते है। अलंकारों के कई एक ग्रन्थों मे इनके अन्तर बतलाए गये है। 'भारती भूषण' और 'अलंकार-मंजूषा' ग्रन्थ जो एक नए ढंग की शैली से लिखे गये है, उनमें यथाविधि सदृश अलंकारों के भ्रम भली भांति निवारण किये गये है। उन्ही के मत से सहमत होकर हम यहां विद्यार्थियों के लिए उन अलंकारों का अन्तर लिखे देते है जो समझने मे समान प्रतीत होते है।" (पृ.५०७)

और इस कथन का फल है 'रूपक, वाचक-धर्म-लुप्ता का अन्तर', 'कैतवापन्हुति, द्वितीय पर्यायोक्ति', 'तीसरी तुल्ययोगिता, दूसरा उल्लेख', 'पहली तथा दूसरी तुल्ययोगिता और दीपक का अन्तर', 'लाट, यमक, दीपकावृत्ति का अन्तर', 'प्रतिवस्तूपमा, दृष्टात', 'अप्रस्तुतप्रशसा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति', 'विरोधाभास, दूसरा विषम', 'काव्यलिग, अर्थान्तरन्यास', 'प्रस्तुताकुर, गूढोक्ति', 'अन्योक्ति, गूढोक्ति', 'शुद्धापन्हुति, पर्यस्तापन्हुति', 'तृतीय सम, तृतीय-प्रहर्षण' (पृ० ५०८ से ५११ तक)। इस पुस्तक का सबसे अधिक लाभदायक अश यही है। और किसी सीमा तक यह प्रेरक पुस्तको से भी अधिक लाभदायक है क्योकि यहा सारे अन्तर एक साथ दे दिये है।

'साहित्य-सागर' मे अलकारो की वर्णनात्मक चर्चा है, फलत उदाहरणो का बोलबाला अधिक है, ये अलकार प्राय सरस नही है—इस युग मे किसी आश्रयदाता की अत्युक्तिपूर्ण प्रशसा पाठक निगल नही पाता। सन्देह (पृ० ३९७) तथा प्रस्तुताकुर (पृ० ४४२) के इतने अधिक और अनुपयुक्त उदाहरण पुस्तक मे भार बन जाते है। मुरारिदान बिहारीलाल से बहुत अधिक सफल थे।

अलकारो के लक्षण सामान्य ढग से ही लिखे गए है। उत्प्रेक्षा (पृ० ४०३) आदि मे पूर्व पुस्तको का प्रभाव है, लुप्तोपमा का विषय स्पष्ट है, अलकारो के अन्तर भी अपेक्षाकृत स्पष्ट है। नवीन अलकारो मे कोई प्रतिभा नही दिखलायी पडती। शब्दालकारो का क्रम अकारादि के आधार पर चुपचाप रखा हुआ है। बिहारीलाल ब्रजभाषा के भी अधिकारी कवि न थे। उनकी भाषा खडी बोली से सक्षत है, उनमे न अनुप्रास की छटा है न उक्ति-चमत्कार। अत. उनका वर्णन भी पाठक को अच्छा नही लगता।

कन्हैयालाल पोद्दार : अलंकार-मंजरी

(स० २००२)

'जसवन्त-जसोभूषन' की रचना के ३ वर्ष अनन्तर हिन्दी मे अलकार-शास्त्र पर एक दूसरी पुस्तक 'अलकार-प्रकाश' लिखी गई। इसके लेखक सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने २७ वर्ष उपरान्त सवत् १९८० मे इस पुस्तक को काव्यशास्त्र का पूर्ण ग्रथ बनाकर इसका नाम 'काव्य-कल्पद्रुम' रखा। आगे चल कर 'कल्पद्रुम' दो भागो मे, 'रस-मजरी' तथा 'अलकार-मजरी' के रूप मे, प्रकाशित हुआ। हमारे सामने इसका सवत् २००२ का सस्करण है। स० १९५३ से स० २००२ तक अर्द्ध शताब्दी की अवधि मे लेखक के विचारो मे उत्तरोत्तर प्रौढता आती गई, पुराने सस्करणो पर उसको आलोचको की सम्मतिया मिली, और समान-शास्त्र की अन्य रचनाओ को देखने का अवसर मिला--दूसरे किसी भी आचार्य को ये सुविधाए प्राप्त न थी। फलत 'अलकार-मजरी' वर्तमान रूप मे अपने विषय की सबसे उपादेय पुस्तक है। इसमे जो कमिया है, वे लेखक के दृष्टिकोण-विशेष के कारण ही, प्रमादवश नही, यथा, लेखक ने उदाहरण ब्रजभाषा के रखे है और उसकी विवेचना मे कसावट नही है, उसने उदाहरण दूसरो के ही नही दिये, स्वरचित तथा अनूदित भी प्रचुर परिमाण मे है। लेखक ने "सस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रथो के आधार पर" एक ऐसा ग्रथ बनाया है जिसमे विषय-प्रतिपादन मात्रैव उसका उद्देश्य नही रहा, प्रत्युत, विषय-विवेचन भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने लगा है। सस्कृत का ठोस आधार तथा आलोचनात्मक दृष्टि--ये दो इस पुस्तक के द्रष्टव्य गुण है।

प्राक्कथन

ग्रथ को प्रारम्भ करते ही भूमिका के रूप मे ५९ पृष्ठो का 'प्राक्कथन' है, उसमे लेखक ने 'काव्य मे अलकार का स्थान', 'अलकार क्या है', 'अलकारो के नाम तथा लक्षण', 'सस्कृत-साहित्य के प्राचीन अलकार-ग्रथ', 'अलकारो का क्रम-विकास', 'अलकारो का वर्गीकरण', तथा 'हिन्दी-साहित्य मे अलकार-ग्रथ' शीर्षको से जो प्रबध लिखा है, उसमे हमको 'अलकार साहित्य का सक्षिप्त इतिहास' मिल जाता है। इस प्राक्कथन का आधार सस्कृत के आचार्यो तथा विद्वानो मे ज्यो का त्यो आया है, स्थान-स्थान पर सस्कृत के उद्धरण भी है। अत इस 'इतिहास' मे कोई मौलिकता नही है, फिर भी पाडित्य स्पष्ट है। तालिकाओ द्वारा लेखक ने विषय के स्पष्टीकरण का पूर्ण प्रयत्न किया है। मुख्य बात यह है कि अलकार-साहित्य का इतिहास हिन्दी भाषा को प्रथम बार मिला है। जब हिन्दी भाषा मे अलकार-विषय की चर्चा चलती है तो पुराने आचार्यो का तो लेखक ने परिचय दे दिया है, परन्तु समसामयिको की रचनाओ मे यह बतलाया है कि अमुक कृति मे अमुक दोष है, अमुक मे अमुक कमी है, गुण किसी भी समकालीन आचार्य के नही बतलाये। दोष-दर्शन की यह प्रवृत्ति पडिताऊपन का ही प्रसाद है, जो तादृश लेखको मे सर्वत्र झलकता है--मुरारिदान, केडिया तथा पोद्दार

तीनो ही मे आत्मश्लाघा आधुनिक पाठक को क्षुब्ध बना देती है। पोद्दारजी ने अपनी कृतियो की प्रशसा तथा परकृतियो की निन्दा इस प्रकार की शब्दावली मे की है ––

'अलंकार-प्रकाश तथा काव्य-कल्पद्रुम के बाद अलंकार-विषय के जो हिन्दी में अन्य लेखकों द्वारा ग्रन्थ लिख गये है, प्रायः उनमें बहुत कुछ सामग्री लेखक के उक्त दोनों ग्रन्थो से ही ली गई है।' (प्राक्कथन, पृ. ५२)

शब्दालकार

'काव्य-कल्पद्रुम' के अन्तिम ३ स्तवक (अष्टम, नवम तथा दशम) ही 'अलकार-मजरी' है, क्योकि इनमे अलकार का विवेचन है––अष्टम मे शब्दालकार, नवम मे अर्थालकार, तथा दशम मे समृष्टि-सकर आदि।

शब्दालकार ६ है––वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्तवदाभास तथा चित्र। इनकी सख्या तथा क्रम मम्मट के अनुसार है––'काव्यप्रकाश' मे चित्र पहले है, 'अलकार-मजरी' मे पुनरुक्तवदाभास पहले है। प्रथम ३ अलकारो का विषय विस्तृत है और अन्तिम २ का सक्षिप्त––'चित्र' का महत्त्व तो स्वभावत नवीन सस्करणो मे कम होना गया है। वीप्सा, पुनरुक्तप्रकाश, या सिहावलोकन को इस कृति मे स्थान न मिला। मम्मट ने यमक के दो भेद सव्यपेत तथा अव्यपेत नही लिखे, परन्तु 'काव्यादर्श', 'अग्निपुराण', आदि मे इनका उल्लेख है। हमारा लेखक भी इनको न लिखता, परन्तु एक समकालीन आचार्य प० रामशकर शुक्ल की भूल दिखलाने के लिए इनका लिखना भी आवश्यक हो गया है ––

'रीति ग्रन्थों के कुछ आधुनिक प्रणेताओं ने भी उसी का अन्धानुसरण ही नहीं किया किन्तु कुछ का कुछ समझ लिया है।' (पृ. ८७)

सस्कृत के पाडित्य मे अतिविश्वासी लोगो की यह धारणा होती है कि उनके सभी कार्य शास्त्रानुमोदित हो, पोद्दार जी भी इसी वर्ग के है। उन्होने चित्र का अनादर खुली आखो देखा, परन्तु जब मम्मट उसको सक्षिप्त नही करते तो वे किस कलम से ऐसा कर दे। खोजने पर पडितराज जगन्नाथ का मत पक्ष मे जान पडा ––

'पंडितराज का कहना है कि इसे काव्य में स्थान देना ही अनुचित है। इसके अधिक भेद न दिखाकर एक उदाहरण देते है।' (पृ. १०९)

अर्थालकार

अर्थालकार नवम स्तबक मे है, इनकी सख्या १०० है। उपमा के कुछ भेद तो ग्राह्य समझ कर विस्तार से समझाये गए है, परन्तु अमुख्य भेदो का भी एक-एक उदाहरण दे दिया गया है। लेखक यह चाहता है कि उसकी पुस्तक सब प्रकार से पूर्ण हो, उसमे कोई बात रह न जावे, पाठक को कोई लाभ हो या नही। अर्थालकारो का क्रम मम्मट के ही अनुसार नही है। रसवदादि तथा ८ प्रमाण के अलकारो को यहा स्थान नही मिला। विरोध तथा विरोधाभास मे भेद नही है, दोनो एक ही है, 'असम' नाम का एक अलकार ऐसा है जिसको मम्मट ने तो नही दिया, परन्तु पोद्दार ने दे दिया है। नवीन अलकारो या नवीन अलकार-भेदो की कल्पना पोद्दार जी जैसा शास्त्रीय आचाय कर न सकता था। उसको तो सस्कृत मूल ग्रथो के अनुसार ही व्याख्या करनी थी। फिर भी मुरारिदान के समान इस लेखक ने 'परिवृत्ति' का

विपरीत 'अपरिवृत्ति' नामक एक नवीन अलकार स्वीकार किया है, **"परिवृत्ति में कुछ लेकर बदले मे कुछ दिया जाता है। यहां इसके विपरीत है, अतः ऐसे वर्णनों मे 'अपरिवृत्ति' अलंकार माना जा सकता है। यद्यपि 'अपरिवृत्ति' का पूर्वाचार्यो ने निरूपण नही किया है, परन्तु इस अपरिवृत्ति मे चमत्कार होने के कारण अलंकार मानना उचित अवश्य है।"** (पृ. २५९।) उदाहरण मे घनानन्द का एक चरण रखा है।

तुम कौन धौ पाटी पढ़े हो लला,
मन लेत हो देत छटांक नहीं॥

दशम स्तवक

शब्दालकार तथा अर्थालकार निरूपण के अनन्तर एक स्तवक (अन्तिम) अलकार सबधी दूसरी सामग्री के लिए आया है। समृष्टि तथा सकर की विवेचना करके शब्दालकार तथा अर्थालकार का पृथक्करण है, अन्त मे अलकार-दोष है। इस प्रकार यह पुस्तक अलकार-विषयक पूर्ण ज्ञान मे समर्थ है। लेखक का लक्ष्य प्रतिष्ठित का विवेचन है, अलक्षित की प्रतिष्ठा नही। अत उसकी मौलिकता निर्माण मे नही है, निर्मित के प्रदर्शन मे है।

अलकारो के लक्षण

'भारती-भूषण' के समान 'अलकार-मजरी' मे भी उदाहरणो के अतिरिक्त सारा विषय गद्य मे है—लक्षण भी तथा विवेचन भी। इन गद्य-लक्षणो मे पुरानी सभी शैलियो मे लाभ उठाया गया है—पदो का अर्थ, शब्दार्थ, शास्त्रीय लक्षण, तथा लक्षण की व्याख्या, ये चारो गुण उसने अपना लिये है। वक्रोक्ति का ही प्रारम्भ करते हुए लिखा है—'वक्रोक्ति का अर्थ है, वक्र उक्ति', फिर मम्मट के लक्षण का गद्यानुवाद है, अन्त मे उस लक्षण की व्याख्या है—'अर्थात् वक्ता ने जिस अभिप्राय से जो वाक्य कहा हो, उसका श्रोता द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाना।' अनुप्रास का लक्षण और भी अधिक विस्तार वाला है –

"अनुप्रास' पद 'अनु','प्र' और 'आस' से मिलकर बना है। 'अनु' का अर्थ है 'बारम्बार', 'प्र' का अर्थ है 'प्रकर्ष' और 'आस' का अर्थ है 'न्यास' (रखना)। अर्थात् वर्णो का बारम्बार प्रकर्षता से—पास-पास मे—रक्खा जाना।" (पृ.७०)

यह तो साक्षात् मुरारिदान तथा भानुकवि का सम्मिलित प्रभाव है, भले ही छोटे बच्चो को समझाने के लिए यह अधिक उपयोगी हो। उत्प्रेक्षा, प्रतीप आदि कुछ मुख्य अलकारो मे लक्षणो की यही शैली है, शेष मे शब्दार्थ तथा पदार्थ तो नही है, परन्तु शास्त्रीय लक्षण तथा व्याख्या अवश्य है। पोद्दार जी के लक्षण केडिया जी के लक्षणो से अधिक उपयुक्त तथा अधिक शास्त्रीय (कसे हुए) है, मुरारिदान, भानु कवि तथा भगवानदीन ने तो लक्षण भी पद्य मे लिखे थे।

अलकारो के भेद

पोद्दार जी अलकारो के भेदो मे बडे उदार है। उपमा के विषय मे ऊपर कह चुके है। अत्युक्ति भी औदार्य की, प्रेम की, सौदर्य की तथा विरह की बतलाई गई है। (दीन जी के समान ही)। श्लेष के आदि मे दो भेद किये गये है—सभग तथा अभग, फिर उनके तीन-तीन उपभेद है, अन्तिम उपभेदो के नाम देख कर ही हृदय मे कपन होता है—

'प्रकृत-मात्र-आश्रित-श्लिष्ट-विशेष्य-सभंग-श्लेष', या **'अप्रकृत-मात्र-आश्रित-श्लिष्ट-विशेष्य-अभंग-श्लेष।'** इस प्रकार के नामो से भय भी होना है तथा विस्मय भी, पाडित्य के प्रवाह मे युग की प्रवृत्ति डूब गई है।

अतिशयोक्ति के कम से कम ९ भेद है, और व्यतिरेक के २४ भेद। यदि आचार्य भेद-वृक्ष बना कर न दिखलाता तो पाठक इन भेदो को ग्रहण न कर सकता था। अब भी उप-भेदो की बारीकिया अलकारी विद्वानो को छोड कर दूसरे साहित्यिक के बस की नही है। आज के व्यस्त युग मे उपभेदो का कोई स्थान नही, वे 'अति' की टोकरी मे फेक दिये जाते है।

मोटे-मोटे भेदो को लिखते हुए पोद्दारजी का एक बडा लाभदायक कार्य है पाठक की जानकारी के लिए यह लिख देना कि अमुक भेद किस आचार्य ने स्वीकार किया है और किस ने इसका अन्यत्र अन्तर्भाव कर दिया है। इस प्रकार का लेख सूचना के रूप मे अलकार विवेचन के अन्त मे है। यथा, 'असगति' अलकार पर ४ सूचनाए निम्नलिखित है —

(क) कविप्रिया में असंगति को व्यधिकरणोक्ति नाम से लिखा है।

(ख) प्राचीन ग्रन्थों में असंगति का यही एक भेद है। 'कुवलयानन्द' में इसके और भी दो भेद लिखे है। (पृ.३२२)

(ग) पंडितराज का कहना है . . . . ."यहां असंगति नहीं, विरोधाभास है।" (द्वितीय असंगति पर, पृ. ३२३)

(घ) पंडितराज का कहना है कि यह तो कुवलयानन्द मे मानी गई पंचम विभावना का विषय है। (तृतीय असंगति, पृ. ३२४)

अलंकारों के उदाहरण

अलकारों के उदाहरण ३ प्रकार के है—स्वरचित, अनूदित, तथा अन्य-रचित। स्वरचित उदाहरणो की सख्या अधिक नही, परन्तु अनुवाद पर्याप्त है। अनुवाद सस्कृत काव्यो से भी है तथा लक्षण-ग्रन्थो से भी। लक्षण-ग्रन्थो मे अनुवाद करके उदाहरण रखना बडा हेय है। केडियाजी ने इसीलिए इसको बचाया था, क्योकि ऐसा करने से भाषा-ग्रथ हीन बना रहता है और ऐसा भी आभास मिलता है कि विवेचक मूल विषय को ठीक-ठीक ग्रहण न कर सका इसलिए उसने मक्षिकास्थाने मक्षिका अनुवाद करके रख दिया। पोद्दारजी ने अनुवाद का सहारा इसलिए लिया कि हिन्दी वालो का उनको ऋण न स्वीकार करना पडे, और सस्कृत छाया के कारण उनकी पुस्तक को अधिक गौरव मिले—दोनो ही धारणाए निर्मूल है। 'अलकार-मजरी' मे दूसरो के पद्य प्राय दोषो के उदाहरण बन कर ही आये है, यह एक पुरानी शैली थी। उदाहरण की दृष्टि से भगवानदीन का मार्ग सबसे स्वच्छ था—अच्छे-से-अच्छा और प्रसिद्ध-से-प्रसिद्ध स्वस्थ उदाहरण, चाहे वह किसी आचार्य या कवि का हो। केडियाजी ने अनुवाद तो नही किये, परन्तु आधे उदाहरण स्वय गढे है।

लेखक ने गद्य के उदाहरण नही दिये, और खडी बोली के भी एक-दो ही है। संस्कृत काव्यों में रघुवश तथा नैषध की ओर अधिक झुकाव है। हर्ष की बात यह है कि लेखक ने यह सकेत कर दिया है कि अमुक अनुवाद अमुक ग्रन्थ के अमुक स्थल का है।

भानुकवि ने अधिक-से-अधिक उदाहरण जुटाए थे, फलतः उनका ग्रन्थ दीर्घकाय बन गया था। केडियाजी ने भी प्रत्येक अलकार के कम-से-कम दो उदाहरण रखे थे। यहाँ ऐसी भूल नही है। एक अलकार का एक ही उदाहरण है, अवश्य ही प्रत्येक भेद तथा उपभेद के लिए भी एक-एक उदाहरण आया है।

मूल्याकन

'अलकार-मजरी' मे आचार्यत्व की अपेक्षा पाण्डित्य अधिक है, फलत अलकार-ज्ञान-मात्र के लिए पाठक इससे उतना लाभ नही उठा सकता जितना कि 'अलकार-मजूषा' से। इस पुस्तक मे विद्वत्ता की ओर जितना ध्यान है उतना सुगमता की ओर नही। वक्रोक्ति मे दूसरे की उक्ति का ही दूसरा अर्थ क्यो किया जाना चाहिये अपनी उक्ति का क्यो नही (पृ० ६९), श्लेष शब्दालकार है या अर्थालकार (पृ० ९५-९७), रूपक और अपन्हुति मे क्या अन्तर है (पृ० १८६), समासोक्ति तथा अप्रस्तुत-प्रशसा का भेद (पृ० २८५) आदि विषय तो सभी पाठको के लिए बडे लाभदायक है। परन्तु १० पृष्ठ मे श्लेष का दूसरे अलकारो से पृथक्करण, उदाहरण अलकार का स्वतन्त्र अस्तित्व, तादूरूपरूपक के लिए दूसरे आचार्यो के उदाहरण, अथवा परिकर के अलकारत्व पर विचार आदि विषय अधिक गूढ तथा शास्त्रीय बन गये है। सस्कृत के आचार्य अलकार-शास्त्र की रचना मे इस प्रकार के लबे तर्क उठाये करते थे, उस समय वह स्वाभाविक था, परन्तु आज आलोचना का क्षेत्र अलग है तथा प्रतिपादन का अलग; आज पोद्दारजी पुराने या समकालीन प्रत्येक आचार्य की स्वतन्त्र पुस्तकाकार आलोचना कर सकते है, परन्तु बेचारे अलकार-जिज्ञासु उनकी विद्वत्ता के बोझ को सहन नही कर सकते।

'मजरी' मे कुछ अलकारो का विस्तृत विवेचन है, उनकी सत्ता पर विचार है, समान अलकारो से अन्तर है, तथा अलकार-ध्वनि भी है। परन्तु कुछ अलकारो को लगे हाथ चलता कर दिया गया है, विचित्र, अधिक तथा अल्प आदि ऐसे ही है। सभव है सामान्य-अलकारो पर कम समय लगाया हो, और महत्त्वपूर्ण अलंकारो का विवेचन दीर्घ हो। सर्वथा ऐसा भी नही है, 'स्वभावोक्ति' अलकार के विषय मे सस्कृत मे कितना वाद-विवाद है, परन्तु पोद्दारजी ने आलोचना के नाम पर एक पक्ति भी न लिखी; इसी प्रकार 'भाविक' को भी बस दिखला ही दिया है।

अपरिवृत्ति को लेखक ने स्वीकार किया है और प्रतीप के विषय मे उसकी अपनी सम्मति है—'वस्तुत प्रतीप के प्रथम तीनो भेद उपमा के अन्तर्गत है और चतुर्थ भेद अनुक्त-धर्म-व्यतिरेक, एव पचम भेद एक प्रकार का आक्षेप अलकार है' (पृ. १४५)। परन्तु इनकी मौलिकता शास्त्रीय है—प्राय किसी-न-किसी सस्कृत आचार्य का भाषा रूप है। सामान्यत रसवादियो का अनुकरण है, फिर भी ध्यान यह रखा है कि कोई विषय छिन्न न होने पावे।

पोद्दारजी की पुस्तक समयोपयोगी अधिक नही। सस्कृत का अतिमात्रा मे प्रभाव, पाण्डित्य की लहर, ब्रजभाषा का मोह, तथा युग से अपरिचय इसके लिये उत्तरदायी है। पाण्डित्य की दृष्टि से 'अलकार-मजरी' हिन्दी मे अपने विषय की सबसे प्रौढ तथा प्रामाणिक रचना है।

रामदहिन मिश्र : काव्यदर्पण

(सन् १९४७ ई०)

स्व० पडित रामदहिन मिश्र ने वर्षों तक प्राच्य तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का अध्ययन एव मनन करके "काव्यालोक" अभिधेय ग्रन्थ ५ खडो मे तैयार करने की योजना बनाई थी, और 'काव्यालोक' का द्वितीय उद्योत छपकर साहित्यिको के सामने आया भी था । परन्तु इस योजना को समयसाध्य जानकर मिश्रजी ने "....**'काव्यप्रकाश' या 'साहित्यदर्पण' जैसा पांचों उद्योतों का सारांश लेकर एक ग्रन्थ प्रस्तुत किया .... जिसमे काव्यशास्त्र की सारी बातें नवीन विचारों और नवीन उदाहरणों के साथ ....**" रखी गई है । यह ग्रन्थ 'काव्य-दर्पण' है, जो नाम तथा सकल्प दोनो ही से 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' का समन्वय-सार प्रतीत होता है--'काव्यप्रकाश' के पूर्वाश 'काव्य', तथा 'साहित्यदर्पण' के उत्तराश 'दर्पण' के सयोग से 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्य-दर्पण' का दत्तक वशज 'काव्यदर्पण' नाम से विख्यात हुआ । 'अभिनव-साहित्य-शास्त्र' का यह ग्रन्थ १९४७ ई मे पहली बार छपा था ।

विशेषताएं

ग्रन्थ-रचना के सकल्प मे ही यह स्पष्ट है कि मिश्रजी इस ग्रथ मे **'काव्य-शास्त्र की सारी बातें नवीन विचारों और नवीन उदाहरणों के साथ'** रखना चाहते है', यही नवीनता इस रचना का प्राण है--विशेषत खडी बोली के नवीन कवियो से उदाहरण-सचय पर सभी पाठको का ध्यान जाता है । अस्तु, इस ग्रथ की मुख्य-मुख्य विशेषताये सामान्यत निम्नलिखित है --

(क) 'प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र की विवेचना को सम्मिलित रूप से अपनाकर, दोनो दृष्टिकोणो को देखकर ही कविता का स्वाद लेना ।' (आत्मनिवेदन, पृष्ठ 'क')

(ख) 'नवीन विचारो' के साथ-साथ विषय को स्पष्ट करने के लिए 'नवीन उदाहरणो' का ही उपयोग--नवीन कवियो तथा खडी बोली के उदाहरण ।

(ग) लेखक यह मानकर चला है कि 'पाश्चात्य विचार या सिद्धात चक्कर काटकर भारतीय सिद्धातो पर ही आ जाते है, इसलिये पाश्चात्य सिद्धात केवल तुलना की दृष्टि से ही इस पुस्तक मे आये है और सस्कृत के आचार्यों के आकर ग्रन्थो को ..... मूलाधार' माना गया है ।

(घ) यह ग्रन्थ समस्त काव्य-शास्त्र का विवेचन करता है, अलकार को अपेक्षाकृत गौण स्थान मिला है ।

(ङ) प्राचीन विषय को नवीन शब्दावली मे नवीन दृष्टिकोण से समझाने का प्रयत्न है । (आत्मनिवेदन, पृष्ठ 'ग')

(च) लक्षण सरल गद्य मे है, उदाहृत कठिन पद्यो का अर्थ दे दिया है; और गद्य मे ही उन पद्यो का लक्षण-समन्वय कर दिया है।

(छ) ऐसे उदाहरण प्राय नही आये, जो अन्यत्र उदाहृत है।

(ज) सर्वत्र 'तुलनात्मक दृष्टिकोण' है।

(झ) मराठी तथा बगला के आलोचना-ग्रन्थ तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओ से लेखक ने यथास्थान लाभ उठाया है।

इन विशेषताओ को ३ वर्गो मे रखा जा सकता है। प्रथम, वे जो दूसरो मे भी थी, यथा, समस्त काव्यशास्त्र का विवेचन, या गद्य मे लक्षण, गद्य मे 'लक्षण-समन्वय', या केवल ऐसे उदाहरण जो अन्यत्र न अपनाये गये हो। हम ऊपर कह चुके है कि अभिनव उदाहरणो की प्रवृत्ति विवेच्य विषय के प्रति न्याय नही कर सकती, दूसरे द्वारा उदाहृत छन्द यदि अच्छा है तो उसे अपनाने मे हीनता कौन सी आती है ? द्वितीय वर्ग मे युग की माग की नवीन विशेषताएं है, यथा नवीन कवियो तथा खडी बोली के उदाहरण वा तुलनात्मक दृष्टिकोण। इन गुणो के कारण मिश्रजी की कृति का महत्त्व सब स्वीकार करेगे। तृतीय वर्ग मे मिश्रजी का व्यक्तित्व है--'पाश्चात्य समालोचक या टीकाकार उस तत्त्व को अभी पहुच रहे है, जहा हमारे आचार्य बहुत पहिले पहुच चुके थे।' यदि यह सत्य भी हो कि हमारा साहित्यशास्त्र किसी समय अत्यन्त विकसित अवस्था मे था तो भी 'काव्यदर्पण' जैसी कृति मे इस तथ्य की निरन्तर दुहाई देना अनावश्यक तथा स्थानभ्रष्ट लगता है।

'काव्यदर्पण' की शैली

यह स्वाभाविक ही है कि 'काव्यदर्पण' अपने विषय की सर्वाधिक उपयोगी पुस्तक बन गई, समय की माग थी अभिनवता--पुराने विषय की नवीन शब्दावली से व्याख्या और स्पष्टीकरण के लिए नये कवियो के प्रसिद्ध काव्यो से उदाहरण। मिश्रजी को इस माग का भी ध्यान था तथा तुलनात्मकता का भी। यदि प्राचीन, नवीन तथा पाश्चात्य विद्वानो के विचारो को एक स्थान पर देखना हो तो 'काव्यदर्पण' की एक प्रति अपने पास बडे काम की है। लगभग ७०० पृष्ठ की पुस्तक मे यदि आधा लेखक का अपना है तो आधा दूसरे लोगो का। निश्चय ही विद्वान् लेखक ने बडा परिश्रम किया है पढकर, समझ कर और ठीक स्थान पर रखकर, और उसके इस परिश्रम से २० पुस्तके न पढकर १० विद्वानो के विचार रटकर हम जैसे लोग भी अपने पाण्डित्य मे झूम सकते है। परन्तु प्रत्येक पृष्ठ पर --

(क) इसी से मम्मट ने कहा है

(ख) दर्पणकार भी कहते है

(ग) दण्डी के कथनानुसार

(घ) लोचनकार को भी यह मान्य है

(ङ) कीट्स की भी यही उक्ति है

(च) वर्ड्सवर्थ का भी कहना है

(छ) शैली ने भी कहा है

(ज) प्लेटो भी कहता है

(झ) वाटसन बिहेवियरिज्म नामक ग्रन्थ में यह बात लिख चुका है

(ञ) हेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है

आदि वाक्य पाठक के धैर्य की परीक्षा लेने लगते है, तुलनात्मक दृष्टिकोण बडी अच्छी बात है परन्तु प्रतिपाद्य विषय तथा तुलनार्थ विषय का पारस्परिक क्या अनुपात होना चाहिए—यह भी स्वतत्र रूप से विचारणीय है; अन्यथा पडित पद्मसिह शर्मा की तुलनात्मक आलोचना के समान तुलना प्रतिपाद्य विषय पर अपना आतक जमा लेगी।

मिश्रजी ने कहने को तो पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के ज्ञान से भी लाभ उठाया है परन्तु जिज्ञासु की भावना से वे उसके पास नही गये, यह मानकर चलना कि सब कुछ अपने यहा था, व्यक्ति की भावना को कभी भी परिष्कृत नही कर सकता। यदि यह ठीक है कि "आठ-नौ सौ वर्ष पहले अभिनवगुप्त अपनी आलोचना मे जो बातें लिख गये है वे आधुनिक युग की पाश्चात्य आलोचना मे पाई जाती है", तो इस स्थापना का कोई मूल्य नही कि "पाश्चात्य आलोचना का अनुशीलन प्राच्य रसतत्त्व के समझने मे कभी सहायक नही होगा।" ज्ञान, सत्य के जन्म का नही, सत्य के अनावरण का नाम है, वह सब देशो तथा सब कालो मे समान रूप से सभव है क्योकि स्वस्थ जिज्ञासा सर्वदा जीवित रहती है, भले ही सर्वत्र वह सशक्त न बनी रह सके, नव अनावृत्त सत्य की व्याख्या पुरानी शब्दावली मे करना अनैसर्गिक है—अनैतिहासिक है, स्वाभाविक क्रम है पुराने ज्ञान (पूर्व अनावृत्त सत्य) को नवीनतम शब्दावली से समझना और समझाना, ज्ञान के क्षेत्र मे विकास का ऐसा ही रूप दिखलाई पडता है।

'काव्यदर्पण' की भूमिका रूप मे 'काव्यशास्त्र की भूमिका' ९४ पृष्ठो मे लिखी गई है, जहा लेखक की प्राच्य आचार्यो के प्रति श्रद्धा तथा पाश्चात्य आचार्यो के प्रति तिरस्कार की भावना मिलेगी, 'उपक्रम' मे ही आनन्दवर्द्धन, दण्डी, और मखक के लिए आदरसूचक शब्द व्यवहृत है परन्तु प्लेटो के लिए इसका विपरीत है[१]—"हम भारतीयो के लिये यह गौरव की बात" शायद नही है। लेखक ने पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रति सद्भावना रखने वाले साहित्यिको को वेधडक "अधकचरे समालोचको का अवतार" कहा है, और वर्त्तमान अधोगति का कारण "प्राचीन आचार्यो की अवहेलना" को ही माना है, उसने दूसरे समसामयिक भारतीय साहित्यिको के "आक्षेपो' का उत्तर लगभग इस प्रकार की शब्दावली मे दिया है

(क) आपके मस्तिष्क मे पाश्चात्य विचार उछल-कूद मचा रहे है, और हाथ में कलम है, जो चाहे कह डालें और लिख डालें। (१०)

(ख) आप रूढ़ियों को तोड़ दें; अंधविश्वास को अंधे कुएं में डाल दें, अतीत को

---

(१) **आनन्दवर्द्धनाचार्य ने .....यह प्रश्न किया है।**
आचार्य दण्डी कहते है।
मंखक कहते है।
प्लेटो भी कहता है।

तलातल में उतार दें और प्राचीन परम्पराओं को परलोक में पार्सल कर दें, यदि समाज का मंगल हो। (१५)

(ग) यह तो लेखनी के साथ बलात्कार है। (४)

ये उन 'आक्षेपों' के उत्तर हैं जो दूसरे आलोचको की सम्मति रूप मे साहित्य के विषय मे सामान्यत आये है, यदि कोई आलोचक मिश्रजी की आलोचना के गुण-दोष निकालता तो वे उस पर कैसा प्रहार करते––यह भी सोचना है। किसी समीक्षक ने लेखक के 'काव्यालोक' की समीक्षा करते हुए कहा था कि "इसमे पडिताऊपन अधिक है", क्या वह कथन शेष रचनाओ पर भी लागू नही होता ? यदि असीम अध्ययन के साथ-साथ मिश्रजी का दृष्टिकोण भी उदार होता तो उनके परिश्रम से हिदी साहित्यशास्त्र के लाभान्वित होने की आशा थी।

काव्यदर्पण की विषय-वस्तु

'काव्यदर्पण' समस्त काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है; इसमे १२ 'प्रकाश' है। प्रथम मे 'काव्य' का सामान्य परिचय है––'साहित्य', 'काव्य', 'शास्त्र' की व्याख्या, काव्य के फल, काव्य के कारण, काव्य क्या है, काव्य-लक्षण परीक्षण, कवि-कविता और रसिक। द्वितीय प्रकाश मे 'अर्थ' का परिचय है––शब्द, शब्द और अर्थ, शब्द-शक्तिया। तृतीय प्रकाश मे 'रस' परिचय है––रस-रूप की व्याख्या, रस के उपकरण, भाव, रसविषयक प्रश्न, रस और मनोविज्ञान, रस-समस्या, रस-सामग्री विचार। चतुर्थ प्रकाश मे एकादश रसो का विवेचन है। पचम प्रकाश मे रसाभास आदि तथा षष्ठ प्रकाश मे ध्वनि का परिचय है। सप्तम मे काव्य के रूप, अष्टम मे दोष, नवम मे गुण, दशम मे रीति, एकादश तथा द्वादश मे अलकार-विषय है।

अपने वर्ग के दूसरे ग्रन्थो की अपेक्षा 'काव्यदर्पण' मे आलोचना के अश अधिक है और वे भी प्राय उन विषयो को लेकर जो विद्यालयो मे परीक्षा की दृष्टि से विवेच्य माने जाते है––काव्य, रस तथा अलकार––लेखक ने तीनो के लिए ३ नये 'प्रकाश' लगाये है। विषय का क्रम सामान्यत 'साहित्यदर्पण' के अनुकूल है।

ध्वनि, दोष, गुण तथा रीति पर लेखक उतनी गहराई तक नही गया, कदाचित् इन विषयो की विद्यालयो मे उतनी माग न थी। फिर भी 'अभिधा के साथ बलात्कार' वह सहन न कर सका। दोष-प्रकरण मे लिगदोष, वचन-दोष, ग्राम्य दोष (शब्द दोषो मे) आदि का विवेचन सभी को सर्वाश मे मान्य नही हो सकता। अर्थ-दोषो मे विद्या-विरुद्ध, साकाक्ष आदि के उदाहरण भी मिश्रजी का या तो पक्षपात दिखाते है या असामर्थ्य। लेखक ने नवीन उदाहरण लेकर तो अच्छा काम किया, परन्तु दूसरो द्वारा उदाहृत पद्यो को न लेने की प्रतिज्ञा या उसका अनभिनव व्यक्तित्व नवीन आभा के प्रति न्याय नही कर सका है।

अलकार-विषय

'काव्यदर्पण' के अन्तिम २ प्रकाशो मे अलकार विषय है। एकादश प्रकाश मे 'अलकार' का सामान्य परिचय तथा विवेचन है, द्वादश प्रकाश में अलकार-भेदो का

वर्णन है। एकादश प्रकाश मे अलकार के लक्षण, काव्य मे अलकारो की स्थिति, वाच्यार्थ और अलकार, अलकारो की सार्थकता, अलकारो के रूप, अलकार के काय, अलकारो का वर्गीकरण, अलकार और मनोविज्ञान तथा अलकार के ३ रूप है। अन्य विवेचन-मुख्य प्रकाशो के समान यहा भी अपार सामग्री एकत्र की गई है, जिससे लेखक के परिश्रम का ज्ञान तो होता ही है, पाठक को भी कुछ लाभदायक बाते मिल जाती है। परन्तु शैली से सन्तोष नही होता। सस्कृतज्ञ तो मूल मे सब कुछ पढ सकता है, परन्तु सस्कृत-ज्ञान-शून्य पाठक इस 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' (अथवा 'मक्षिका स्थाने मूषक') अनुवाद से क्या करे ; उसको तो कुछ पल्ले नही पडता। प्रथम वाक्य ही देखिये--"**अलम् का अर्थ है भूषण; जो अलंकृत---भूषित करे वह है अलंकार; जिसके द्वारा अलंकृत किया जाय इस करण व्युत्पत्ति से उपमा आदि का ग्रहण हो जाता है।**" वामन की वृत्ति का यह अनुवाद न तो अलकार का लक्षण है न अलकार का स्पष्टीकरण। आगे चलकर (पृ० ३२१) दण्डी की आलोचना करते हुए लेखक इस ऐतिहासिक तथ्य को भुला देना चाहता है कि दण्डी के समय मे गुण तथा अलकार का स्वतत्र व्यक्तित्व अर्वाचीन अर्थ मे विकसित न हो पाया था। एकादश प्रकाश की १० छायाओ मे अलकार-विषय के अनेक प्रश्नो पर विचार करके 'काव्यदर्पण' ने छात्रो का हित किया है, फिर भी पचम छाया मे लेखक का दृष्टि-कोण सहानुभूतिपूर्ण नही रहा---प्रत्येक यग मे साम्य का आधार एक ही नही हो सकता, युग-भेद से सामग्री-भेद स्वाभाविक है, क्योकि प्रत्येक युग की परिस्थितिया एक नही हो सकती। लेखक मे सकलन-सौष्ठव अधिक है, विवेचन-प्रतिभा कम। कोई भी विषय आदि से अन्त तक अपने आप मे पूर्ण नही है।

द्वादश प्रकाश

बारहवे प्रकाश मे १७ छायाये है। प्रथमा छाया मे ७ शब्दालकार है---अनुप्रास (छेक, वृत्ति, श्रुति, लाट तथा अन्त्य), यमक, पुनरुक्ति, पुनरुक्तवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति, (श्लेष तथा काकु), और श्लेष (अभग तथा सभग)। शब्दालकारो के लक्षण-उदाहरण ही है, प्राय उदाहरणो को लक्षणो मे घटाया भी नही गया, पुनरुक्ति तथा वीप्सा के लक्षण तथा दो-दो उदाहरण देकर उनको विदा कर दिया गया है, श्लेष के साथ भी ऐसा ही व्यवहार है। अन्त मे रामदहिन लिखते है, 'शब्दालकारो मे प्रहेलिका, चित्र आदि भी शब्दालंकार है,' इस कथन का आशय समझ मे नही आया 'शब्दालकारो मे . शब्दालकार है' क्या मतलब----शब्दालकारो मे शब्दालकार क्या होते है? चित्र शायद इसलिए नही दिया कि आजकल कवि इसको लिखते नही है, परन्तु भाषा-समक तो आज भी अप्रिय नही।

अलकारो का ऐसा सक्षिप्त अध्ययन अन्यत्र देखने मे नही आया, इतना उपेक्षित, इतना चलता हुआ, सस्कृत के उदाहरण भी यहा नही है। शका होने लगती है कि यह विषय किसी दूसरे ने तो नही लिखा। यदि मिश्रजी जीवित होते तो मै उनसे पूछता कि महाराज अन्तिम समय में अग्रेजी का ऐसा क्या शौक लगा कि अलकार-प्रकरण मे सस्कृत को छुट्टी देकर अग्रेजी को उसके स्थान पर नियुक्त कर दिया---अलकारो के नाम ही नही,

समस्त पारिभाषिक शब्द ही नही, 'ध्वनि' तथा 'अर्थ' के भी अंग्रेजी नाम दे दिये है; क्या यह सोचा था कि हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होने जा रही है, अंग्रेजी पढे-लिखे भी हिन्दी-काव्य-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया करेंगे, उनको अंग्रेजी पर्यायो से विषय-बोध मे सुगमता होगी ? हमारा व्यक्तिगत विचार है कि अंग्रेजी पर्याय भारतीय पाठक के लिए विषय-बोध मे सहायक नही होते, प्रत्युत उसको भुलावे मे डाल सकते है--प्रत्यनीक का **राइवलरी,** परिसख्या का **स्पेशल मेंशन,** एकावली का **नैकलेस,** व्याघात का **फ्रस्ट्रेशन,** तथा समासोक्ति का **स्पीच आफ ब्रीविटी** पर्याय हास्यास्पद ही है।

दूसरी छाया से सोलहवी छाया तक ७७ अर्थालकार है, प्रत्येक का अंग्रेजी पर्याय दिया हुआ है। लक्षण गद्य मे है, फिर प्राय एक से अधिक खडी बोली के उदाहरण है; कही-कही जब उदाहरण का छन्द इतना बडा होता है कि पाठक को गोता मारने पर भी उसमे अभीष्ट अलकार नही मिलता, तो लेखक सकेत कर देता है कि वह देख लो अमुक अलकार चमक रहा है। भेदोपभेद कम नही है, पोद्दारजी जैसी उदारता तो, खैर, है नही। व्याख्या तथा लक्षण-उदाहरण-समन्वय का अभाव खटकता है, सन्देह आदि सामान्य एव सरल अलकारो के इतने उदाहरण व्यर्थ है। यदि भानुकवि तथा भगवानदीन के समान समान प्रतीत होनेवाले अलकारो का पारस्परिक अन्तर भी लिख दिया जाता तो विवेचनकी कमी न मालूम पडती। लेखक ने प्राय रुय्यक तथा विद्याधर के अर्थालकार-वर्गीकरण को अपनाकर एक वर्ग के अलकारो को एक 'छाया' मे स्थान दिया है, यह प्रणाली वैज्ञानिक है। परन्तु वर्गीकरण को कही बतला दिया होता तो अच्छा रहता, पाठक से यह आशा करना कि वह वर्गीकरण के सिद्धातो को जानता है और सभी वर्गो के नाम तथा उनकी विशेषताओ से परिचित है, अत्याशा मात्र है--यदि वह इतनी बाते जानता तो आपके इस प्राथमिक विवेचन मे समय क्यो लगाता ?

सत्रहवी छाया मे 'पाश्चात्य अलकार' है, १० पक्तियो मे इनकी भूमिका है, तदनन्तर मानवीकरण, ध्वन्यर्थ-व्यजना तथा विशेषण-विपर्यय या विशेषण-व्यत्यय के लक्षण-उदाहरण है, उदाहरणो की सच्ची भरमार इसी छाया मे है, पुराने कवियो मे भी इन अलकारो की खोज इनके स्वरूप को अनिश्चित कर देती है--पुराने कवियो मे यदि ये अलकार है तो पुराने आचार्यो से इनका सौदर्य अलक्षित क्यो रह गया ? इसलिये न कि वे इनमे सौदर्य नही समझते थे, या पुराने प्रयोगो से आकृति-साम्य होते हुए भी नवीन प्रयोगो का प्रवृत्ति-भेद है। हम तो यह सोचते थे कि मिश्रजी इन 'पाश्चात्य अलकारो' का भारतीय अलकारो मे ही अन्तर्भाव कर लेगे, क्योकि पाश्चात्य आलोचना "चक्कर काट कर इन्ही सिद्धातो पर" आ जाती है।

मूल्याकन

मिश्रजी समन्वय-बुद्धि के रसवादी आचार्य है। उन्होने अलकार को काव्य का उत्कर्ष-हेतु माना है, परन्तु उसकी मात्रा पर सयम का प्रतिबन्ध लगा दिया है--'रचना मे कल्पना, अलकार आदि को वही तक प्रश्रय देना चाहिए, जहा तक भाव को सुरूप बनाया जा सके, अन्यथा भाव का सौदर्य नष्ट हो जाता है'। फलतः अलकार विषय

का विवेचन भी उपेक्षित रहा। 'काव्य-दर्पण' जैसी रचना मे अलकार का ऐसा अति सामान्य विवेचन खटकता है। अलकार की दृष्टि से 'काव्यदर्पण' सम-सामयिक रचनाओ से बहुत पीछे रहता है, उसमे एक ही विशेषता है नवीन उदाहरण, शेष सभी दोष है। जिन विशेषताओ को पूर्ववर्त्ती आचार्य अपना चुके थे उनको भी यदि मिश्रजी अपनाते तो उनकी कृति उपादेय हो सकती थी।

'काव्यदर्पण' के सकल्प से जो आशा की जाती थी वह पूरी न हो सकी। इस रचना मे अध्ययन तथा परिश्रम की कमी नही (परन्तु अलकार-प्रकरण मे अध्ययन तथा परिश्रम भी नही है), किन्तु मनन, स्वतत्र सूझ अथवा मौलिकता का अभाव है। रामदहिन मिश्र यदि दूसरो के 'अधकचरे' ज्ञान की आलोचना ही करते तो अधिक सफल बने रह सकते थे, 'काव्यदर्पण' और विशेषत एकादश तथा द्वादश 'प्रकाश' (अलकार-प्रकरण) से उनकी कीर्त्ति मे किसी प्रकार की वृद्धि नही होती।

उपसंहार

केशवदास से रामदहिन मिश्र तक साधत्रय शताब्दियो की इस दीर्घ अवधि मे हिन्दी के आचार्यो ने अलकार-विषय पर जो कुछ लिखा है उसका आधार सस्कृत-भाषा के अलकार-ग्रन्थ ही है। मौलिक उद्भावना, साधिकार विवेचन, तथा ऐतिहासिक विवरण का नक्षत्र जब पण्डितराज के साथ अस्त हो गया और विद्वानो ने यह समझ लिया कि सस्कृत-सग्रह-ग्रन्थो के निर्माण की अपेक्षा सस्कृत-रक्षित ज्ञानराशि को भाषा-पाठको के हेतु सुलभ कर देना अधिक वरेण्य है, तो सस्कृत-अलकार-ग्रन्थो की छाया मे भाषा-ग्रन्थो की रचना होने लगी। इस उपक्रम का श्रेय आचार्य केशवदास को है। केशवदास जगन्नाथ के समान पण्डित न रहे हो परन्तु ध्वन्युत्तरकाल के वाग्भट-द्वय, हेमचन्द्र, केशवमिश्र तथा जगन्नाथोत्तर काल के दर्जनो सस्कृतज्ञो मे कम प्रतिभाशाली वे न थे। यदि वे चाहते तो सस्कृत भाषा मे भी काव्यशास्त्र की पुस्तक लिख सकते थे और सस्कृत-छाया को भाषा-रूप देने मे जो क्लिष्टता उनकी शैली मे आई है वह सस्कृत-रचना मे न भी आती, परन्तु समय की गति को पहिचानकर अपने अह को दवाते हुए भी उन्होने अपनी पुस्तकें भाषा मे लिखी। केशव मे सस्कृत और भाषा का अपूर्व योग है, सक्रान्ति-काल का दायित्व भी उनके व्यक्तित्व को निरोज नही कर सका है। सम्भव है केशव की प्रतिभा अविरल अध्ययन तथा मनन का ही नैसर्गिक परिणाम हो, तो भी उत्तरकालीन सभी आचार्यों से वे दो इच ऊचे है। वे काव्य मे अलकार को एक विशेष महत्त्व ही नही देते प्रत्युत उनका 'अलकार' प्रभावक-धर्म-मात्र का ही नाम है, इस विशेष अर्थ का उत्तर आचार्यो ने न तो ग्रहण किया और न वे उसका खण्डन कर सके––उपेक्षा का तो प्रश्न ही नही आता। यदि केशव के ग्रन्थो का, अध्ययन और मनन के उपरान्त, वृत्तिसहित सम्पादन किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि केशव से आतकित होकर उनको बुरा-भला कहना आवश्यक नही, उनके पाण्डित्य की थाह लेकर उनसे सीखा भी बहुत कुछ जा सकता है।

केशव के उपरान्त हिन्दी-अलकार-साहित्य के दो युग बनते है। प्रथम युग जसवन्त-सिह से गगाधर तक के आचार्यो का है, साहित्य के इतिहास मे इसको रीतिकाल कहते है, यह माध्यम की दृष्टि से ब्रजभाषा-पद्य का युग था। इस काल के आचार्य कवित्व की भावना और ज्ञान-प्रदर्शन की दृष्टि से रचना करते थे, पाठको की माग उनकी दृष्टि में उतनी नही थी। परन्तु दूसरा युग, जो मुरारिदान से रामदहिन मिश्र तक फैला हुआ है, गद्य का काल है, इस युग के आचार्य कवि नही थे उनको पाठक की रुचि का अवश्य ध्यान था।

रीतिकाल के अलकारियो की तीन स्वतत्र प्रवृत्तिया है। प्रथम प्रवृत्ति के आचार्य, दूलह के शब्दो मे, 'अलकृती' कहे जा सकते है, इनका उद्देश्य पाठक को अलकार का ज्ञान कराना मात्र था, जसवतसिह, दूलह पद्माकर आदि इसी प्रवृत्ति के प्रतीक है। इनमे 'चन्द्रालोक' के उपजीवी 'कुवलयानन्द' का शतप्रतिशत प्रभाव है––मान्यता मे, अलकार-

संख्या मे, शैली मे, और उद्देश्य मे। यह आश्चर्य की सी बात है कि इस कोटि के आचार्य अधिक प्रसिद्ध नही माने गए, फिर भी इनकी सख्या दर्जन से कुछ अधिक ही है।

रीतिकाल मे दूसरी प्रवृत्ति 'करतारो' की दिखलाई पडती है। इनका ध्येय वर्णन था, अलकार या काव्यागो का परिचय नही, अत इन के उदाहरण रसपूर्ण है, उतने उपयुक्त नही। मतिराम ने आश्रयदाता की प्रशसा मे शृगार-रस के उदाहरण रचे, भूषण ने अपने आश्रदाता के उत्साह-वर्द्धन-हेतु वीर रस को अपनाया, लछिराम ने 'रामचन्द्र जस-रासी' के यश का वर्णन किया। यह सयोग-मात्र ही कहा जायगा कि इस प्रवृत्ति के कवि केवल अलकार -विषय के ही उदाहरण प्रस्तुत करते रहे।

कुलपति मिश्र, देव और दास मे उस युग की तीसरी प्रवृत्ति मिलती है, दूलह ने इस प्रकार के साहित्यिको को 'सत्कवि' कहा है। इन कवियो ने प्रयत्न यह किया है कि 'अलकृतियो' और 'करतारो' के गुणो का अपनी शैली मे मिश्रण कर दे। इनकी विवेचना अलकार-विषय तक ही परिसीमित नही है। अनकाग-निरूपण के अतिरिक्त इन आचार्यो की कोई अन्य विशेषता नही दिखायी पडती, ये न सफल 'अलकृती' है और न रसपूर्ण 'करतार'।

मध्ययुग के आचार्यों की मुख्य विशेषता तो व्रज-भाषा पद्य का प्रयोग है, विवेचन का नितान्त अभाव, रस और अलकार मे से कभी एक और कभी दूसरे को मुख्यता-प्रदान, काव्य-प्रकाश साहित्य-दर्पण और चन्द्रालोक-कुवलयानन्द की निरन्तर छाया तथा रचना-मात्र के लिए पुस्तक-निर्माण इनके अन्य गुण है। लगभग दो शताब्दियो मे एक भी व्यक्ति ने लीक-पीटने के स्थान पर कोई नया कदम नही उठाया, कुछ कवि तो अलकार के लक्षण स्वय भी न जानते थे, उदाहरण लक्षणो मे ठीक ठीक नही घटते और एक ही कवि की दो रचनाएं विचारो का अनैक्य दिखलाती है। वस्तुत प्राचीनो को प्रमाण मान कर उनका यथासम्भव अनुकरण ही उस काल का युगधर्म था। फिर भी उस युग का दृष्टिकोण सराहनीय है। सस्कृत का मोह छोडकर भाषा का माध्यम इस युग के कवियो ने अपनाया, फलत. जन-जन काव्य-शास्त्र के रहस्यो से परिचित हो गया, जिस प्रकार अध्यात्म की अहर्निश चर्चा सुनते-सुनते भक्तिकाल की जनता किसी न किसी अश मे सासारिकता से ऊची उठ गयी थी उसी प्रकार इस युग का साहित्यिक ही नही प्रत्युत सामान्य पाठक भी सौदर्यशास्त्र की व्याख्या मे डुबकी लगाता-लगाता सौदर्य की विभिन्न विधाओ से परिचित हो गया था---उपमा और अनुप्राम की परख तो अशिक्षित जनो को भी थी। सौदर्य का यह आदोलन उस युग की एक प्रमुख विशेषता है।

गद्यकालीन आचार्यो मे जो सन्धि काल के है उनमे नवीन सस्कारो की झलक है परन्तु प्रभाव प्राचीन सस्कारो का ही है। नवीन सस्कारो से हमारा अभिप्राय नवीन वातावरण मे अलकार-शास्त्र की चर्चा से है। पाठक सस्कृत का विद्वान् न था परन्तु अग्रेजी जानता था, या अग्रेजी ढग की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया से परिचित था। फलतः गद्ययुगीन आचार्य का प्रयत्न माग के अनुसार पुस्तक को उपयोगी बनाना है। इस शताब्दी मे युग की माग बदलती रही, अत. प्रत्येक नया आचार्य एक नयी तथा सरल शैली

लेकर आया। व्याख्या के लिए केवल गद्य का प्रयोग, तथा खडी बोली के उदाहरण इस क्षेत्र की आद्यवत्ता है; भेदोपभेदो के व्यामोह से मुक्ति दिलाकर केवल मोटे-मोटे तथा अत्यन्त उपयोगी अलकारो के लक्षण-उदाहरण लिखकर आचार्य अधिक लोकप्रिय हो सकता है, व्याख्या के साथ ही तुलनात्मक आलोचना अधिक आकर्षक लगती है। प्रत्येक आचार्य की स्वकीय विशेषताओ का हमने यथास्थान उल्लेख कर दिया ह।

गद्यकालीन अलकार-शास्त्र पर दृष्टि डालने से ऐसा लगता है मानो पाठक अब अलकार से अतितृप्त हो चुका है, उसके पास इन गुत्थियो को समझने का समय नही है, अत आचार्य को इस कार्य से विरत हो जाना चाहिये। अग्रेजी मे इस प्रकार की सूक्ष्मताएँ नही है, फिर हिन्दी मे ही इनको क्यो रहने दिया जाय ? और जिस शास्त्र का मन्थन सहस्र वर्षो से हो रहा है, उसमे आकर्षक नवीनता अब कहा रह गई ? प्रथम आपत्ति का कोई उत्तर नही क्योकि अविकसित की देखादेखी विकसित मे काट-छाट जीवन की अस्वीकृति है——अविकसित मे विकास जीवन का चिन्ह है, परन्तु विकसित को लौटाकर अविकास की ओर लाना साक्षात् मरण ही माना जायगा। दूसरी आपत्ति आज ही नही पहिले भी उठ रही थी, परन्तु पहिले उसका रूप भिन्न था। केशव ने अलकार-शास्त्र को इसीलिये एक नया स्वरूप——भाषा का माध्यम प्रदान किया था, और तत्कालीन सभी आचार्य अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उस शास्त्र के अग या अगो की व्याख्या करते रहे थे। इस युग मे भी विद्रोह के साथ-साथ विकास भी हुआ है। आज भी इस प्रकार के ग्रन्थ की नितान्त आवश्यकता है जो केवल हिन्दी को आधार मानकर अप्रचलित विधाओ का त्याग तथा नवप्रचलित विधाओ की स्वीकृति-पूर्वक अलकार-शास्त्र मे फिर से ताजगी लादे और सौदर्य को मजूषा से निकालकर मर्मज्ञो के सामने रख दे। आशा है सौदर्य-जगत् मे इस प्रकार की प्रतिभा का उदय शीघ्र ही होगा।

परिशिष्ट

संस्कृत-आचार्यों के अलंकार-विषयक विचार

(हिन्दी छाया सहित)

भरत

उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ १६।४३॥
(उपमा, दीपक, रूपक तथा यमक––काव्य के ये चार अलकार माने गये हे ।)

भामह

न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥ १।१३।
(सुन्दर होने पर भी भूषण के बिना नारी के मुख पर कान्ति नही आती ।)
न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राऽभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः ॥१।३६॥
(प्रकृत रूप से वाणी मे सुन्दरता नही आती, वाणी की चारुता के लिए वक्र नाम की शब्दोक्ति इष्ट है ।)
सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते ।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ॥ १।५४॥
(जिस प्रकार मालाओ के बीच मे नील पलाश भी मनोहर बन जाता है उसी प्रकार परिशेष-विशेष के कारण दुरुक्त भी सुन्दर लगता है ।)
किञ्चदाश्रयसौदर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कांताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥१।५५॥
(कभी-कभी असाधु भी आश्रय के सौन्दर्य से शोभा प्राप्त करता है, जिस प्रकार कान्ता के नेत्रो मे लगा हुआ काला अजन ।)
अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे ।
इति वाचामलंकाराः पंचैवाऽन्यैरुदाहृताः ॥ २।४॥
(अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक तथा उपमा––ये पाच ही अन्यो ने वाणी के अलकार माने है ।)
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना । २।८५॥
(वह सब वक्रोक्ति ही है जिसमे अर्थ मे आभा आती है, कवि को इसमे प्रयत्न करना चाहिए, इसके बिना किस अलकार का अस्तित्व सम्भव है ।)
हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाऽभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥२।८६॥

(हेतु, सूक्ष्म तथा लेश मे अलकारता नही है, इनमे समुदाय का अभिधान है, वक्रोक्ति नही ।)

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ॥
इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ॥ २।८७ ॥

(सूर्य छिप गया, इन्दु शोभित हो रहा है, पक्षी अपने नीडो को जा रहे है--इत्यादि मे काव्यत्व क्या है ? यह तो वार्ता या यथार्थ कथन है ।)

स्वभावोक्तिरलकार इति केचित् प्रचक्षते ।१।९३।

(कुछ लोग कहते है कि स्वभावोक्ति एक अलकार है ।)

वरा विभूषा संसृष्टिर्बहवलङ्कारयोगतः ।३।४९॥

(ससृष्टि उत्तम विभूषण है, इसमे बहुत अलकारो का योग होता है ।)

अनलङ्कृतकांतं ते वदनं वनजद्युति ।३।५१॥

(कमलवत् कान्तिवाला तेरा मुख अनलकृत होने पर भी सुन्दर है ।)

आशीरपि च केषाञ्चिदलङ्कारतया मता । ३।५५॥

(कुछ लोगो के मत मे आशी भी अलकार है ।)

वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते । ५।६६॥

(वक्रार्थ शब्दोक्ति वाणी का अलकार बन जाती है ।)

इयं चन्द्रमुखी कन्या प्रकृत्यैव मनोहरा ॥
अस्यां सुवर्णालङ्कारः पुष्णाति नितरां श्रियम् ॥६।३०॥

(यह चन्द्रमुखी कन्या स्वभाव से ही मनोहर है, इसपर सुवर्ण के अलकार अत्यन्त शोभा के कारण बनेगे ।)

दण्डी

काव्यं कल्पान्तरस्थायी जायते सदलंकृति । १।१९॥

(सदलकृत काव्य चिरस्थायी हो जाता है ।)

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहति भूयसा ॥१।६२॥

(सब अलकार अर्थ मे रस का पर्याप्त सिचन करते है, तो भी रस-सिचन का अधिकतर भार अग्राम्यता पर है ।)

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।२।१॥

(काव्य-शोभा के सपादक धर्मो को अलकार कहते है ।)

स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ।२।८॥

(स्वभावोक्ति या जाति सर्वप्रथम अलकार है ।)

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।२।१३॥

(स्वभावोक्ति का शास्त्र मे साम्राज्य है, काव्यो मे भी आदर है ।)

उपमैव तिरोभूतभवा रूपकमुच्यते ।२।६६॥

(अप्रस्तुत-प्रस्तुत का भेद तिरोहित हो जाने पर उपमा ही रूपक कहलाती है ।)

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् ।२।२३५॥
(हेतु, सूक्ष्म तथा लेश वाणी के उत्तम भूषण है।)
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
(प्राय सब वक्रोक्तियो मे श्लेष श्री का पोषक है।)
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ २।३६३॥
वाङ्मय के दो भेद है—स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति।

वामन

काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ।१।१।१॥
(अलकार के कारण ही काव्य ग्राह्य होता है।)
सौदर्यमलंकारः ।१।१।२॥
(काव्य मे सौन्दर्य का नाम ही अलकार है।)
स दोषगुणालंकारहानादानाभ्याम् ।१।१।३ ॥
(काव्य मे सौन्दर्य की सृष्टि दोषो के त्याग तथा गुणालकारो के नियोजन से सम्पादित होती है।)
काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः । ३।१।१॥
(काव्य मे शोभा के जनक धर्म गुण कहलाते है।)
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः । ३।१।२॥
(उस काव्यशोभा के अतिशयिता धर्म अलकार है।)
पूर्वे नित्याः ।३।१।३ ॥
(गुण और अलकारो मे से गुण नित्य है, और अलकार अनित्य।)
युवतेरिव रूपमङ्गं काव्यं, स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो, वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ॥
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं, नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ॥
(युवती के रूप के समान अलकारविहीन काव्य भी रुचिकर होता है, और सालकार सगुण काव्य युवती के विभूषित रूप के समान अत्यन्त आह्लाददायक होता है। परन्तु युवती के लावण्यशून्य शरीर के समान गुणशून्य काव्य मे उत्कृष्ट आभषण भी भद्दे लगते है।)

रुद्रट

काव्यमलंकर्त्तुमलं कर्त्तुरुदारा मतिर्भवति । १।३॥
(कवि की उदारमति सालकार काव्य की रचना मे सफल होती है।)
रचयेत् तमेव शब्दं रचनाया य करोति चारुत्वम् ।२।९॥
(उसी शब्द की रचना करे जो काव्य को सुन्दर बनावे।)

आनन्दवर्धन

तस्य पुनरङ्गानि, अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति— १।११ वृत्ति ।।
(अलंकार, गुण तथा वृत्ति उसके अग है ।)
तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।२।६।।
(जो अगी अर्थ के अवलम्ब हे उनको गुण कहते है, और कटक आदि के समान जो अगाश्रित है वे अलकार है ।)
रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग् यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ।२।१६।।
(ध्वनिकार के मत मे वही अलकार है जिसका योग रसाक्षिप्त होने के कारण सफल हो और जिसके लिए कवि को स्वतन्त्र यत्न न करना पडे ।)
यमकादिनिबन्धे तु पृथक् यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ।।२।१६।।
(यमकादि निबन्ध मे शक्त कवि को पृथक् यत्न करना पडता है, इसलिए यमकादि रस के अग नही माने ।)
अलंकारो हि बाह्यालंकारसाम्याद् अंगिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते ।। २।१७।।
(बाह्य अलकार के समान अलकार अगी रस के चारुत्व हेतु है ।)
अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः ।३।३७ वृत्ति ।
(वाणी की अनन्त शैलिया है, और उतने ही अलकार के प्रकार है ।)

अग्निपुराणकार

अलंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।
(अलकारहीना सरस्वती विधवा के समान मन को उल्लसित नही करती ।)

कुन्तक

सालंकारस्य काव्यता । १।६।।
(सालकार शब्दार्थ काव्य है ।)
अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः ।
अलंकार्यतयातेषां किमन्यद् अवतिष्ठते । १।११।।
(जिन आचार्यो के मत मे स्वाभावोक्ति भी अलकार है उनके मत मे फिर अलकार्य क्या रह गया ?)
अपहृत्यान्यालंकारलावण्यातिशयश्रियः ।
उत्प्रेक्षा प्रथमोल्लेखजीवितत्वेन जृम्भते ।।
(अन्य अलकारो की विशेष श्री का अपहरण करने वाली उत्प्रेक्षा सर्वप्रथम उल्लेख-योग्य होकर विद्यमान है ।)

भोजराज

अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम् ।
गुणयोगस्तयो र्मुख्यो गुणालंकारयोगयोः ॥ १।५९॥
(अलंकृत होने पर भी गुणवर्जित काव्य सुनने मे अच्छा नही लगता , गुण और अलकार के योगो मे गुणयोग मुख्य है ।)
यथा ज्योत्स्ना चन्द्रमसं, यथा लावण्यमङ्गनाम् ।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलंकर्तुमयं क्षमः ।२।७६॥
(जिस प्रकार ज्योत्स्ना चन्द्र को तथा लावण्य सुन्दरी को अभिभूषित करते है उसी प्रकार अनुप्रास काव्य की शोभा मे समर्थ है ।)
उपमादिवियुक्तापि राजते काव्यपद्धतिः ।
यद्यनुप्रासलेशोऽपि हन्त तत्र निवेश्यते ।२।१०६॥
(यदि अनुप्रास-योग हो तो उपमादि मे रहित काव्यपद्धति भी सुशोभित होती है ।)

क्षेमेन्द्र

उचितस्थानविन्यासाद् अलंकृतिरलंकृतिः ।६।
(उचित स्थान पर धारण करके ही अलकार शोभाकारक है ।)
अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते ।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा ॥१५॥
(जिस प्रकार पीनस्तनो पर स्थित हार से कामिनी सुन्दर लगती है उसी प्रकार अर्थौचित्यमूल अलकार मे सूक्ति मे रमणीयता आती है ।)

मम्मट

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्तु स्युरचलस्थितयो गुणाः ।८।६६ ॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवद् अलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।८।६७॥
(काव्य मे रस अगी है, उसके उत्कर्षक नित्य धर्म 'गुण' है, ये रस के वैसे ही धर्म है जैसे मनुष्य के धर्म शूरता आदि , अलकार हार आदि आभूषणो के समान है, ये कदाचित् रस का उपकार करते है, सर्वदा नही, जहा रस नही है वहा भी अलंकार रह सकता है ।)

रुय्यक

उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा ।
(उपमा ही अनेक प्रकार की विचित्रता से अनेक अलंकारो का बीज है, इसलिए इसका सर्वप्रथम निर्देश है ।)

जयदेव

अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥१।८ ॥
(जो अलकार-शून्य शब्दार्थ मे काव्यत्व स्वीकार करता है, वह कृती अग्नि मे ठडक को क्यो नही मानता ।)
हारादिवद् अलंकारः सन्निवेशो मनोहरः ।५।१॥
(हारादि के समान अलकार का योग मनोहर होता है ।)

विद्याधर

प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न दृश्यते ।
दुष्करत्वादसाधुत्वम् एकमेवात्र दूषणम् । ७।५॥
(प्राय यमक और चित्र मे रसपुष्टि नही होती, दुष्कर होने के कारण ये असाधु है, इनमे यही एक दोष है ।)

विश्वनाथ

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकाररीतयः ।१।१॥
(गुण, अलकार और रीति काव्य मे रस के उत्कर्षक है ।)
शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्ते ऽङ्गदादिवित् ॥ १०।१ ॥
(अङ्गद आदि के समान शोभा के अतिशयिता और रसादि के उपकारक शब्दार्थ के अस्थिर धर्मो को अलकार कहते है ।)
रसस्य परिपन्थित्वात् नालङ्कारः प्रहेलिका ।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा ---- १०।१७॥
(रस मे बाधक होने के कारण प्रहेलिका अलकार नही है, यह तो उक्तिवैचित्र्य मात्र ही है ।)

कुछ हिन्दी-आचार्यों के अलंकार-विषयक विचार

केशवदास

(१) नग्न जु भूषण हीन । ३।८ ॥

(२) जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
भूषण विनु न विराजई, कविता वनिता मित्त ॥५।१॥

(३) काहे को सिंगार कं बिगारति हैं मेरी आली,
तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगारे हैं । ९।१२॥

(४) कविन कहे कवितान के, अलंकार द्वै रूप ।
एक कहैं साधारणैं, एक विशिष्ट सरूप ॥ ५।२॥

जसवतसिंह

अलंकार सब्दार्थ के, कहे एक सौ आठ ।२०८॥

कुलपति मिश्र

(१) जमक, चित्र, अरु श्लेष में, रस को नाहि हुलास ॥४४॥

(२) उक्ति-भेद ते होत है, अलंकार, यह जानि ॥

(३) सो उपमा सिर मौर ॥

देवकवि

(१) अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहैं,
येई पुराननि मुनि मतनि मैं पाइये ।
आधुनिक कविन के संमत अनेक और
इनहीं के भेद और विविध बताइये ॥ (भाव विलास)

(२) सुसमासोक्ति सो जानिये, अलंकार सिरमौर ॥

(३) सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार ॥ (काव्य रसायन)

(४) कविता कामिनि सुखद प्रद, सुबरन, सरस, सुजाति ।
अलंकार पहिरे, अधिक अद्‌भुत रूप लखाति ॥ (वही)

(५) अनुप्रास रसपूर ॥

(६) अलंकार में मुख्य है, उपमा और सुभाव ॥

(७) सकल अलंकारनि विषै, उपमा अंग लखाहि ॥

(८) मुख्य गौन विधि भेद करि, हैं अर्थालंकार ।
मुख्य कहौ चालीस विधि, गौन सुतीस प्रकार ॥
मुख्य गौन के भेद मिलि, मिश्रित होत अनन्त ।
गुप्त प्रकट सब काव्य में, समुझत हैं मति-मन्त ॥

दूलह

चरन, बरन, लच्छन ललित रचि रीझै करतार ।
बिन भूषण नहि भूषई, कविना-वनिता चार ।।

दासकवि

(१) रस कविता कौ अंग, भूषण हे भूषन सकल ।
गुन सरूप औ रंग, दूषण करै कुरूपता ।।
(२) कहूं वचन, कहूं व्यंग्य में परै अलंकृत आइ ।।
(३) भूषण छियासी अर्थ के . . . ।।
(४) लक्षण नाम प्रकास है, सुमिरन, भ्रम, सदेह ।।
(५) रस के भूषित करन ते, गुण बरने सुखदानि ।
गुण-भूषण अनुमानि कै अनुप्रास उर आनि ।।
(६) जदपि अर्थ, भूषन सकल, शब्द शक्ति ते होइ ।।
(७) अनुप्रास, उपमादि जे, शब्दार्थालंकार ।
ऊपर ते भूषित करै, जैसे तन को हार ।।
अलंकार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृत छंडि ।
सुकवि-वचन रचनान सौं, देत दुहुंन कौ मंडि ।।

पद्माकर

सगुन, सभूषन, सुभ, सरस, सुपद, सुचरन, सराग ।
इमि कविता अरु कामिनी, लहै जु सो बड़भाग ।।

लछिराम

भूषनवत् पद-अर्थ में अलंकार अनुमान ।।

मुरारिदान

(१) समस्त अलंकारों के नाम ही लक्षण सिद्ध हो गये ।।
(२) . . . नाम ही से अलंकारों का स्वरूप स्पष्ट हो जाने से उनका दूसरा लक्षण कहने की आवश्यकता नहीं ।।
(३) वेद व्यास भगवान् ने, परतछ कह्यौ पुकार ।
कवि-वानी भूषण विना, जैसी विधवा नार ।।
(४) नामार्थों से ही अलंकारों का साक्षात् स्वरूप सुगमता से समझा जाता है ।

जगन्नाथ प्रसाद भानु

(१) जो काव्य की शोभा को बढ़ावे, वही अलंकार है ।
(२) अलंकार काव्य का हृदय स्वरूप है, क्योंकि उसका आभास हृदय मे ही होता है ।

(३) व्यंग्य रु रस तें भिन्न जो, हृदय रूप सरसाहि।
चमत्कार, भूषण सरिस, सोई भूषण आंहि॥
(४) जहां चमत्कार नहीं, वहां कोई अलंकार नहीं।
(५) अलंकारहीन काव्य नग्न कहलाता है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

(१) कविता करने में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिये। (कवि-कर्त्तव्य)
(२) अच्छे काव्य लिखने का प्रयत्न करना चाहिए। अलंकार, रस और नायिका-भेद निरूपण बहुत हो चुका। (वही)
(३) ये पुराने भूषण भाषण के भिन्न भिन्न ढंग हैं। क्या इनके सिवा बोलने और लिखने में सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य ढंग हो ही नहीं सकता? (केडिया जी के लिए लिखे गये एक पत्र से)

रामचन्द्र शुक्ल

(१) मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली मात्र मानता हूं; जिसके अन्तर्गत करके चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नही। (काव्य मे प्राकृतिक दृश्य)
(२) अलंकार है क्या? वर्णन करने की अनेक प्रकार की चमत्कारपूर्ण शैलियां, जिन्हे काव्यों से चुनकर प्राचीन आचार्यों ने नाम रखे और लक्षण बनाये। ये शैलियां न जाने कितनी हो सकती है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जितने अलंकारों के नाम ग्रंथों मे मिलते है उतने ही अलंकार हो सकते है। ('जायसी ग्रथावली' की भूमिका)
(३) रीति ग्रंथों की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों मे से कुछ तो 'उद्दीपन' मे डाल दिये गये और कुछ 'भाव-क्षेत्र' से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के हाते में हांक दिये गये। इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार हो गया।... पर मै इन्हे प्रस्तुत विषय मानता हूं... प्रस्तुत वर्ण्य विषय अलंकार नहीं कहा जा सकता।... सारांश यह कि 'स्वभावोक्ति' अलंकार नहीं है और इसी से उसका ठीक ठीक लक्षण भी स्थिर नहीं हो सका है। (काव्य मे प्राकृतिक दृश्य)।
(४) प्रस्तुत के मेल मे जो अप्रस्तुत रखा जावे--चाहे वह वस्तु, गुण, या क्रिया हो अथवा व्यापार समष्टि--वह प्राकृतिक और चित्ताकर्षक हो तथा उसी प्रकार का भाव जगाने वाला हो जिस प्रकार का प्रस्तुत। ('भ्रमर-गीत-सार' की भूमिका)

(५) काव्य में ऐसे ही उपमान अच्छी सहायता पहुंचाते हैं जो सामान्यतः प्रत्यक्ष रूप में परिचित होते हैं और जिनकी भव्यता, विशालता या रमणीयता आदि का संस्कार जन-साधारण के हृदय पर पहले से जमा चला आता है। (वही)

(६) पर मुबालगा जहां हद से ज्यादा बढ़ा कि मजाक हुआ।
(काव्य मे प्राकृतिक दृश्य)

(७) वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली बहुत दिनों से एक दूसरे से अलग कर दी गई है।...पर प्राचीन अव्यवस्था के स्मारक-स्वरूप कुछ अलंकार ऐसे चले आ रहे हैं जो वर्ण्य-वस्तु का निर्देश करते हैं और अलंकार नहीं कहे जा सकते––जैसे स्वभावोक्ति, उदात्त, अत्युक्ति। (कविता क्या है।)

गुलाबराय

(१) जब तक अलंकार भीतरी उत्साह के द्योतक होते हैं तब तक तो वे शोभा के उत्पन्न करने वाले या बढ़ाने वाले कहे जा सकते हैं किंतु जब वे रूढ़ि या परम्परा मात्र रह जाते हैं तभी वे भार-रूप दिखाई देने लगते हैं।
(सिद्धांत और अध्ययन)

(२) निर्जीव से विधवा होकर भी जीवित रहना श्रेयस्कर है। (वही)

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

१ ऋग्वेद
२ **निरुक्त** (निर्णय सागर प्रेस, १९३०)
३ **दि निरुक्त** डा लक्ष्मणसरूप, (पजाब विश्वविद्यालय, १९२७)
४ **नाट्यशास्त्रम्** (निर्णय सागर प्रेस, १९४३)
५ **काव्यालंकार** (भामह)—(चौखम्बा सस्कृत सीरीज, १९८५)
६ **काव्यादर्श** (भाण्डारकर प्राच्य विद्या मन्दिर, १९३८ ई)
७ **काव्यालंकार-सार-संग्रह** (स नारायणदास बनहट्टी, १९२५)
८ **काव्यालंकार सूत्रवृत्ति** (आरिएटल बुक एजेन्सी पूना, १९२७)
९ **काव्यालंकार** (रुद्रट) (निर्णय सागर प्रेस, १९०९)
१०. **ध्वन्यालोक** (कुप्पुस्वामीशास्त्रि-रिसर्च-इन्स्टीट्यूट, मद्रास, १९४४)
११ **वक्रोक्तिजीवितम** (स डा सुशील कुमार दे) (१८२८, द्वितीय आवृत्ति)
१२ **व्यक्तिविवेक** (हरिदास-सस्कृत आग्रन्थमाला बनारस, १९९३)
१३ **सरस्वती-कंठाभरण** (निर्णय सागर प्रेस, द्वितीया आवृत्ति, १९३४)
१४ **औचित्यविचारचर्चा** (हरिदास सस्कृत सीरीज, १९५३)
१५ **कविकण्ठाभरण** (हरिदास सस्कृत सीरीज, १९५३)
१६ **काव्य प्रकाश** (चौखम्बा-सस्कृत-पुस्तकालय, १९५१)
१७ **अलंकार-सर्वस्व** (शारदा-भवन काशी, १९८३)
१८ **वाग्भटालंकार** (श्री वेकटेश्वर प्रेस)
१९ **काव्यानुशासनम्** (वाग्भट)—(निर्णय सागर प्रेस, १९१५)
२० **काव्यानुशासनम्** (हेमचन्द्र)—(निर्णय सागर प्रेस, १९३४)
२१ **चन्द्रालोक** (चौखम्बा-सस्कृत-सीरीज, १९४५)
२२ **एकावली** (गवर्नमेंट सेंट्रल बुक डिपो, १९०३)
२३ **साहित्यदर्पण** (मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९३८)
२४ **अलंकारशेखर** (चौखम्बा-सस्कृत-सीरीज, १९८४)
२५ **कुवलयानन्द** (निर्णय-सागर प्रेस, १९४७)
२६ **रसगंगाधर** (निर्णय-सागर प्रेस, १९३९)
२७ **काव्यमीमांसा** (बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, १९५४)
२८ **साहित्य-सार** (ट्रिवेन्ड्रम यूनिवर्सिटी, १९४७)

हिन्दी-ग्रंथ

१ **प्रिया-प्रकाश** (स लाला भगवानदीन) (१९८२ वि)
२ **भाषा-भूषण** (जसवतसिंह) (हिन्दी-साहित्य-कुटीर बनारस, २००६ वि)
३ **मतिराम-ग्रंथावली** (गगा-पुस्तकालय लखनऊ, १९८३)
४ **रस-रहस्य** (इडियन प्रेस लि प्रयाग, १९५४)
५ **भूषण-ग्रन्थावली** (काशी नागरी-प्रचारिणी सभा)
६ **भाव-विलास** (तरुण भारत ग्रन्थावली कार्यालय, प्रयाग, १९९१)
७ **शब्द-रसायन** (हि सा सम्मेलन प्रयाग, २००२)
८ **भाषाभूषण** (श्रीधर कवि) (हस्तलिखित, नागरी-प्रचारिणी सभा पुस्तकालय)
९ **अलंकार-चन्द्रोदय** (हस्तलिखित, याज्ञिक सग्रहालय)
१० **रसिकमोहन** (नवलकिशोर प्रेस, सन् १८९०)
११ **कर्णाभरण** (गोविद कवि) (भारत जीवन प्रेस काशी, १९८४)
१२ **कवि-कुल-कंठाभरण** (दुलारेलाल भार्गव, लखनऊ, १९९२)
१३ **काव्य-निर्णय** (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९३७)
१४ **तुलसी-भूषण** (हस्तलिखित, ना प्र सभा पुस्तकालय)
१५ **अलंकार-मणि-मंजरी** (आर्ययन्त्र, वाराणसी, १९३९)
१६ **अलंकार-दर्पण** (भारत जीवन प्रेस, १९५६)
१७ **रघुनाथ-अलंकार** (हस्तलिखित, याज्ञिक सग्रहालय)
१८ **पद्माकर-पंचामृत** (रामरत्न-पुस्तक-भवन काशी, १९९२)
१९ **दीप प्रकाश** (भारत जीवन प्रेस, १९४६)
२० **चित्र चन्द्रिका** (आर्यभाषा पुस्तकालय, ना. प्र. सभा)
२१ **भारतीभूषण** (गिरिधरदास) (चौखम्भा पुस्तकालय, बनारस)
२२ **गंगाभरण** (नन्द किशोर मिश्र, गन्धौली, सीतापुर, १९३५)
२३. **रामचन्द्रभूषण** (वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९६०)
२४. **वनिताभूषण** (जगत-प्रकाश यन्त्रालय, फतहगढ)
२५ **महेश्वर-भूषण** (भारत-जीवन प्रेस, १९५४)
२६ **जसवन्त-जसोभूषण** (मारवाड स्टेट प्रेस, जोधपुर, १९५४)
२७. **काव्य-प्रभाकर** (लक्ष्मी-वेकटेश्वर छापाखाना कल्याण, जि टाणा, १९६६)
२८. **अलंकार-मंजूषा** (रामनारायणलाल, इलाहाबाद, २००४)
२९. **भारतीभूषण** (केडिया) (भारती भूषण कार्यालय, काशी, १९८७)
३० **साहित्य सागर** (२ भाग) (गगा ग्रन्थागार, लखनऊ, १९९४)
३१ **अलंकार-मंजरी** (मथुरा, २००२)
३२. **काव्य-दर्पण** (ग्रन्थागार-कार्यालय, पटना, १९५१)
३३ **काव्य-कल्पद्रुम** (मथुरा, १९९८)
३४ **रीति-काव्य की भूमिका** (गौतम बुक डिपो दिल्ली, १९४९)

३५ **भारतीय साहित्यशास्त्र** (दो खण्ड) (प्रसाद-परिषद् काशी)
३६. **हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास** (लखनऊ विश्वविद्यालय, २००५)
३७ **मिश्रबन्धु-विनोद** (गगा-पुस्तकमाला, लखनऊ, १९८४)
३८ **देव और उनकी कविता** (गौतम बुक डिपो दिल्ली, १९४९)
३९ **हिन्दी-साहित्य का इतिहास** (ना प्र सभा, २००३)
४० **अलंकार-पीयूष** (रामनारायणलाल, प्रयाग, १९२९)
४१ **संस्कृत साहित्य का इतिहास** (२ भाग) (१९३८, पोद्दार)
४२ **सिद्धान्त और अध्ययन** (प्रतिभा-प्रकाशन मदिर, दिल्ली, २००६)
४३ **चिन्तामणि** (प्रथम भाग) (इडियन प्रेस प्रयाग, १९४८)
४४ **भ्रमर-गीत-सार** (साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, २००४)
४५ **जायसी-ग्रंथावली** (काशी ना प्र सभा, २००३)
४६ **कविरहस्य** (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५०)

अंग्रेजी-ग्रंथ

१. **हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स,** (प्रथम भाग) (ल्यूजक एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९२३)
२ **सम एसपेक्टस आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत** (दि यूनीवर्सिटी ऑफ मद्रास, १९२०)
३ **एन्ट्रोडक्शन टु साहित्यदर्पण,** (१९२३, पी वी काण)
४ **स्ट्डीज औन सम कन्सैप्सट्स ऑफ दि अलंकारशास्त्र** (दि अड्यार लाइब्रेरी, अड्यार १९४२)
५ **ए हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर** (भाग एक) (दासगुप्त तथा दे)
६. **पोइटिक्स** (एवरीमेन्स लाइब्रेरी, १९४३)
७. **हाइवेज एण्ड बाइवेज ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन सस्कृत** (दि कुप्पुस्वामी-शास्त्री रिसर्च इस्टीट्यूट, मद्रास, १९४५)
८. **कन्सेप्टस ऑफ रीति एण्ड गुण इन संस्कृत पोइटिक्स** (ढाका विश्वविद्यालय १९३७)
९. **ए हिस्ट्री ऑफ पाली लिटरेचर** (ट्रबनर एण्ड कम्पनी लि लन्दन, १९३३)
१०. **रिमार्क्स औन सिमिलीज इन संस्कृत लिटरेचर** (ई जे. ब्रिल, लीडेन, हौलैड, १९४९)
११. **भोज्स शृंगार-प्रकाश** (कर्नाटक पबलिशिग हाउस, बम्बई)
१२. **काव्यप्रकाश** (दशम उल्लास) (१९४१, कर्नाटक पबलिशिग हाउस, बम्बई)
१३. **काव्यालंकार-सूत्र** (ट्रान्सलेशन) (१९२८, आरिएटल बुक एजेंसी, पूना)
१४. **ड्रामा इन संस्कृत लिट्रेचर** (आर. वी जागीरदार कृत)

१५ **डिक्शनरी आफ वर्ल्ड लिट्रेचर** (फिगर आफ स्पीच)
१६ **तमिल लिट्रेचर** (एम एस पूर्णलिंगम पिल्लाई) (दि विब्लियोथेका, मद्रासपत्तनम, त्रिप्लेकेन, साउथ इंडिया)

अन्य ग्रंथ

१ **प्राचीन बांगला साहित्येर इतिहास** (१९५१, कलकत्ता विश्वविद्यालय)
२ **संस्कृत साहित्येर इतिहास** (प्रथम संस्करण) (दि बुक कम्पनी लिमिटेड, कालेज स्क्वायर, कलकत्ता)
३ **गुजराती साहित्यनी रूप-रेखा** (१९४३, एन एम त्रिपाठी लि. बम्बई)